जीवन के अंचल से

लीलावती मुंशी

अनुवादक
शिवचन्द्र नागर

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली, नई दिल्ली, ; बम्बई

प्रकाशक:
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
बम्बई ७

मूल्य
साढ़े चार रुपए

मुद्रक:
श्री धीरूभाई दलाल
एसोशियेटिड एडवर्टाइजर्स एंड प्रिंटर्स लि.
बम्बई ७

—प्रकाशकीय

इन छोटे-बड़े कथा-रत्नो को लेखिका ने जीवन के अंचल में पड़ा पाया, और बीन कर आपके सामने रख दिया। सभी कहानियों में चित्रित दृश्यपटो को नारी ने अपनी ही आंखों से देखा है; समाज की बलवती-अबला अर्धांगिनी ने अपनी भावनाओ के कोमल-कठोर रंग इन चित्रों मे भर रखे है। इन कहानियो में नारी का अपना चित्र भी है, और नारी द्वारा समाज का अंकित चित्र भी। श्रीमति लीलावती मुंशी द्वारा इस कथा-साहित्य के सृजन से हमारे साहित्य मे एक विशेष दृष्टिकोण के अभाव की पूर्ति होगी, ऐसी आशा है।

—सूची

—— १

जीवन-संध्या

दिन का पिछला पहर झुक रहा था। सूर्य की उग्र किरणों की गरमी नरम पड़ने लगी थी, रास्ता चलनेवालों की छायाएँ लम्बी होती जा रही थीं।

सामने एक पहाड़ धूप में थोड़ा-सा चमक रहा था और थोड़ा-सा बदली की छाया में अन्धकारग्रस्त था। रास्ते के दोनों ओर खेत थे, पर एक में भी अनाज का पौधा न उगा था। सामने रास्ते पर थोड़े-थोड़े अन्तर पर वृक्ष आते थे; पर मुसाफिर की थकान उनसे पूरी तरह उतरती न थी।

इसी मार्ग से वृद्ध, थके हुए कृष्ण आगे-आगे चले जा रहे थे। गन्तव्य स्थान का उन्होंने निश्चय नहीं किया था। जहां पृथ्वी रहने की जगह दे दे और जहां उनको कोई पहचानता न हो, दुनिया के किसी ऐसे कोने को वे खोज रहे थे।

इनके पैर थक गए थे। इनका वृद्ध शरीर झुकने लगा था। इनकी आंखें तेज-विहीन हो गई थीं। वस्त्र मैले और अस्त-व्यस्त थे।

यादवों के युद्ध के उपरान्त, समस्त स्वजनों के संहार के बाद कृष्ण अपने लिए दुनिया का एक कोना खोजने निकले थे। अब तक भारत में इन्हें एक भी कोना ऐसा न दिखाई दिया था, जहां इन्हें कोई पहचानता न हो। इनके पूर्व पराक्रमों को सारी दुनिया जानती थी। कोई ऐसा मनुष्य न था, जो इन्हें देखकर कांप न जाता हो। कोई ऐसा मनुष्य न था, जो इन्हें देखकर भाग जाने के लिए तत्पर न हो जाता हो।

कोई इनको देखता कि तुरन्त पूतना-वध से लगाकर अनेक अमानुषी-दैवी चालें उसकी आंखों के सामने आ जातीं और उनमें से किसी में कहीं वह न फँस जाए, इस डर से दूर भागता। कोई इनके जरासंध, भीष्म, शिशुपाल और दूसरे अनेक वधों में दैत्य-छल और क्रूरता के दर्शन करता और इनके मार्ग से दूर रहने में सावधानी रखता। सुन्दर स्त्रियों या बालिकाओं के पतियों और पिताओं को इन्हें देखते ही इनका स्त्री-पराक्रम याद आ जाता, और इस भय से कि कहीं इनकी बालिकाओं अथवा स्त्रियों को भी ये पागल न कर डालें, जहां से ये निकलते, वहां के लोग अपनी स्त्रियों को घर के सबसे भीतरी भाग में, जहां इनके मोहक नेत्र न पड़ सकें, छिपा कर रखते। पंडित वाद-विवाद में परास्त होने के भय से भागते। राजा राज्य चले जाने के भय से भागते। साधारण जन-समाज कुछ समझ में न आनेवाले भय के कारण दूर रहता। छोटे बालक भी इस विचित्र वृद्ध पुरुष की आंखें तथा दृष्टि देखकर दूर से ही भाग जाना पसन्द करते।

हारे-थके दैवी श्रीकृष्ण आगे-आगे अपना रास्ता नापे जा रहे थे। महाभारत के युद्ध को जीतनेवाले, अर्जुन के सखा और सारथी, कंस का संहार करनेवाले, कालिया मर्दन करनेवाले, अनेक दैत्यों के काल तथा अनेक ऋषि-मुनियों की आराधना के पात्र, गोपियों के प्रिय श्रीकृष्ण आज असहाय दशा में विश्राम-स्थान की खोज में इधर-उधर मारे-मारे फिर रहे थे।

इनका कोई मित्र नहीं बचा था। इनका कोई स्वजन नहीं बचा था। महाभारत आदि अनेक छोटे-बड़े युद्धों में तथा अन्त में यादवस्थली में सब समाप्त हो गए थे। रह गए केवल वे अकेले भक्त-विहीन, मित्र-विहीन, सोलह हजार और आठ पत्नियों से विहीन। जिनके एक-एक बोल पर कभी मानवों और देवों का समस्त विश्व न्योछावर रहता था, आज उनमें से एक भी उनका साथ देनेवाला नहीं था।

तेज धूप में चलते-चलते गरमी और भूख से कृष्ण के प्राण आकुल हो रहे थे। सामने एक झोंपड़ी में एक ग्वालिन गाय दुह रही थी। सारे जीवन में स्त्रियों ने कृष्ण का आदर-सत्कार सबसे अधिक किया था। कृष्ण

ने उसी आशा में झोंपड़ी की ओर पैर बढ़ाए।

कृष्ण को आते हुए देखकर ग्वालिन चौंक कर खड़ी हो गई। कृष्ण इस प्रदेश में भ्रमण कर रहे हैं, यह बात तो कब की उसके कानों में पहुँच गई थी। इस वृद्ध, मैले, थके-हारे मनुष्य के हास में से गोकुल की गोपियों को जीतने वाली शक्ति जा चुकी थी। इन्होंने संकोच भरे स्वर में पूछा—"ग्वालिन, दही दोगी?"

ग्वालिन की 'ना' कहने की हिम्मत नहीं हुई। पत्तों पर थर-थर कांपता हुआ ताजे दूध का घड़ा उसने उठाया; पर वह हाथ से छूटकर गिर पड़ा। ग्वालिन बिना कुछ कहे-सुने घर में से दही की दूसरी मटकी ले आई और वह कृष्ण की अंजलि में उँड़ेलने लगी। बहुत दिनों के भूखे कृष्ण ने एक ही बार में अंजलि से मुंह लगाकर सारी मटकी पी डाली। इनके निष्क्रिय होते हुए शरीर में शक्ति का संचार होने लगा। कृतज्ञता की एक गंभीर दृष्टि इन्होंने ग्वालिन पर डाली। ग्वालिन की आंखों में अब भी भय के चिह्न थे।

कृष्ण को जीवन में पहली बार अपने आप पर तिरस्कार का अनुभव हुआ। इसलिए नहीं कि किसी नारी की मित्रता के योग्य वह नहीं रह गए थे, बल्कि इसलिए कि कोई भी नारी अब अपने को उनकी मित्रता के योग्य नहीं समझती थी। सब इनको देखकर डरतीं और भाग जाती थीं। हजारों स्त्री-पुरुषों के साथ रहनेवाले श्रीकृष्ण ऐसा भयंकर एकांत किस प्रकार सहन कर सकते? मानव के उद्धार के लिए इन्होंने अवतार लिया, मानवता की सेवा में अपनी शक्तियां समर्पित कीं तथा जीवन भर मानवता की रक्षा के लिए युद्ध लड़े। और, आज इस सवा सौ वर्ष की वृद्धावस्था में एक झोंपड़ी भी इन्हें आश्रय देने के लिए न थी! एक भी आदमी इनके साथ बात करने के लिए न था! "हे परमात्मा! इस जीवन की तुम्हीं अंतिम शरण हो।" कृष्ण ने विदीर्ण अन्तर से प्रार्थना की।

संध्या की छाया प्रतिपल लम्बी होती जा रही थी। ग्वालिन का मौन आभार मानकर श्रीकृष्ण ने जंगल की राह ली। इन्हें पूर्व जन्म की स्मृतियां

एक के बाद एक सताने लगीं। दुनिया की दृष्टि में इन्होंने सबसे विजयी जीवन व्यतीत किया था। राज्य खोये और लिये तथा दान किये। शत्रुओं का संहार किया, मित्रों का उद्धार किया और मूर्खता के पाश से उन्हें मुक्त किया। प्रेम लिया और दिया। चक्रवर्ती की संपत्ति प्राप्त की और खोई। जीवन में इससे अधिक और क्या हो सकता है ?

परन्तु आज इन सौ वर्षों की गणना में इन्होंने कितने पल शान्ति या सुख में बिताये थे ? इनकी दैवी या दानवी शक्तियों की धाक में शत्रु या मित्र ने कभी इन पर पूरा-पूरा विश्वस किया था ? मित्र कहे जानेवाले मित्र, इनके जैसे शक्तिशाली पुरुष की शक्ति या रक्षा किसी दिन काम आएगी, यह सोचकर इनकी मित्रता खोजते। मनुष्य हमेशा इनकी शरण चाहते और अपना काम निकालते। शत्रु जहां तक होता, इन्हें छेड़ते न थे। इनके अंतःपुर में रहनेवाली सोलह हजार सुन्दरियां तथा उनके हजारों पुत्र भी इनके साथ बिलकुल निर्भयता या विश्वासपूर्वक व्यवहार नहीं कर सकते थे। सब इन्हें कपटी और क्रूर समझते। भक्तों को भी, जरूरत पड़े तो खुशामद की बातें कर याचना करने के अतिरिक्त दूसरा कुछ काम कृष्ण का न था। ये एक महान् अन्यायी थे। इनकी इच्छानुसार सबको चलना पड़ता। इनके विरुद्ध हो जाने पर किस क्षण ये क्या कर डालेंगे, इस विषय में इनके मित्र भी कुछ नहीं सोच सकते थे।

पर क्या वास्तव में इनका कोई मित्र था ? इतने वर्षों बाद श्रीकृष्ण को शंका होने लगी। यदि केवल वे एक साधारण मानव जैसे होते और लोगों ने उनमें दैवी अथवा दानवी अंश की कल्पना न की होती, तो...तो... ? इतने सारे कहे जाने वाले मित्रों की अपेक्षा चाहे थोड़े ही मित्र मिलते, पर जीवन की संध्या में इस प्रकार असहाय और अकेले तो न फिरना पड़ता। कोई स्नेहमयी आत्मा इनकी थकान दूर करने के लिए तथा दुःख भुलाने के लिए उपस्थित तो हो जाती।

कृष्ण बहुत थके हुए थे और एक कदम भी इनसे आगे न बढ़ा जा रहा था। मार्ग के पार्श्व में एक वृक्ष के नीचे जाकर ये जमीन पर बैठ गये।

विचारों के भँवर-जाल से इनका मस्तिष्क चकरा रहा था । चलते-चलते इनका अंग-प्रत्यंग दुखने लगा था । स्वर्ण के सिंहासन को सुशोभित करने वाले मुरारि ने जमीन पर पैर फैला दिये और हाथ का उपधान बनाकर, धोती का छोर ओढ़कर आंखें बंद करलीं । परन्तु समस्त विश्व को हिला देनेवाला इस दशा में स्वस्थता से कैसे सो सकता ?

आंखें मीचीं और इनको शंका होने लगी—उन्होंने पृथ्वी का भार उतारने के लिए जन्म लिया था, पर क्या उन के समस्त जीवन में पृथ्वी को बड़ी-से-बड़ी पीड़ा नहीं हुई थी ?

गोकुल से ही इसका आरंभ हुआ था । कृष्ण की शक्ति पर आश्रित रहने वाले ग्वालों ने आस-पास के गांवों में अपने तूफानों से कितना त्रास मचाया ? एक द्रौपदी के कारण पांडव-जैसे मूर्खों को राज्य दिलाने के लिए इन्होंने महाभारत के युद्ध में करोड़ों का संहार कराया और उसमें भी अपने मित्रों तथा गुरुओं को मारते समय पीछे मुड़कर नहीं देखा । और अंतिम यादवस्थली ? इनकी शक्ति के बल पर शक्तिशाली बने हुए यादव इतने बढ़कर चले कि इन्हें न्याय-अन्याय तक का भय न रहा; न इन्हें नीति-अनीति की चिन्ता रही; रात-दिन मदिरा में मस्त रहते । ये गर्वीले यादव ? और उनमें बलराम और सांब, प्रद्युम्न और प्रिय अनिरुद्ध सबकी याद कर कृष्ण-जैसे जगत्-पुरुष की आंखें भी गीली हुए बिना न रहीं ।

"परमेश्वर ! जिस तेज के अंश से तूने मेरा निर्माण किया है, वहीं मुझे वापस बुला ले । तूने मुझमें जो विश्वास रखा था, वह निष्फल हो गया । अपने जीवन में मुझे असफलताओं की शृङ्खला के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई देता । जीवन भर मैंने नाश, नाश और नाश के अतिरिक्त कुछ नहीं किया । मेरे चाहने वालों ने भी कभी मुझमें विश्वास नहीं किया । पर आज तो वह सब वैभव और भव्यता जाती रही । जीवन की क्रीड़ाएं भी समाप्त हो गईं । अब तो अशक्त और एकाकी, जर्जरित तथा निर्बल तेरा शिशु तुझे पुकार रहा है । दीनानाथ ! अब यह जीवनलीला समेट लो !"

क्या वास्तव में विश्व-पालक ने कृष्ण की प्रार्थना सुनी ? चादर छोटी

होने के कारण कृष्ण का पैर चादर के बाहर खुला रह गया था। इस पाद-पृष्ठ पर लाल पद्म का चिह्न संध्या के धूमिल प्रकाश में दूर से चमक रहा था। इसलिए दूर से यह पैर एक छोटे पक्षी जैसा लगता था। एक वधिक ने दूर से देखा और तीर छोड़ दिया। एक क्षण में ही कृष्ण का पैर घायल हो गया और इन्होंने कहा—"हे परमपिता परमात्मा! तूने मेरी विनती सुन ली!"

वधिक पास आया और भूल समझकर पश्चात्ताप करने लगा; पर इससे पहले ही इस जगत्-पुरुष के प्राण जगत् के सनातन तत्त्वों में जा मिले थे।

मृत्यु? जगत् का यह महापुरुष इस प्रकार वीरान जंगल में एक बहेलिये के हाथ से मरा? पर जिस प्रकार कथा प्रचलित है, यह घटना ठीक उसी प्रकार घटी थी।

पैसा है ?

प्रांत की सीमा पर खेडब्रह्मा नाम का एक गॉव है। वहाँ हाथमती नदी का जल बड़े वेग से बहता है। गॉव मे ब्रह्मा की चतुर्भुज मूर्ति है। उसके दर्शन के लिए अनेक व्यक्ति आते है। गॉव से एक-दो कोस की दूरी पर सरस्वती माँ का मंदिर है। उस गॉव मे आने वाले व्यक्ति उनके दर्शन से भी वंचित नही रहते। उस गॉव मे नदी से थोड़ी ही दूर पर एक धर्म-शाला है। वहाँ गॉवों की यात्रा करने वाले व्यक्ति टिकते है। धर्मशाला मे बड़ी अच्छी व्यवस्था है, और कई परिवारों के रह सकने लायक कमरे हैं। धर्मशाला के महात्माजी यात्रियों के लिए इतनी सुन्दर व्यवस्था कर देते हैं, कि लोगों की प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती।

उस गांव मे तथा उस धर्मशाला मे एक बार हमारा भी उतरना हुआ। रात मे भोजन के उपरान्त हम सब बैठे गप लड़ा रहे थे। महता जी भी आ बैठे। बोले—"सेठ साहब और बहिन जी, आपको कोई तकलीफ़ तो नही हुई?"

हम सब ने महता जी की व्यवस्था तथा प्रबंध-कुशलता की प्रशंसा की। जाड़े का मौसम होने के कारण, स्फूर्ति लाने के लिए चाय पी जा रही थी। सो हम ने महता जी से भी चाय लेने का आग्रह किया। बातों के सिलसिले मे उन्होंने वहाँ रहने वाले एक साधु की बात छेड़ दी। उनके शब्दों से तो नही, पर उनके शब्दों ने जो एक चित्र मेरे मन पर अंकित कर दिया था, उसके अनुसार वह बात आपके सम्मुख उपस्थित करने का

प्रयत्न कर रही हूँ। उसे सुने वर्षों बीत चुके हैं। कदाचित् अब तक उस चित्र के रंग धुंधले हो गए हों। किसी यात्री ने यदि वह कथा थोड़े परिवर्तन के साथ भी सुनी हो, तो मुझे आशा है, कि वह मुझ पर झूठी बातें लिखने का आरोप न लगायेगा।

कुछ वर्ष पहले एक युवक साधु इस नदी के तट पर रहता था। दूसरे साधुओं की भांति वह खुले मे नही पड़ा रहता था, बल्कि एक खेत ले कर उसमे एक छोटी-सी ईंट-गारे की झोपड़ी बना ली थी, और उसीमे रहता था। उसने अपने खेत के आस-पास बाड़ी खड़ी कर ली थी। नदी मे स्नान करने जाने के सिवाय, वह कभी बाहर नहीं निकलता था, और वह भी तारों की छाया में। सो कदाचित् ही किसी की दृष्टि कभी उस पर पड़ती हो।

वह न तो किसी से बात करता था, और न किसी से कुछ माँगता था। लोग यदि उसके लिए कुछ भेंट लाते, तो उसके आँगन मे ही रख जाते। उसके इस प्रकार के रहन-सहन से लोगों में धीरे-धीरे यह दृढ़ विश्वास फैल गया कि उसके पास कोई न-कोई चमत्कार अवश्य है। उसकी ख्याति सारे गाँव मे थी। प्रसन्न हो जाने पर वह मनचाहा वरदान दे सकता है, लोगों का ऐसा विश्वास था। यात्रियो के कान मे सब से पहले उसी की बात पड़ती थी। कोई भी उसे नहीं पहचानता था, फिर भी सब उसे पहचानने का दावा करते थे।

पता नहीं क्यो, पर प्रत्येक नये श्रोता से सब से अंत मे एक बात अवश्य कही जाती थी। उसके रंग-रूप, रहन-सहन, बल तथा प्रताप की बात सुनाने के उपरात वक्ता धीरे से कहता था—"तुम्हे पता है कि यह संन्यासी क्यों हुआ? यह एक सब से सुन्दर स्त्री को चाहता था। पर उसका विवाह किसी दूसरे से हो गया। इसलिए उसके पीछे इसने संन्यास ले लिया। दुनिया का यही कठोर क्रम है। वह तो कहो, कि इसका भाग्य अच्छा था, कि कोई अवधूत गुरु मिल गया। उसने इसे अच्छे रास्ते पर ला दिया।"

यह बात शुरू कहां से हुई थी, यह कोई नहीं जानता था। वह सुन्दरी कौन थी, कहां की रहने वाली थी, गुरु इसे कहा और कैसे मिला, इसका

किसी को कुछ पता नहीं था। और इससे एक प्रकार के रहस्य और कौतूहल का वातावरण उस साधु के चारों ओर पैदा हो गया था। सब उसकी बात धीमी आवाज में करते थे। सब उसकी ओर भय, आश्चर्य और प्रशंसा की दृष्टि से देखते थे। सब को ऐसा विश्वास हो गया था, कि इसके शुभागमन से गाँव मे सुख की बाढ़ आ गई है। गाँव के लोग इसके भरण-पोषण के लिए पैसा एकत्रित करते थे। यात्री उसकी बात सुन कर, उसे अनेक वस्तुएं दे जाते थे। उसके द्वार पर लोग चुपचाप सामान रख आते थे। इस साधु के जीवन के पाँच वर्ष इसी प्रकार बीत गए। इसने खेत के थोड़े से भाग में बाड़ी लगा ली थी, और कुछ पेड उगा लिये थे। इसकी झोपड़ी पेड़ों के कुँज मे से बहुत थोड़ी-सी ही बाहर दिखाई देती थी। इस झोपड़ी को किसी ने अंदर से नहीं देखा था। यदि वह वहाँ न भी होता, तब भी उसके अंदर जाने की किसी की हिम्मत नहीं होती थी।

यह साधु कभी कभी अपने दर्द-भरे गानों से रात्रि की निस्तब्धता में मधुरता उँडेल देता था। दूर से इसकी आवाज मोटी, मीठी और सोच-पूर्ण लगती थी, और उधर से निकलने वाले लोग उन स्वरों से मुग्ध हो कर, स्तब्ध-से खड़े रह जाते थे। कभी-कभी ऐसा भी लगता था, कि जैसे वह कोई बाजा बजा रहा हो। बाजे की झंकार दूर तक फैल जाती थी। जिन्होंने उसे देखा था, वे उसका वर्णन इस प्रकार करते थे—उसका शरीर लम्बा था, और रग गोरा था। उसने दाढ़ी बढ़ा ली थी। उसके काले बालों के बीच उसका मुख खूब गोरा लगता था। वह सिर्फ गले से नीचे पैरों तक लटकती एक झूल पहनता था।

एक दिन उसे सहसा न जाने क्या सूझा, कि वह बाहर खेतों की ओर घूमने निकला। जो व्यक्ति कभी भी बाहर न निकलता हो, वह एकदम इस प्रकार दोपहर के समय बाहर निकल पड़े, यह बिना किसी चमत्कार के संभव नहीं था। चलते-चलते उसने बहुत से खेत पार कर लिये, और बीच-बीच मे ढोर चराने वाले लडकों से भी बातें कीं। बेचारे लड़के

महाराज को बोलते देखकर, घबराकर भाग जाते। अंत में थक कर, जहां हम रहते थे, उसी धर्मशाला के पास के एक खेत में एक पेड़ के तने के सहारे वह बैठ गया। थक जाने के कारण, सहज ही आँखें भी मिच गईं।

जब उसने आँखें खोलीं, तो कुछ नवीन तथा बहुत समय से अपरिचित दृश्य उसे दिखाई दिया। एक सोलह वर्ष की सुन्दर लड़की बेर खाते-खाते उसकी ओर देख रही थी। उसने पल्ले को झोली की तरह बनाकर, उसमें बेर भर कर, उसका छोर ऊपर कंधे पर डाल रखा था। उसकी आँखों में साधारण हिंदू लड़कियों की अपेक्षा अधिक धृष्टता थी। जाड़े के अस्त होते सूर्य की किरणों से उसके गुलाबी गाल और भी गुलाबी हो गए थे। साधु के नेत्र उस पर टिक गए। सब से सुन्दर स्त्री-द्वारा तिरस्कृत हो जाने पर, आज वह पहली बार एक अत्यधिक सुन्दर लड़की को देख रहा था। दोनों रूप अलग-अलग थे, पर दोनों में अलग अलग उत्कृष्टता थी।

दोनों एक-दूसरे को एक टक देखते रहे। लड़की की आँखों में जिज्ञासा थी। साधु की आँखों में, एक अपूर्व वस्तु देखने के कारण, आश्चर्य था। लड़की थोड़ी देर में सहम कर, पीछे लौटने लगी। साधु ने उसे बुलाया—"बहिन, यहाँ आ।"

लड़की सकपका कर, खड़ी हो गई। "तुम कौन हो? वे जो यहां के साधुराज कहलाते हैं, वही हो न?"—उसने डरते-डरते, साहस करके पूछा।

"हाँ, मैं वही हूँ। तू कौन है?"

लड़की जरा आगे आई। पल्ले का छोर कंधे पर होने के कारण, चोली और दामन के किनारों के बीच से उसका जरा-सा पेट श्वेत कमल-दल की भांति दिख रहा था। उसने अपने गोल-गोल हाथों से अपना पल्ला संवारा। "मैं हूँ भुपतराय की लडकी," उसने कहा। कुछ क्षणों बाद फिर बोली—"हम बड़ौदे के हैं।"

साधु को इस लड़की में एक आकर्षण अनुभव हुआ। वह उसके गौरव में डूब कर, 'तू' के बजाय तुम कहने लगा, बात बढ़ाते हुए बोला—"मुझे थोड़े बेर दोगी?"

लड़की ने कंधे पर से छोर उतार कर, आंचल फैला दिया। "जितने चाहो ले लो।" लड़की का भय दूर हो गया था। बचपन में जैसे कभी-कभी कल्पनाशील बच्चो मे सरल वृत्ति उभर आती है, वैसे ही इस समय कुछ कुछ उसमे भी उभर आई थी।

"बेर मीठे है ?" उसने कहा—"मुझे एक अच्छा-सा देखकर दे दो।"

तब लड़की ने एक अच्छा-सा बेर निकाल कर उसे दे दिया। बेर लेते-लेते उसने पूछ ही लिया—"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"माधवी।"

"बड़ा सुन्दर नाम है। यहा यात्रा करने आई हो ?"

"हाँ। मेरे पिताजी को यहा के ब्रह्माजी पर बड़ा विश्वास है। हम यहा प्रतिवर्ष आते हैं।" लड़की को भी साधु मे दिलचस्पी पैदा हो गई थी।

"ब्राह्मण हो ?" साधु ने पूछा।

"नहीं। ब्रह्म-क्षत्रिय।"

साधु का अंतर झनझना उठा। 'अरे, यह तो अपनी ही जात की है।' अचानक उसे अपने नीरस जीवन पर, झुंझलाहट आ गई। वह पूछ बैठा—"शायद तुम्हारा विवाह अभी नहीं हुआ ?"

लड़की जरा शरमाई। बोली—"नही। अभी मै स्कूल मे पढ़ती हूँ।"

"किस क्लास मे पढ़ती हो ?"

"सिक्स्थ में हूँ। हमारे यहा बड़ौदे मे सभी लड़कियां पढ़ती हैं,"—उसने ज़रा गर्व से कहा।

साधु क्षण भर उसकी ओर अनिमेष नेत्रो से देखता रहा। फिर बोला—

"तुमने कभी मधुकांत देसाई का नाम सुना है ?"

· "हाँ, हाँ। वे तो हमारी ही जात के थे। लोग कहते हैं, कि वे बड़े पढ़े-लिखे और पैसे वाले थे। तुम उन्हे कैसे जानते हो ?"—लड़की ने बातो में बड़ा रस लेते हुए, कहा।

"पढा-लिखा और पैसे वाला था या नहीं, यह तो पता नहीं, पर

मधुकात देसाई एक समय मेरा ही नाम था।"—पता नहीं कैसे, उसके मुँह से निकल पड़ा।

लड़की आश्चर्य में डूबी खड़ी थी। अब वह बैठ गई। "तुम मधुकात देसाई ? लोग कहते हैं, कि तुम किसी सुन्दर स्त्री के पीछे साधु हो गये थे। क्या यह सच बात है ?"

"हाँ।"

"क्या वह बहुत सुन्दर थी ? मुझसे भी अधिक ?" लड़की यह पूछ तो बैठी, पर तुरन्त ही लजा गई।

साधु इस रूपगर्विता लड़की के प्रश्न से असमंजस में पड़ गया। फिर विनोद के तौर पर बोला—"पता नहीं क्यों, पर इस समय तो मुझे ऐसा नहीं लगता !"

दोनों थोड़ी देर चुपचाप बैठे रहे।

"तो अब तुम कभी विवाह करोगे ही नहा ?" लड़की ने धृष्टता से पूछा।

"साधु होने के बाद भला कहीं किसी का विवाह होता है ?" साधु ने गंभीरता से उत्तर दिया।

"पर तुम क्या वास्तव में साधु हो ?"

साधु भड़क उठा। "क्या मतलब ?"

"यही कि तुम क्या वास्तव में संसार छोड़कर साधु हुए हो ? साधु कैसे कहलाओगे ?"

"तो क्या कहलाऊँगा ?"

लड़की जरा शर्माई। पर उसकी आँखें हलकी-सी शैतानी से चमक उठीं। बोली—"स्त्री-प्रेमी ! और क्या ?"

साधु को गुस्सा आने के बदले, हँसी आगई। "तो मैं क्या विवाह कर लूँ ?" जैसे उसने उससे सलाह माँगी हो। "पर मुझसे कौन विवाह करेगा ? तू करेगी ?"

लड़की को लगा, कि साधु उसका मजाक उड़ा रहा है। फिर भी उसने गंभीर स्वर में कहा—"मैं तुम से विवाह कर सकती हूँ ? मेरी माँ तो कहती

है, कि वह तो मेरे लिये बहुत सुन्दर और पैसे वाला वर खोजेगी।"

साधु का मुँह उतर गया। "अच्छा।"

उसी बात को आगे बढ़ाते हुए, लड़की बोली"—मेरी माँ और बाबूजी दोनों सुधारवादी विचारों के हैं। इसलिए उन्हें तो जात-पात की कोई परवाह नहीं। मेरी बड़ी बहिन का विवाह भी दूसरी जात मे हुआ है। मेरी बहिन बहुत सुन्दर थी, पर सब कहते हैं, कि मैं उससे भी अधिक सुन्दर हूँ। हम एक बार डाकोर गये थे। वहा बम्बई वाले सर माधवदास के घर वाले भी आये थे। उन्होंने मेरी बहिन को देखा, और वहां उन्होंने उसे अपने लड़के के लिये मांग लिया। मेरी माँ कहती है, कि मेरी बहिन का-सा सुख किसी को प्राप्त नहीं।"

साधु का मुँह उतर गया। "तब क्या तू...पैसे के लिए ही..." उसने जीभ काटली। "तो तुम किसी पैसे वाले से ही विवाह करोगी ?"

"नहीं, केवल पैसे वाले से नहीं। प्रेम भी चाहिये मुझे। पर माँ कहती है, कि भूखे पेट किसी का प्रेम बहुत दिनों तक नहीं टिकता। इसलिए थोड़ा-सा पैसा तो चाहिये ही।"

अँग्रेजी शिक्षा तथा सुधारवादी विचारों वाली माँ ने इस लड़की को धृष्ट बना दिया था। इसलिए जैसे बिलकुल स्वाभाविक रूप से बात कर रही हो, इस प्रकार उसने पश्चिम के एक नवीन सूत्र का उच्चारण किया।

साधु सहम गया, अकुला गया। "पर यदि बिना पैसे के ही मै तुझे सुख दे सकूँ, तू जैसा कहे, वैसा करूँ; तू जैसे रखे, वैसे ही रहूँ; तो ? मैं तुझे पसंद तो हूँ न ?" भावावेश में वह 'तुम' से 'तू' पर उतर आया। उसकी भाषा में बचपन आ गया।

लड़की खिलखिला कर हँस पड़ी। उसे यह सब मजाक लगा। वह खड़ी हो गई। बोली—"हो, पसंद तो हो; पर...अच्छा, अब मैं जा रही हूँ, नहीं तो माँ मेरे प्राण ले लेगी। तुम पिता जी से मिलने आना। आओगे न ? मैं उनसे कहूँगी, कि मधुकांत देसाई मुझे मिले थे।"

"मै ? पर मैं तो कभी बाहर निकलता नही ?"

"तो फिर आज कैसे निकल आये ? एक बार फिर सही। फिर रविवार को तो हम जाने ही वाले हैं। उस धर्मशाला के पास स्टेट का डेरा है। वहीं हम ठहरे है। आना जरूर!" कह कर माधवी माँ के पास दौड़ गई।

संध्या की आभा मे उसकी गुलाबी ओढ़नी का छोर पारदर्शक दिखाई दे रहा था, और उसकी दौड़ती हुई एड़ियो से टकरा-टकरा कर रंग-सा बिखेर रहा था,। जहा तक उसकी आँखें देख सकी, वहां तक साधु माधवी को देखता रहा। उसे अपनी आँखों के सामने एकदम अंधकार-सा फैलता लगा। उसने आँखें मीच लीं। उसकी अन्तर्दृष्टि के आगे उस बालिका का आकार आ खड़ा हुआ। उसके पीछे एक अस्पष्ट-सी सुन्दर आकृति खड़ी थी। वह थोड़ी देर वहां रुकी, फिर अदृश्य हो गई।

जब उसने आँखें खोलीं, तब तक अंधेरा हो गया था। वह धीरे से उठा, और अपनी झोंपड़ी की ओर चल दिया। उसी ध्यान में डूबा हुआ, अपनी झोंपड़ी के कुंजों तक आया। वहां एक मोटर खड़ी देखकर, वह चौंक पड़ा। जिस वस्तु को वह दूर से देख सकता था, वह ध्यान में होने के कारण बिलकुल समीप आने पर ही दिखाई दे सकी। आज का दिन भी कैसा था ? जो कुछ पाँच वर्ष में नही हुआ, वह क्या एक ही दिन में होने को था ? शोफर ने सलाम किया। पर उसकी ओर ध्यान न देकर, वह लताओं को हटाकर, अन्दर चला गया। वह अपनी छोटे चबूतरे की सीढ़ियाँ चढ़ ही रहा था, कि इतने में उद्यान के एक कोने से आवाज आई, "हल्लो मधु! तेरी प्रतीक्षा करते-करते तो मैं थक गया। इतना बड़ा साधु हुआ लोगों से इस तरह प्रतीक्षा कराने के लिये ही क्या ?" कहते-कहते एक व्यक्ति लम्बे-लम्बे कदम रखता हुआ, आगे आ खड़ा हुआ। उसने इस ब्रह्मा के गाव में कभी भी न दिखाई देने वाली बिलकुल अप-टू-डेट, विदेशी पोशाक पहन रक्खी थी। उसके बाल ठीक ढंग से कटे हुए थे। उसके हाथ में आधा बचा हुआ सिगार था। और उसके ऊपर-नीचे होते हुए हाथ में सुशोभित हीरे की

अंगूठी अपनी तेजपूर्ण किरणे इस अपरिचित स्थान मे चारो ओर बिखेर रही थी। उसकी घड़ी की चेन उसके पहनने वाले की समृद्धि का गर्व से प्रदर्शन करा रही थी। उसके समस्त शरीर से वैभव, अपार वैभव की गंध आ रही थी।

उसने सिगार फेंक दिया, और साधु का हाथ अपने हाथ में ले कर दबाया। कहा—"मधु, तू तो लगता है, बड़ा भारी महात्मा हो गया है!"

साधु क्षण भर उसकी ओर एकटक देखता रहा। बोला "विधु! तू यहा कैसे ?"

"तुझे खोजने ही तो आया था, दोस्त! तुझे मै पॉच बरस से खोज-खोज कर थक गया।"—उसने जेब से सिगार का डिब्बा निकालते हुए, कहा।

"मेरे लिए इतनी तकलीफ क्यो उठायी ? मै यहां हूँ, यह तुम्हें किसने बताया ?" साधु की आवाज मैं भावशून्यता थी।

"बताया किसने ? मैं हिम्मतनगर के महाराजा साहब के यहा मेहमान हो कर आया था। वहा एक साधु महाराज की कीर्ति सुन कर, मैंने सोचा, कि तू होगा। तुझे मैं जानता हूँ न। पर अपने आश्रम मे बुला कर कुछ बैठने को भी देगा, या ऐसे ही खड़ा रखेगा ?"—कहते-कहते, वह भीतर घुस आया। "क्या एक कुर्सी तक नही ! तू तो, लगता है, सचमुच साधु हो गया है। जरा चन्द्रानना को यह सब देखने तो दे। मैं जब उससे कहूँगा, कि "देख, ये रहे तेरे योगिराज, तो वह भाग ही खड़ी होगी।"

साधु मधु की भौंहे वक्र हो गईं। उसने मन पर यथा-शक्ति नियंत्रण रखने का प्रयत्न किया। बोला—"तेरी पत्नी के आतिथ्य के योग्य यह झोपड़ी नही। उसे यहाँ लाने की कोई आवश्यकता नहीं।"

"मेरी पत्नी ? हा-हा-हा! यह तुझ से किसने कहा ?" पास ही जो लकड़ी की पेटी थी, वह धीरे से उस पर जा बैठा, और मजे मे सिगार पीने लगा।

"तो क्या तूने चन्द्रानना से विवाह नहीं किया ?" साधु की आवाज कठोर हो गई।

विधुकान्त ने सिगार निकाल कर, उसकी ओर देखा, और हँस पड़ा। कहा—"तू साधु तो हो गया, पर रहा वैसा-का-वैसा ही। देख, मैं उससे विवाह तो अवश्य करने वाला था। यह बात तो तेरे सामने ही तय हो गई थी। पर अन्त में चन्द्रानना मुकर गई। नारी कभी किसी की हुई है, जो हमारी होती ?"

साधु थोड़ी देर तक चुप रहा। पर फिर पूछे बिना नहीं रहा गया-"क्या अड़चन आ गई थी ?"

"अड़चन!" उसने शब्द के प्रत्येक अक्षर पर जोर देते हुए, कहा—"अड़चन क्या होती, दोस्त ? तू तो जानता ही है, कि मैं जरा मौजी स्वभाव का आदमी हूँ। विवाह से पहले प्रीति-भोज के दिन मैंने जरा नशा-पानी अधिक कर लिया था, इसलिए होश-हवास ठिकाने न थे। यों मजाक करते हुए पकड़ लिया गया। वह रतिलाल की बहू है न ? उसे बुलाया था। जरा उससे चुहल हो रही थी, कि चन्द्रा आ पहुँची। पाप करना बुरा नहीं, पर पकड़ा जाना बुरा है। उसने विवाह तोड़ दिया।"

साधु उस व्यक्ति की ओर तिरस्कार से देखता रहा। उसकी प्रियतमा को छीन कर फेंक देने और वर्षों तक व्यर्थ ही उसे दुखी करने वाले उस व्यक्ति पर उसे बेहद झुँझलाहट आई। पर वह ऐसा क्षुद्र कीट-जैसा था, कि उसे कुचल डालने को भी मन नहीं हुआ।

"इस प्रकार मूर्ख की तरह मेरी ओर क्या देख रहा है ?" विधु ने कहा—"इतना भी नहीं समझता ? अरे, उसे मेरा पैसा चाहिए था, और मुझे उसका रूप। पर यदि वह समझती रही हो, कि मैं अकेले उसीके रूप से संतुष्ट हो जाऊंगा, तो यह उसकी बेवकूफी थी। यह कैसे संभव था ? क्रोधावेश में उस समय वह नहीं मानी, पर अन्त में तो उसे अवश्य ही पछतावा हुआ होगा।" और चन्द्रा की निराशा की बात सोच कर, उसका मुख सस्मित हो उठा।

मधु अत्यन्त घृणा से नीचे देखता खड़ा रहा। उसने कैसे लोगों के पीछे अपना जीवन बरबाद कर दिया, इसका ध्यान आते ही, उसके मन में तीव्र वेदना उठ खड़ी हुई।

"दोस्त, चन्द्रा सुन्दर तो अवश्य थी," विधु ने कहा—"उस जैसी अभी तक कोई मिली भी नहीं। पर अब भी क्या उसमें वैसा ही ठस्का है ?" उसके नेत्र पशुत्वपूर्ण भाव से चमक उठे, पर वह चमक पल भर में ही विलीन हो गई। "तुझे पता है, कि मैं यहा क्यों आया हू ?"

मधु तिरस्कार की दृष्टि से उसकी ओर देखता रहा।

"तू कभी चन्द्रा को बहुत चाहता था," विधु ने कहा, "और तुझ से उसके विवाह की भी कुछ बात चली थी। यदि मैं न होता, तो शायद तू उससे विवाह भी कर लेता। चन्द्रा अभी तक कुमारी है। मैंने सोचा, कि यदि अपना एक पुराना दोस्त सुखी हो सके, तो क्यों न उसे सुखी किया जाय?"

मधु के मन मे एक बार तो आया, कि उसे धक्का मार कर बाहर निकाल दे। विधुकान्त के प्रत्येक शब्द ने उसके अन्तर में घाव कर दिये थे। पर उसने बड़ी कठिनाई से संयम रख कर, कहा—"और तो कोई काम नहीं ?"

विधुकान्त से अब उसका तिरस्कार का भाव छिपा न था। उसने स्वर बदल कर कहा—"देख, दोस्त, अपना यह ढोंग अब छोड़ दे, और मेरी बात मान कर अपना जीवन सुखी बना ले। चन्द्रा अब भी तुझ से प्रेम करती है, और तेरे लिए ही अभी तक कुमारी है। आज वर्षों से वह तुझे खोज रही है।" फिर उसने कुछ क्षण रुक कर कहा—"उसका रूप भी अभी तक ज्यो-का-त्यो है।"

विधुकान्त के शब्दो से साधु मधु के मन में चिर-आराध्य चन्द्रानना की मूर्ति आ खड़ी हुई। जिसने उसे इस प्रकार लज्जाजनक रीति से धोखा दिया, उसे क्या वह स्वीकार कर ले ? उसके मन में यह प्रश्न उठा। आंखों के आगे चन्द्रानना की मूर्ति निवेदन करती हुई दिखाई दी। पर उसी के पास माधवी की प्रतिमा आ खड़ी हुई। एक उससे कुछ मांग रही थी, दूसरी उसकी ओर स्थिर दृष्टि से बेर खाते-खाते देख रही थी। उसके मन ने उत्तर

दिया, "नहीं, नहीं, नहीं ! जिसने मेरे प्रेम के साथ विश्वास-घात किया, पैसे के मोह में पड़ कर मुझे निर्दयता से दगा दे कहीं का भी नहीं रक्खा, उसे मैं स्वीकार कर लूं ? नहीं, नहीं !" और उसने पागल की तरह जोर से कहा—"नहीं, नहीं, नहीं !"

विधुकान्त उसका पागलपन देख दंग रह गया। बोला—"क्या नहीं-नहीं करता है ? उसके पीछे सारी जिंदगी बरबाद कर दी। और अब जब कि वह खुद आ रही है, तो नहीं-नहीं करता है ! यदि कल उससे कोई विवाह कर लेगा, तो तू हाथ मलता रह जायगा। अकेले रहते-रहते तेरा दिमाग बिगड़ गया है। कल जब तक चन्द्रा आये, तुम सब कुछ सोच लेना।"

साधु भड़क उठा। बोला—"चन्द्रा यहां आयेगी ?"

"हां। मैंने उसे तार दे दिया है, कि तुझ से यहां भेंट होना सम्भव है। अच्छा, अब मैं जाता हूं। मैं महाराजा साहब के साथ ठहरा हुआ हूं। सरस्वती के मन्दिर के आगे पड़ाव पड़ा है। महफिल जम रही होगी। देर हो रही है।" घड़ी की ओर देखते हुए, वह उठा। फिर मजाक के स्वर में कहा—"महाराज, नमस्कार ! कल तक आदमी बन जाना।" और फिर वह तेजी से कुटी के बाहर हो गया।

साधु उसके जाने के उपरान्त भी जड़वत वहीं-का-वहीं बैठा रहा। यदि विधु एक दिन पहले आ गया होता, तो उसका जीवन बदल जाता। कल तक जो चन्द्रा उसके अन्तर में जलती ज्योति के समान थी, वह आज ऐसी लगी, कि जैसे असह्य, अपरिचित और बहुत दूर की हो गई हो। उसे यह सोच कर क्रोध भी आया, कि वह उसके शान्त-जीवन में क्षुब्धता उत्पन्न करने के लिए आ रही थी।

उसने रात भर विचार किया। पर चन्द्रा की मूर्ति सामने आने से पहले ही माधवी की मूर्ति सामने आ खड़ी होती थी। उसके मस्तिष्क में रात भर 'नहीं, नहीं, नहीं' की ही प्रतिध्वनि गूंजती रही।

दूसरे दिन चन्द्रा आई। उसकी सुन्दरता तो वैसी-की-वैसी ही थी, पर

उसमें कुछ परिवर्तन हो गया था ! उसके मुख पर चंचलता का स्थान गंभीरता ने ले लिया था, और साथ ही चिन्ता की उदासी भी झलकने लगी थी। हरे 'सालू' के कारण उस का शरीर और भी गोरा लग रहा था। उस की आखो में मृदुता और निवेदन के चिह्न थे।

साधु उसे देख कर, क्षण भर के लिए परास्त हो गया। इस स्त्री का अब भी उस पर काफी प्रभाव था। उसे देखते ही, वह तेजी से आगे आई।

"मधु ! मधुकर ! पहचानते हो मुझे, या भूल गये ?" उसने मोहक तथा आतुर स्वरों में पूछा।

साधु क्षण भर के लिए अवाक् रह गया। उसके अस्तित्व के सामने उसे ऐसा लगा, कि जैसे माधवी दूर जा रही हो। कहा—"तुम को कौन नहीं जानता ? तुम राजनगर की सबसे सुन्दर स्त्री चन्द्रानना हो।" उसने यथाशक्ति दूरी व्यक्त करने का प्रयत्न किया।

चन्द्रा जरा सकुचाई। क्या उसके प्रति सचमुच इस व्यक्ति का प्रेम समाप्त हो गया ? उसने साहस बटोर कर कहा—"साधु को सासारिक माया की बाते कम याद रहती हैं। तुमने इतना याद रखा, यही बहुत है। धन्य भाग्य ! मधुकर, मैंने तो इतने वर्षों में तुम्हें एक घड़ी को भी नहीं भुलाया।"

"विवाह टूट जाने से पहले की घड़ियों की बात कर रही हो, या बाद की घड़ियों की ?" साधु के मुंह से अनायास ये शब्द निकल गए।

चन्द्रा का मुह लाल हो गया। बोली—"मधुकर, इतने वर्ष बाद इस प्रकार व्यंग-बाण मार रहे हो ? मैं तो तुमसे क्षमा मागने आई हूं। मनुष्य से ही तो भूल होती है ?"

साधु का मुख कठोर हो गया। बोला—"स्त्रियों को लोगो की जिन्दगी के साथ खेलने की भूल करने की पूरी स्वतन्त्रता है। यहां आने का कष्ट क्यो किया ?"

"मधुकर, तुम जितना व्यंग कर सकते हो, कर लो। मैं अपराधी हूं। पर मेरी भूल का उद्गम एकमात्र मेरा स्वार्थ नहीं था।···पहले जरा मेरी

बात सुन लो, फिर जो तुम्हारे मन में आये कहना।"

साधु के मुख पर कठोरता छा गई। और उसने उस पर एक ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि डाली, कि जैसे उसे यह सब अच्छा नहीं लग रहा था। उसने कहा—"मुझे कुछ सुनना नही है। तुम जानती हो, कि बहुत दिनों से मेरा स्त्रियों के साथ बातचीत करने का अभ्यास जाता रहा है।"

"क्रोध मत करो, मधुकर! आज मुझे तुम्हें इस बात का कारण बताना है, कि मैने विवाह की बात क्यो स्वीकार कर ली थी। तुम कहोगे, कि उसके पैसे की वजह से। ठीक। पर वह पैसा मुझे अपने लिए नहीं चाहिए था।"

उसने थोड़ी देर साधु के बोलने की प्रतीक्षा की। पर वह कुछ नही बोला। तब उसने बात आगे बढाई—"बाबूजी को व्यापार में बड़ा भारी घाटा आ गया था, और विधु बाबूजी को इसी शर्त पर रुपया उधार देने को राजी हुआ था, कि मै उससे विवाह कर लूं। मैं क्या करती? मेरे सामने दो ही रास्ते थे—एक तो यह कि अपने स्वार्थ के लिए तुम से विवाह कर लूं, और बूढ़े मां-बाप तथा भाई-बहिन को दर-दर की ठोकरें खाने को छोड़ दूं; दूसरा यह कि जीवन भर स्वयं जलती रह कर उन सब का उद्धार करूं। यह उस समय कहां पता था, कि थोड़े दिनो बाद ही बाबूजी की स्थिति सुधर जायगी।"

"और मा-बाप को बचाने में मेरी गर्दन चाहे मार दी जाय, इसका कुछ ख्याल नही हुआ?" उसने अत्यन्त कटुता से पूछा।

चन्द्रा की आखो मे आंसू आ गये। बोली—"ओह, मधुकर, मुझे क्षमा कर दे! मुझे पता नही था, कि तू ऐसा करेगा। मुझे उस समय कुछ भी नहीं सूझा। मैं सोचती थी, कि तू मुझे भूल जायगा, और किसी दूसरी लड़की से विवाह कर के अपने जीवन को सुखी बना लेगा। मेरे मां-बाप की लाज रह जायगी, और भाई-बहनों के जीवन बर्बाद होने से बच जायंगे। और केवल मै अभागिन ही दुखी होऊंगी।"

"तब इतने बड़े आत्म-बलिदान की इच्छा पूर्ण होने से क्यो रह गई?"

"थोड़े दिनो बाद विलायत से दूसरा तार आया, और बाबूजी की

स्थिति सुधर गई। विधु को वचन दे दिया गया था, इसलिए विवाह तो होना जरूरी था। पर विधु चरित्रहीन निकला। मुझे इसका पता लग गया, और इसलिए मैने विवाह तोड़ दिया।"

"काम निकल गया था न!"

"कह लो, जितना तुम से कहते बने। चाहो, तो डंडा लेकर मुझे मार भी सकते हो। पर मुझे अपनी सेवा करके प्रायश्चित्त करने से मत रोको।" वह चबूतरे के नीचे खड़ी थी। वहा से चबूतरे पर आकर, उसने साधु के पैर पकड़ लिये। बोली—"मधु, इन चरणों का सहारा तो मुझे लेने दो!"

एक पल के लिए मधुकर का मन पिघल गया, और उसे ऐसा लगा, कि जैसे चन्द्रा के मृदुल कर-स्पर्श से उसकी आत्मा बाहर निकली पड़ रही है। एक क्षण के लिए उसे अपनी भुजाओं में ले कर कुचल डालने का मन हुआ। पर उसी क्षण माधवी की मूर्ति अन्तर्दृष्टि के सामने आ खड़ी हुई, और उसे लगा कि जैसे वह पूछ रही हो, 'क्या चन्द्रा मुझ से भी सुन्दर है?'

तब मधुकर का कठोर स्वर चन्द्रा के कानों के आरपार हो गया—"बाई, मेरा तुम्हारा कोई सम्बन्ध नही! तुम अपने रास्ते जाओ!"

चन्द्रा चौंक कर, पीछे हट गई। उसके स्वाभिमान को चोट पहुची। बोली—"मधुकर, याद रखना, जब मै चली जाऊंगी, तो तुम पछताओगे, और समझोगे कि तुमने घर आई लक्ष्मी को ठोकर मारी है। मैंने सदैव तुम से ही प्रेम किया है, और जीवन भर तुम से ही प्रेम करूंगी। पर यदि आज हम एक दूसरे से विलग हो गए, तो फिर इस जीवन मे हमारी भेंट संभव नहीं।" फिर वह नर्म पड़ गई, और पास आकर उसके चरणों में बैठ गई। "मधुकर, मुझे क्षमा कर दो, और अपने चरणों में रहने दो!" और उसका सारा शरीर उसके चरणों पर झुक गया। उसने आसुओ से मधुकर के पैर भिगो दिये। उसके मृदु-स्पर्श और शरीर की सुवास ने उसे उत्तेजित कर दिया। धीमे स्वरो मे मधुकर बोला—"बाई, तू यहां से चली जा। मैं तुझे पहचानता नहीं। और यदि पहचानता भी हूं, तो धिक्कार के सिवा तेरे लिए

मेरे पास कुछ नहीं है ।"

चन्द्रा उठ कर खड़ी हो गई । बोली—"देखती हूं, कि तुम्हारे जीवन में मेरे लिए कोई स्थान नहीं । तुम मुझे धिक्कारो, यह स्वभाविक ही है । मैं तो तुम से जीवन-भर प्रेम करूंगी, और जीवन-भर तुम्हारी उपासना करूंगी। पर, मधु, यदि तुम मुझे छोड़ कर ही सुखी रह सको, तो यही सही । मैं तुम्हारे रास्ते में फिर कभी आकर, तुम्हें कष्ट नहीं दूंगी ।" वह एक ही, श्वास में सब-कुछ कह गई, और मधुकर की ओर देखे बिना ही, मुड़ कर तेजी से चल दी । कुंजों से बाहर निकल कर, केवल एक बार आंसुओं से छलकती आँखो से पीछे मुड़ कर देखा, और आगे बढ़ गई ।

वह चली गई, तो मधुकर भीतर जा कर, चटाई पर लेट गया । वह थक गया था, सहम गया था । पाच वर्ष के समरस और घटना-शून्य जीवन के बाद इन दो दिनों की घटनाओं से वह अकुला गया था । कहां माधवी, कहां विधु, कहा चन्द्रा ! विधाता ने एक ही दिन में सब को कहां से भेज दिया ?

थोड़ी देर तक तो उसे आनन्द की अनुभूति हुई । अंत में वह इस सुन्दर, स्वार्थी स्त्री को पीड़ा पहुंचा सका । और वह थी भी उस दुःख के योग्य । उसने उसे पीड़ा पहुंचाते हुए जरा भी दया नहीं दिखाई थी, तो फिर वह किस लिए दिखाये ।

विधु और चन्द्रा उसके अन्तर-पट पर से प्रतिक्षण दूर होते गये, और थोड़ी देर बाद केवल माधवी अपनी सहस्रगुनी मोहकता के साथ सामने आ विराजी । उसने उसके साथ काल्पनिक वार्त्तालाप आरम्भ कर दिया, 'माधवी, वह चली गई । तूने उसे देखा था ?' और उसे लगा, कि जैसे माधवी की आंखों ने 'हां' किया हो ।

'माधवी, मुझ से वह विवाह करने आई थी । मैंने उसे घर से निकाल दिया ।' माधवी के मुख पर आनन्द और मुस्कान नाच उठी ।

'अब तू मुझ से विवाह कर लेगी ?' मधुकर ने आतुरता से पूछा । माधवी का मुख फड़कता हुआ दिखाई दिया । उसके फड़कते हुए ओंठों से

मधुकर को कुछ ऐसा आभास हुआ, कि जैसे वह कह रही हो, 'पर तुम्हारे पास पैसा है क्या ?'

मधुकर घबरा कर उठ बैठा। माधवी की मूर्ति हंसती-हंसती अदृश्य होने लगी।

उसके माथे पर पसीने की बूंदें उभर आईं। चन्द्रा की व्यंगपूर्ण हंसी के स्वर उसके कानों में पड़े।

दो रात और दिन उसने इसी प्रकार माधवी के सपनों में काट दिये। हर बार वह अदृश्य हो जाती तथा उड़ती हुई दिखाई देती। हर बार वह उससे बिनती करता। हर बार उसे देख कर उसका मोह बढ़ता जाता। और हर बार उसे ऐसा लगता, कि जैसे वह और अधिक बन्धन में बंधता जा रहा हो।

उसकी पीड़ा असह्य हो गई। उसकी आतुरता प्रति-पल तीव्र होती गई। उसे लगा, कि माधवी के बिना वह जीवित नहीं रह सकता।

माधवी ने कहा था, कि उसके माता-पिता सुधारवादी विचारों के हैं, और लड़की के मुख की कान्ति से पता चलता था, कि वे पैसे वाले भी अवश्य होंगे। तो क्या वे वास्तव में अपनी लड़की का विवाह पैसे के लिए करेंगे ?

यदि वह फिर संसार को स्वीकार कर ले, तो क्या उसमें माधवी को सुखी कर सकने लायक पैसा कमाने की शक्ति है ? एक समय था, कि वह विद्वान् समझा जाता था। वृद्धों ने उस पर आशाओं के प्रासाद निर्मित किये थे, और लोगों में ऐसी धारणा थी, कि वह दुनिया में अवश्य कुछ-न-कुछ कर दिखायेगा। चन्द्रा ने पैसे के मोह में पड़ कर उसके जीवन को धूल में मिला दिया। ऐसी छिछली स्त्री के कारण सारा जीवन क्यों बर्बाद कर दिया जाय ? माधवी से विवाह कर के वह चन्द्रा को दिखा देगा, कि उसे भी सुन्दर स्त्री मिल गई।

उसने माधवी के पिता के पास जाने का विचार किया। उसे यह भी याद आया, कि माधवी ने उससे मिलने के लिए आने को कहा था। वह

बहुत देर तक असमंजस में पड़ा रहा, कि जाय या न जाय। बहुत वर्षों से वह किसी से भी मिलने नही गया था। अतः उसके सामने यह प्रश्न आ खड़ा हुआ, कि अब कैसे जाय।

अंत में उसने बहुत दिनों से बंद एक लकड़ी का संदूक खोला, और उसमे से बहुत दिनो का पुराना कोट, धोती और टोपी निकाली। कोट का रंग फीका पड़ गया था, और उसमे कहीं-कहीं छोटे-छोटे सूराख भी हो गए थे। टोपी की दशा भी ऐसी ही थी। धोती पीली पड़ गई थी। वह उन कपड़ों को पहने या न पहने? इसी उधेड़-बुन में दो-तीन घंटे बीत गए।

सहसा उसे याद आया, कि रविवार को वे चले जाने वाले है। आज शनिवार है। आज उसे जाना ही चाहिये, नही तो फिर कभी उन लोगों से भेंट न होगी।

निश्चय कर चुकने के बाद उसने दाढ़ी साफ कर दी, और पेटी में से एक पुराना टूटा हुआ शीशा निकाल कर, अपना मुँह देखा। उसे अपना मुँह बड़ा विचित्र और अपरिचित-सा लगा, जैसे वह कोई दूसरा ही व्यक्ति हो।

अंत मे उसने कपड़े पहन लिये। उसका वेश एकदम बदल गया। अद्भुत साधु के बदले वह एक गरीब, बीमार आदमी-सा लगने लगा। दो दिन की चिंता और निरंतर जागरण ने उस के मुख पर छाया-सी फैला दी थी। केवल उस की आंखें अंगारों की भांति जल रही थी।

उसने पेटी के एक कोने मे पड़ी हुई एक पोटली खोली। उसमें से संभाल कर रक्खे हुए पांच सौ रुपये के नोट निकाले, और जेब में रख लिये। जैसे फिर कभी यहां आना ही न हो, और इस आशय से कि कोई आवश्यक वस्तु छूट न जाय, उसने चारों ओर देखा। उसे सर्वत्र माधवी को आमंत्रण देने वाले शब्द लिखे दिखाई दिये। उसके मुख पर एक हलकी-सी मुसकान फैल गई। 'माधवी को यहाँ लाऊँगा, नहीं तो मैं उसके साथ चला जाऊंगा। जब माधवी के सुन्दर चरण इस वाटिका मे पड़ेंगे, तो यह कैसी खिल उठेगी!'

उसने अपने एकाकीपन के एकमात्र साथी वाद्ययंत्र तथा एक कोने में

पड़ी हुई थोड़ी-सी पुस्तकों की ओर ममता से देखा। और मोह-पाश विजड़ित हो जाने पर भी, उसने यह वाक्य अपने मुँह से निकाला—"निर्ममो निरहंकारो..."

अंत में उसने आँखें मींच कर, किसी की ओर बिना देखे ही, अपनी वाटिका की सीमा पार की और रास्ते पर आ कर, वह वेग से चल पड़ा।

स्टेट बँगले के पास पहुँचते ही, उसे लगा, कि जैसे उसका उत्साह कुछ ठंडा हो गया हो। उसे उस ओर से आते बैंड बाजे के स्वर सुनाई पड़े। बहुत-से लोग उसे ओर जाते हुए दिखाई दे रहे थे। और ऐसा लगा, कि जैसे वे सब जल्दी मे हों।

वह सोचने लगा, कि इस भीड़ में वह माधवी को कैसे खोज सकेगा। वह जरा रुका, और तेजी से जाते हुए एक ग्रामीण युवक को पुकार कर, पूछा—"भाई, आज धर्मशाला मे क्या है ?"

"महाराजा सा'ब के यहाँ बंबई का जो विधु सेठ आया है, उसका विवाह है।"—कहकर, वह जल्दी से आगे बढ गया। इस छोटे-से गाँव मे बैंड सुनने का उसे यह पहला ही अवसर मिल रहा था, अतः वह इसे खो देने को तैयार न था।

किसी रहस्यमय भय से मधुकर का सिर घूम गया। पल भर मे उसके मस्तिष्क के हजारों विचार आये, और चले गये। 'तुम्हारे पास पैसा है ?' कोई अंतरिक्ष से बोला। और बैंड के स्वर मे से यही शब्द प्रतिध्वनित होते सुनाई दिये।

उसके अंग शिथिल हो गये। उसका उत्साह टूट गया। केवल उसके पैर ही उसे उस दिशा की ओर लिये जाते रहे।

बेहोश आदमी की तरह वह भीड़ या धक्कों की परवाह न करके बँगले के चबूतरे पर चढ़ गया।

शृंगार में डूबी हुई माधवी और भड़कीले कपड़ों से सजा हुआ विधुकांत स्नेहियों के उपहार, स्मितमय मुख लिये ग्रहण कर रहे थे!

बुढ़ापे की लकड़ी

बेचारी प्रमदा खिड़की मे खड़ी-खड़ी देख रही थी। पूरा भवन बिजली की बत्तियों से जगमगा रहा था। विवाह की धूमधाम का शोर घर में अभी तक शान्त नहीं हुआ था। बच्चों का शोर-गुल, अधिक बोलने के कारण बड़े-बूढ़ों की बैठी हुई आवाज की घीं-घीं और युवको की हंसी के स्वर अब भी बाहर के कमरों से स्पष्ट सुनाई दे जाते थे। आधी रात होने को आ गई थी, पर ऐसा लगता था कि जैसे रात अभी-अभी शुरू हुई हो।

आज प्रमदा का विवाह बंबई नगर के विख्यात सज्जन लीलाधर के साथ हो गया था। लीलाधर की उम्र पचास वर्ष के आस-पास होगी। उनकी पहली पत्नी सौ० करसुलबा अभी छः महीने पहले स्वर्ग सिधार गई थीं। इसीलिए उन्होंने अपनी उत्तरावस्था में पत्नी के अभाव में होने वाले कष्टों से त्रस्त होकर, पंद्रह वर्ष की सुन्दर लड़की प्रमदा के साथ विवाह तय कर लिया। उनके साथ न्याय करने के लिये इतना अवश्य कह देना चाहिये, कि उन्होंने बड़ी उम्र की लड़की से विवाह करने के बड़े प्रयत्न किये। जिन सुधारवादी माँ-बाप ने लड़कियों को कॉलेज में शिक्षा देकर बड़ी उम्र तक अविवाहित रखने की धृष्टता की थी, उनमें से किसी के सिर से भी भार उतारने के लिये वे तैयार थे। जाति के बाहर रहने का साहसपूर्ण प्रयोग करने में भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। पर उनकी उम्र और उनके बाल-बच्चों के कारण किसी को अपनी लड़की के बाईस-तेइस वर्ष की होते हुए भी, अपने सिर का बोझ हल्का कराना मंजूर नहीं हुआ। सो उन्होंने अंत

में अपनी ही जाति के गोपालदास की पुत्री पंद्रह-वर्षीया/ प्रमदा के साथ विवाह कर लिया।

पर इससे उनका यह दृढ़ विश्वास हो गया कि सुधार के रास्ते में सब से अधिक सुधारक ही आते हैं। वे बड़ी उम्र की लड़की से विवाह करना चाहते थे, जाति से बाहर रहने का साहस भी कर सकते थे, पर अभिमानी, मूर्ख मां-बाप यदि ऊन जैसे सुयोग्य वर को अपनी कन्या देना ही न चाहें तो फिर वे क्या करें ?

बंबई शहर मे लीलाधर सेठ का स्थान कोई ऐसा-वैसा नही था। वे पैसे वाले तो अवश्य थे, पर लोग उन्हे बहुत पैसे वाला समझते थे। उनके दिये हुए दानों की बात दुनिया जानती थी। वे वक्तृत्व-कला में भी निपुण थे, इसलिये बहुत-सी सभाओ का उन्हें सभापति भी बनाया जाता था। वे कभी-कभी पत्रो मे लेख भी लिखते थे। उनका प्रमुख व्यवसाय तो शेयर बाजार का था; पर उनकी बातों से ऐसा लगता था, कि जैसे उन्हें अनेक व्यवसायो का ज्ञान हो, और सब में वे रुपया कमाते हो। ऐसे सुशिक्षित कला-प्रेमी, धनवान और संस्कारी व्यक्ति के लिये अधेड़ अवस्था में घर बिगड़ने का दुःख सचमुच असह्य था।

और प्रमदा अपनी जाति भर मे सब से सुन्दर लड़की समझी जाती थी। उसने छठे क्लास तक गुजराती पढ़ी थी। उसे भोजन बनाना, सीना-पिरोना और बुनना-काढ़ना आता था। उसे उपन्यास पढने का बड़ा शौक था, और इस कारण उसकी मनोवृत्ति भी अत्यन्त चंचल हो गई थी। बारह वर्ष की उम्र से ही उसने किसी बाईस वर्ष के छैल-छबीले, सुन्दर युवक वर से विवाह करने के स्वप्नों का निर्माण किया था। और यदि लीलाधर सेठ-जैसा वर विधुर न हो गया होता, तो कदाचित् उसके स्वप्न पूरे भी हो जाते।

यदि लड़की को अच्छे घर का, खूब धन-दौलत वाला वर मिल रहा हो, तो पुराने विचारो वाले कौन-से हिन्दू मां-बाप वर की उम्र या उसके रूप-गुण पर ध्यान देते हैं ? 'दुहेजू दूल्हा लाड़ करता है, गहने गढ़ाता

है, और बहुए के लिये रुपये देता है। देख, दुहेजू से ब्याह करके तुझे बड़ा सुख मिलेगा।' लगता है कि जैसे एक ग्राम्य-गीत का उपर्युक्त सारांश उनकी नस-नस मे समा गया हो। जब तक दूल्हा जिये, तब तक मौज उड़ाओ; और जब मर जाय, तो जीवन भर सुख से खाओ। लड़की को और क्या चाहिये ? जवानी के अरमान तो चार दिन के होते है। जहां लड़की दो बच्चो की मां हुई, अरमान हवा हो गये। और यदि कोई बाल-बच्चा न हुआ, तो प्रौढ़ावस्था मे बैठे-बैठे भगवान का भजन करो, जिससे कि आत्मा का उद्धार हो। इस प्रकार दुहेजू वर स ब्याह करने से दो लाभ होते है—यह जन्म भी बन जाता है, और वह जन्म भी। और, नारायण न करें, यदि कुछ गड़बड़ी हो गई, तो वह तो लड़की की ग्रह-दशा का दोष है। उसके लिये मा-बाप जिम्मेदार नहीं।

प्रमदा के मां-बाप ने भी यही सोचा, और प्रमदा का विवाह कर दिया। प्रमदा ससुराल आई। प्रमदा से बड़ी उम्र के लीलाधर सेठ के लड़को ने शोक से, क्रोध से, कौतूहल से नई मां का स्वागत किया।

और यह थी प्रमदा के विवाह की पहली रात। लीलाधर सेठ मन से बड़े शौकीन थे, इसलिए आज उन्होंने नई पत्नी को रिझाने की सभी तैयारियां कर रक्खी थी। नई बहू के लिए सुन्दर वस्त्र थे, इत्र था, फूल थे। यदि न थी तो केवल बाल्य-हृदय को समझाने के लिये, बालक-जैसा बनने की कला। यही कारण था, कि वे सब वस्तुएं कुछ जम नही रही थीं।

लीलाधर सेठ हंसते-हसते कमरे में आये। उनके अधिकांश बाल श्वेत हो गये थे, और दांत भी कई जगह से झड़ गये थे। वे ठिंगने कद के और दुबले-पतले थे। पर उनकी आंखों में अभी तेज था, और लालसा से वे अब भी चमकती थीं। अवर्णनीय आनन्द से उनके अंग-अंग फूले नहीं समा रहे थे। प्रमदा खिड़की मे खड़ी थीं। चौंक कर, उसने पीछे फिर कर देखा। सेठ को देखते ही, उसने निगाह फेर ली, और खिड़की के बाहर देखने लगी। सेठ ने पीछे से आ कर, उसके कंधे पर हाथ रख दिया। प्रमदा चौंक पड़ी, पर कुछ बोली नहीं।

"प्रमदा, खिड़की के बाहर बहुत देख लिया, अब जरा इधर तो देख।" सेठ ने रसिको की-सी भाषा मे बात-चीत आरम्भ की।

प्रमदा कुछ बोली नहीं, और खिड़की के बाहर ही देखती रही। वह कुछ नहीं समझ पा रही थी, कि उसे लज्जा लग रही थी, या संकोच हो रहा था।

लीलाधर सेठ ने प्रमदा को खिड़की के सामने से खींच कर, खिड़की बन्द कर दी, और हाथ पकड़ कर, एक कुर्सी पर बैठा दिया। बोले—"प्रमदा, अब कब तक लजाओगी? मेरे साथ बातें करो।"

उत्तर मे प्रमदा की आंखों से आंसू निकल पड़े।

लीलाधर सेठ चौंके। उन्हे लगा, कि जैसे उनका समस्त आनन्द नष्ट होने जा रहा हो। उन्हें प्रमदा पर गुस्सा आने लगा। पर सयम से काम ले कर, कोमल स्वरों मे उन्होंने पूछा—"ऐसे शुभ अवसर पर रो क्यो रही है? तुझे हो क्या गया है?"

"तुम ने मुझ से विवाह क्यो किया?" सुबकते-सुबकते, अस्पष्ट स्वरों में प्रमदा केवल इतना ही बोल सकी। उसे स्वयं पता न था, कि वह क्या कर रही थी।

एक पल के लिये तो आनन्द में डूबे हुए सेठ का मिजाज बिगड़ गया, और कहने को मन हुआ, कि 'तेरे मा-बाप ने तुझे ब्याहा, इसलिये।' पर दूसरे ही क्षण उन्होंने सोचा कि इस प्रकार मिजाज बिगाड़ने से कुछ काम बनने का नहीं। वह मीठे स्वर मे बोला—"पहले ही दिन इस प्रकार पागल की तरह रो मत। इस से बड़ा अपशकुन होता है! जा, मुह धो डाल। फिर मैं तुझे कुछ बताऊंगा।"

फिर वह हाथ पकड़ कर, प्रमदा को नल के पास ले गये, और उसके मुंह पर पानी के छींटे दिये। वह भड़क न जाय, इसलिये उसे कुर्सी पर बैठाया। फिर अपने पास वाली टेबिल के ड्राअर की चाबी ला कर, उसे खोल कर, एक मखमल का डिब्बा निकाला, उसे खोला, और प्रमदा के सामने रख दिया।

"यह लो आज के दिन की भेंट!" उन्होंने गर्व से हसते हुए कहा। उनके झुर्रीदार मुख पर ऐसे आनन्द के भाव थे, कि जैसे उन्हे विश्वास हो, कि प्रमदा पर इससे मनचाहा प्रभाव पड़ेगा।

डिब्बे मे एक कीमती हीरों का हार आंखों में चकाचौंध पैदा कर रहा था। उसे देखते ही, एक पल के लिये प्रमदा अपना दुःख भूल गई, और जिज्ञासा से उसे हाथ मे ले कर देखने लगी।

"पहन कर तो देखो," सेठ ने धीरे से कहा। ऐसा सुन्दर और बहुमूल्य हार अपना हो या दूसरे का, पर उसे पहन कर देखने के लोभ का संवरण आज तक कौन बाला कर सकी है? प्रमदा ने डरते-डरते, शरमाते-शरमाते उसे पहन लिया। घड़ी भर के लिये उसके आंसू सूख गये। लीलाधर सेठ को यह परिणाम देख कर, बड़ी प्रसन्नता हुई। पत्नी को रिझाने की कला का और अधिक प्रयोग करते हुए, बोले—"जरा शीशे में तो देख।"

प्रमदा घबराती-घबराती उठी, और एक आलमारी के शीशे के पास गई। उसके गले मे झलझलाता हुआ हार उसके सुन्दर मुख को और भी सुन्दर बना रहा था। उसने हर्ष और कृतज्ञता से शीशे मे पीछे दिखाई देती हुई सेठ की आखों की ओर देखा।

सेठ ने पल भर सोच कर, उसके कंधे पर हाथ रख दिया। आभार में डूबी हुई बाला कुछ बोल न सकी। तदुपरान्त दिन भर के थके-मांदे दूल्हा-दुलहिन सो गये। तब तक लीलाधर सेठ ने प्रमदा पर मन-वचन-कर्म तीनों से पति का अधिकार पूर्णतया स्थापित कर दिया था।

प्रमदा सुबह को जरा देरी से उठी। उठते ही उसे कुछ ऐसा लगने लगा, कि जैसे उसने कुछ बुरा किया हो। उसे किसी को अपना मुंह दिखाने में भी शरम आ रही थी। पर कमरे से बाहर निकले बिना कैसे काम चल सकता था? वह जब बाहर आई, तो वहां सारा-का-सारा कुटुम्ब उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। उनमे से अधिकांश की यह राय थी, कि जो बहू पहले ही दिन इतनी देर से उठे, वह बेशरम तो है ही। लीलाधर सेठ के लड़के और

लड़कों के लड़के कौतूहल से नई मा के उठने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

वह बाहर आई, तो सब की आंखें उस पर टिक गई। भूल से हीरे का हार अभी तक गले में पड़ा रह गया था, सो सब का ध्यान उस ओर आकर्षित हो गया। घबराहट में प्रमदा को लगा, कि उसके कल रात को किये हुए पाप की बात ये सब जान गये। उसके मन में आया, कि धरती फट जाय, और वह उसमें समा जाय। उसका मन भीतर-ही-भीतर रो उठा। रोने का कोई कारण खोजने के लिये उसने जान-बूझ कर दहलीज से ठोकर मार ली, और जोर से चिल्ला कर फर्श पर बैठ गई।

"क्या हुआ? क्या हुआ?" कहते हुए, सब ने उसे घेर लिया।

प्रमदा की आंखों से आसू निकल रहे थे। "कुछ नहीं। जरा ठोकर लग गई।"—उसने कहा। और जैसे बड़ा दर्द हो रहा हो, इस प्रकार हाथों से पैर को दबाने लगी।

जरा-सी ठेस लगने पर इतना हो-हल्ला! नई मा के बारे में लड़के जैसा सोच रहे थे, वह उससे अधिक ही निकली। जैसे समझ में कुछ न आ रहा हो, कि वे क्या करें, इस प्रकार सब आस-पास खड़े थे।

हल्ला सुन कर, लीलाधर सेठ कमरे में से बाहर आये, और पैर पर पानी की धार डालने के लिये पानी लेने दौड़े। वीमू, सेठ के बड़े लड़के की बहू, पट्टी बाधने के लिये कपड़े का टुकड़ा ढूढ़ने के लिये चली। सरोज और कांता—कहां चोट लग गई, यह देखने के लिये नीचे झुक गई। दूसरे छोटे-छोटे बालक जरा दूर जा खड़े हुए।

प्रमदा को लगा, कि बात आवश्यकता से अधिक बढ़ गई। "कुछ नहीं। जरा-सी ठोकर लग गई थी।"—उसने फीकी हंसी हंस कर कहा, और उठ कर, जहां सेठ की बड़ी बहिन महालक्ष्मी बैठी थी, वहा जा बैठी।

प्रमदा के वैवाहिक जीवन का श्रीगणेश इस प्रकार हुआ।

दो-चार महीने तक सेठ ने उसकी खूब खातिर की। साथ-साथ घुमाया, नाटक-सिनेमा दिखाया, और मौज करायी। बेटी का सुख देख कर, प्रमदा की मा के हर्ष की सीमा न रही।

पर इतने बड़े परिवार की मालकिन क्या जन्म भर मौज उड़ा सकती थी ? घर में उससे बड़ी-बड़ी बहुएं थीं, और अपने भाइयों के बराबर बड़े-बड़े लड़कों की वह दादी थी। सब उसे देख कर चुपचाप हंसते, और उसके बचपने पर टीका-टिप्पणी करते। घर में सगे-सम्बन्धी आते, तो वे करसुखवा को याद करते, और उसके गुण गाते। उम्र में सब से छोटी प्रमदा का कोई घर में हुक्म माने, यह तो असंभव ही था। और उसका आदर भी उतना ही होता था, जितना कि लीलाधर सेठ के डर से वे करा सकते थे। घर के छोटे-बड़े, सब उसे यथा-शक्ति परेशान करने और चिढ़ाने का प्रयत्न करते। नौकर-चाकर तक उसकी परवाह न करते। वह कुछ पहनती-ओढ़ती, या सेठ के साथ बाहर जाती, तो सब यही कहते, कि "बाबू जी नई मां को सिर पर चढ़ा रहे हैं।"

बेचारी प्रमदा को इससे दिन में दस बार रोना आता। जहा तक होता, वह बहुत ही कम बोलती, और किसी से कुछ न कहती। पर यह उसके अभिमान का परिणाम समझा जाता। धीरे-धीरे वह अपने ही कमरे में अधिक बैठी रहने लगी। फिर यह उसका उद्धतपन समझा जाने लगा। घर में किसी को उसका बचपना अच्छा न लगता था। कुसमय ही उस पर जबरदस्ती बुढ़ापा लाने के सब प्रयत्न हो रहे थे। यदि वीमू और सुरेन्द्र को नाटक जाना होता, तो वे सोचते कि बच्चों को रखने का काम उसका है। जीतू का नौकर बीमार पड़ जाता, तो उसके कुटुम्ब की देख-भाल भी दादी-मां को ही करनी चाहिये, सब का यही ख्याल था। जब विधवा कांता और कुमारी सरोज घर में रहतीं, और वह सेठ के साथ भड़कीले कपड़े पहन कर, बाहर घूमने जाती, तो यह सब को बड़ा अनुचित लगता। घर मे उसकी स्थिति लगभग बिना मालिक के जानवर-जैसी थी। कोई उसके साथ न तो बहुत अधिक उठता-बैठता था, और न बोलता था। जीतू और सुरेन्द्र के बालक उसका सामना करते, और उसका मजाक उड़ाते। उसकी छोटी-मोटी त्रुटियां खोजने के लिये भी, सब की आंखें सदैव सजग रहतीं।

प्रमदा को यह सब असह्य लगने लगा। विवाह को अभी साल भर भी नहीं हुआ था, कि उसे हिस्टीरिया के दौरे आने लगे। उसका हंसना-बोलना बन्द हो गया। अधेड़ वर और गाड़ी भर कुटुम्ब, इन दोनों के बीच उसकी सारी अभिलाषायें मर गईं। उसका शरीर निर्बल होने लगा। रात-दिन वह यही सोचती रहती, कि उसे कैसे इन सब से छुटकारा मिले।

और दुनिया की दृष्टि मे प्रमदा सुखी थी। उसके घूमने के लिये गाड़ी थी, पहनने के लिये गहने-कपड़े थे, रहने के लिये सुन्दर घर था, मनचाहा भोजन मिल सकता था। फिर उसे दुःख किस बात का? बहुत-सी स्त्रियों को तो इनमे से एक वस्तु भी नहीं मिल पाती।

धीरे-धीरे प्रमदा की तबीयत और भी खराब रहने लगी। डाक्टर ने काफी दिनों के लिये वायु-परिवर्तन के लिये उसे बाहर भेजने की सलाह दी। साथ ही साथ कुछ ऐसी बातें भी करने को कहा, जिस से उसका मन प्रसन्न रहे। लीलाधर सेठ को इतने लंबे समय तक पत्नी से अलग रहने की बात पहले तो अच्छी नहीं लगी। पर फिर कहीं उससे सदा के लिये ही हाथ धोना न पड़े, इस डर से पूना मे एक बंगला लिया गया और वहां एक दक्षिणी बाई के साथ प्रमदा को रख दिया गया। क्योंकि इतने दिनों तक लीलाधर सेठ बम्बई से बाहर नहीं रह सकते थे।

और तब से प्रमदा का सितारा फिर गया, यह कहो, या स्वभाव बदल गया, यह कहो; पर उस में परिवर्तन होने लगा। उसके साथ रहने वाली बाई कर्वे आश्रम की ग्रेजुएट थी। उसे संगीत का भी अच्छा ज्ञान था। उसने अपनी स्वाभाविक विचक्षणता से प्रमदा का दर्द परख लिया। प्रमदा की तबीयत जैसे ही जरा ठीक हुई, वह उसे पढ़ाने और थोड़ा-बहुत संगीत सिखाने लगी।

यहां लीलाधर सेठ का आत्मा को कुचलने वाला सहवास नहीं था। परिवार वालों की दिल जलाने वाली, पर किसी से कही न जाने योग्य बातें और उनसे होने वाली कुढ़न भी यहाँ नहीं थी। केवल था पार्वती बाई का मीठा, मधुर सहवास। उसके दुःख-दर्द दूर होने लगे। उसकी आत्मा ऐसी शीतलता का अनुभव करने लगी, जैसे किसी मरुभूमि के यात्री को नखलि-

स्तान मिल गया हो।

इस बीच में लीलाधर सेठ एक-दो बार वहां हो गये थे। और अंतिम बार प्रमदा की तबीयत ठीक लगने से उसे अपने साथ ले जाने का विचार भी प्रकट किया। पर जाने की बात सुनते ही प्रमदा को दौरा आ गया। सो विवश हो कर, सेठ को उसे छोड़ जाना पड़ा। छः महीने तक खर्च किया हुआ पैसा कहीं व्यर्थ न चला जाय, और प्रमदा की आधी सुधरी हुई तबीयत कहीं फिर न बिगड़ जाय, इस डर से उन्हें प्रमदा को साथ ले जाने में कोई लाभ दिखाई नहीं दिया। पत्नी के बिना सेठ के दिन बड़ी बुरी तरह कट रहे थे। इस उम्र में उन्हे ऐसी बीमार रहने वाली स्त्री मिली, इससे उनके भाग्य पर दुनिया तरस खाती थी। पर भावी सुख के लिये इतना आत्म-त्याग करना उनके लिये अनिवार्य हो गया।

पारु बाई के छः महीने के सहवास ने ही प्रमदा की आत्मा को खिला दिया। केवल आत्मा विकसित ही नहीं हो गई बल्कि सुहढ़ हो गई। उसका आनन्दी स्वभाव फिर लौट आया। उसके अंग-अंग विकसित होने लगे। उसकी बीमारी भी लगभग दूर हो गई।

उसने बहुत सोच-विचार के उपरान्त तय कर लिया, कि 'मुझे अब उन सब के साथ नहीं रहना है।'

'उन सब,' अर्थात् लीलाधर सेठ को छोड़ कर, परिवार के अन्य लोग। पति के साथ न रहने का विचार तो कदाचित् ही किसी हिन्दू पत्नी के मन मे आता हो। अतः प्रमदा के मन में भी नही आया। यदि आता भी तो वह जानती थी कि सेठ को छोड़ कर दुनिया में उसका था भी कौन। यदि एक हिन्दू स्त्री को जीविकोपार्जन की कोई कला न आती हो, और स्वतन्त्रता से जीवन-यापन करने के साधन उसके पास न हों, तो चाहे उसकी आत्मा परिस्थितियों द्वारा कुचली भी क्यों न जा रही हो, वह कर ही क्या सकती है? विवश होकर, उसे पति के वश में ही रहना पड़ता है। और यदि वह ऐसा न करके अलग रहती है, तो भयंकर अधःपतन का गर्त

निरन्तर उसे निगलने के लिये मुह फाड़े सामने खड़ा रहता है! यह बात स्वाभाविक रीति से सभी हिन्दू स्त्रिया जानती हैं। और यह सकुमार बाला भी इतनी बात तो भली प्रकार समझती ही थी।

सेठ ने प्रमदा की सब से अलग रहने वाली शर्त पहले तो स्वीकार नही की। पर प्रमदा ने इस विषय मे ऐसी जिद पकड़ली, कि बम्बई जाने से एकदम इनकार ही कर दिया। और उसने यह धमकी भी दी कि यदि सेठ उसे जबरदस्ती ले गया, तो वह उपवास कर के अपना शरीर त्याग देगी।

वह थी तो केवल धमकी ही, पर उसके मस्तिष्क की हालत से भयभीत सेठ पर उसका तुरन्त प्रभाव पड़ा। उन्हे अपने इस अंतिम अवस्था मे बहुत दिनों तक प्रमदा से दूर रहना पसन्द नही था। और इतने बाल-बच्चों से भरे घर में नई पत्नी के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक इतने वर्षों की सहेज कर रक्खी हुई रसिकता का बोझा हल्का नहीं किया जा सकता था। इसलिये पूरे परिवार के साथ रहना सेठ के लिये भी पूर्णतया सुविधाजनक नहीं था।

प्रमदा को अलग घर बनाए पाच-छः वर्ष बीत गये। उसके जीवन मे सुख के, संतोष के अच्छे-से-अच्छे साल यही थे। सुख यह था, कि लीलाधर सेठ के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करने के उपरान्त उसे कोई सताता नहीं था; और यह संतोष था, कि प्रतिक्षण उसकी इच्छाओं का अनादर करने का अवसर खोजने वाली तथा उसे बेवकूफ बना कर, दिन भर उसका मजाक उड़ाने वाली एक सेना-की-सेना वहा उपस्थित नहीं थी।

और लीलाधर सेठ भी अपनी समस्त शक्तियां लगा कर उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करते थे। वह हमेशा कुछ-न-कुछ प्रमदा की पसन्द के और उसकी शोभा बढ़ाने वाले उपहार देते रहते। वह उसे प्यार करते, उसके लिये गहने गढ़ाते, खर्च के लिये देते, और ऐसी अनेक युक्तियां किया करते, कि प्रमदा उस से खुश रहे।

इन पाच वर्षों मे प्रमदा के दो बच्चे भी हो गये थे। एक मर गया था, दूसरा बीमार रहता था। प्रसव, बालकों का पालन-पोषण, अपने स्वास्थ्य

की चिन्ता और लीलाधर सेठ की फिक्र, इन सब बातों के बीच प्रमदा को बहुत विचार करने तथा आत्म-विकास का अवकाश न मिला था। उसकी चित्त-वृत्तियां, विचार, भावनायें, सब कुचली जा चुकी थी, और वह ऐसी स्थिति मे नहीं थी, कि अपने भीतर से कुछ ग्रहण कर सकती। जीवन में जो भी मिल जाता, वह उसे स्वीकार कर लेती। अधिक मांगने की या अधिक की आशा करने की उसमे शक्ति ही शेष नहीं रह गई थी।

पर दुनिया तथा सगे-सम्बन्धी उसे एक दुष्ट स्त्री समझते थे। जो स्त्री आते ही अपने पति की आत्मा पर इतनी सत्ता जमा ले, कि वह अपनी पहली स्त्री के पच्चीस-तीस वर्ष के बच्चों से अलग हो कर, उसके साथ अलग रहने लगे, वह धूर्त्त और कपटी तो होगी ही! इस विषय में भी वे खूब विचार करते। अधेड़ वर से विवाह किया, और फिर सारे कुटम्ब की सेवा करते हुए एक सुशील स्त्री का पद प्राप्त करने के बदले, वह अपने ही सुख की खोज करने लगी। ऐसी स्वार्थरत स्त्री का दुनिया तिरस्कार न करे, तो क्या करे?

पहले तो प्रतिदिन नई-नई निन्दायें सुनने तथा सेठ को खुश करने में ही प्रमदा का समय बीतता। प्रमदा धीरे-धीरे समझ गई थी, कि सेठ को खुश रखने के अतिरिक्त, उसे जीवित रहने तथा अधिकार भोगने के लिये कोई दूसरा रास्ता न था। बहुधा उस का मन उदास हो जाता। वह अकेली रोती, झींकती, पर फिर अनुभव के बल पर उसका मन शान्त हो जाता।

पर इधर कुछ दिनो से उसके मन में फिर संताप, आत्म-विकास करने की इच्छा और सेठ से अपने सम्बन्ध के प्रति अनेक भाव पैदा होने लगे थे। इसलिये कभी-कभी सहसा उसकी नम्रता जाती रहती, और उसके ऊपर विद्रोह की धुन-सी सवार हो जाती।

पति-पत्नी को तो साथ-साथ आनन्द करना ही चाहिये, इस नियम के अनुसार एक दिन प्रमदा और लीलाधर सेठ अपने सैन्डहर्स्ट रोड के बंगले की छोटी-सी ऊपरी छत पर बैठे मौज कर रहे थे, सेठ बैठे-बैठे अपने खोड़े दांतो वाले मुंह में पान चबा रहे थे। प्रमदा अपने बच्चे को गोद में ले कर

खिलाने का प्रयत्न कर रही थी।

"नई बहू !" सेठ ने प्रमदा का नाम बहुत वर्षों से 'नई बहू' रख दिया था। "मेरा विचार इस सीजन मे पूना जाने का है।"

"अच्छा !" कौतूहल दिखाये बिना प्रमदा ने कहा।

"अब तेरा मिजाज कुछ ढीला हो गया है ? अब तो लगता है, कि तुझ में मुझ से अधिक बुढापा आ गया है।" फिर उन्होंने नई बहू को प्रसन्न करनेके अनेक निष्फल प्रयत्नो में से एक का प्रयोग किया। पर उस से उस के खिन्न होने पर, सेठ ने कहा—"पुरानी होती, तो इस बात से मस्त हो जाती।"

"तुम दोनों पुराने थे न, इसलिये हो सकता है कि ऐसा होता।' सदैव की नम्र प्रमदा आज धृष्ट हो गई थी। "आज वे जीवित होती, तो तुम्हारे पूना जाने की बाते सुन कर शोक से आधी हो जातीं !"

सेठ चौंका, पर बात को पी गया। थोड़ी देर बाद उसने कहा—"तू तो उस सिरे पर जा बैठी है। जरा यहां तो आ।"

"दो हाथ की तो छत है, यहा दूर और पास क्या ? जहां हूँ, वहीं ठीक है।" प्रमदा जहा थी, वही बैठी रही।

ऐसे अवसर पहले भी कभी-कभी आ जाते थे। पर आज लीलाधर सेठ का मिजाज बिगड़ गया। लीलाधर सेठ ने प्रमदा को घर के महता जी से, एक-दो बार आवश्यकता से अधिक बातें करते देख लिया था, इसलिये उनके मन में सन्देह उत्पन्न हो गया था। अब उन्हे प्रमदा का पहनना ओढ़ना भी अच्छा नहीं लगता था। उन्होने आज प्रमदा का विद्रोह एक ही आघात से दबा देने का उपाय खोज निकाला। पल भर मे लीलाधर सेठ ने रौद्ररूप धारण कर लिया। वह जोर से चिल्लाये—"इधर आती है या नही ?" उन्होंने आंखें निकाल कर, प्रमदा की तरफ देखा। उनके मुह से थोड़ा बहुत थूक भी उड़ा।

प्रमदा काप उठी। नम्रता उसके स्वभाव का ही गुण था, इसलिये विद्रोह करना और उसे जारी रखना या तो उसे आता नहीं था, या उसे अच्छा नही लगता था। पर जब बिल्ली चारो ओर से बंद होती है, और

उसे निकल भागने का रास्ता नही मिलता, तो दांत पीसने लगती है। ऐसी ही मनस्थिति उस समय कुछ-कुछ प्रमदा की हो गई। उसने रो पड़ने के बदले, कहा—"क्यो, क्या कहते हो ? लो आई।" उसकी आंखों में तिरस्कार का भाव व्यक्त था, और अंतर का भय बाहर बिलकुल दिखाई नहीं दे रहा था।

पता नहीं कैसे उस दिन लीलाधर सेठ ने अपने स्वभाव का समस्त सयम खो दिया। वह प्रमदा को भद्दी-भद्दी गालियां देने लगे। प्रमदा एक अक्षर भी नहीं बोली, और चुप-चाप सब सुनती रही।

मनचाहा प्रभाव न पड़ने से लीलाधर सेठ फिर चिल्लाया—"कमीनी, तू बुढ़ापे मे मेरी खराबी करना चाहती है, पर याद रख कि मैं तुझे..." पर वाक्य पूरा होने के पहले ही उनकी खाँसी उबल पड़ी। साथ ही कभी-कभी आने वाले मेहमान दमे ने एकदम हमला कर दिया।

इस दंपत्ति के आनन्द की अंतिम संध्या इस प्रकार समाप्त हो गई! उस दिन से सेठ खाट पर पड़ गये। सेंक करने के थैले और तकियों से भरा हुआ बिछौना उनके हर समय के साथी हो गये।

प्रमदा की दिन-प्रति-दिन विद्रोह करने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति इस बीमारी में नष्ट हो गई। वह विद्रोह करती भी, तो किसके विरुद्ध ? किसलिये, और किसके लिये ? सेठ की सेवा-शुश्रूषा, तेल मलने, सेंक करने और बीमार बालक की देख भाल करने में उसके चौबीसो घंटे निकल जाते। उसे देखकर ऐसा लगने लगा था, कि जैसे बीस-इक्कीस वर्ष की चढ़ती हुई उम्र में ही लगभग बुढ़ापा आ गया हो। उसका निष्प्रभ मुख देखकर तो यह समझ सकना भी कठिन हो गया, कि कभी वह सुन्दर भी रही होगी।

जब से लीलाधर सेठ बीमार पड़ गये थे, तब से उनके स्वभाव में एक नवीन तत्व दृष्टिगोचर होने लगा था। और वह तत्व था ईर्ष्या का। वह सोचने लगे, कि उनकी और प्रमदा की उम्र में भारी अंतर है। वह तो लगभग अपना जीवन समाप्त कर चुके, पर प्रमदा तो अभी केवल बीस-

इक्कीस वर्ष की ही थी। उसका यौवन अभी और खिलने वाला था, तथा उसका आत्म-विकास अभी और होने वाला था। भगवान न करे, पर यदि उन्हें कुछ हो गया, और फिर प्रमदा ने अपना चाल-चलन ठीक न रक्खा, तो उनकी आबरू मिट्टी में मिल जायगी। उनकी पत्नी उनकी अपनी मल्कीयत थी। भविष्य में इस काल्पनिक भय से उनका मन ईर्ष्या और क्रोध से कांप उठा। इस से उनकी बीमारी और भी उग्र हो गई।

तब से वह प्रमदा को किसी भी पुरुष के साथ बातें करते देखते, तो जल उठते। उन्हें यह तनिक भी सह्य नहीं था, कि प्रमदा उनकी दृष्टि से एक क्षण के लिए भी दूर हो। उसके शरीर को भी थोड़ा आराम चाहिये, या नींद तथा भूख-जैसी आवश्यकतायें भी थोड़ा बहुत समय मांगती होंगी, यह बात वह लगभग भूल ही गये। चौबीसों घंटे वह प्रमदा को अपने पास ही रखते। अपने शरीर की सारी आवश्यकतायें वह प्रमदा से ही पूरी कराते, दवा, पथ्य इत्यादि उसी के हाथ से लेते।

सगे-सम्बन्धी कहते—"बच्चों को दूर कर के बहू जी सुख भोगने चलीं। सुख भाग्य में होगा, तो भोगा ही जायगा, पर इस समय तो मौत आ रही है!"

कोई कहता—"बेचारी पुरानी बहू की आत्मा अपने बच्चों का दुःख देख कर स्वर्ग में भी दुखी होगी! उसकी जगह तो इसने जरूर ले ली, पर इस प्रकार दूसरों का सुख ले लेना सहज नहीं।" जैसे प्रमदा ने पहली बहू को मार कर उसका स्थान ले लिया हो, और प्रमदा के हाथों उसके बच्चों को बड़ा दुःख सहना पड़ रहा हो।

लीलाधर सेठ एक दिन दोपहर को लेटे हुए थे। पर शायद प्रमदा को ऐसा लगा, कि उनकी आंख जरा लग गई है। दुःख में डूबी हुई उसकी आत्मा ने जरा स्वतन्त्रता का अनुभव किया। पास के कमरे में जाकर, वह जमीन पर पड़ी हुई चटाई पर पड़ रही, और आंसू बहाने लगी।

प्रमदा की मां लाड़कौर बाई उस समय वहीं थीं। वे प्रमदा को समझाने लगीं—"इस प्रकार रोती क्यों है प्रमदा? दुःख किसके जीवन में

नहींआता ? इसमें बात ही क्या है ?"

इन शब्दों ने प्रमदा को झकझोर दिया। बोली—"दुःख जीवन में आप ही आ जाता है, या जान-बूझ कर लादा जाता है ?"

लाड़कौर बाई इन आकस्मिक शब्दों से निष्प्रभ हो गईं। बोलीं—"हम ने तो तेरे लिये अच्छा ही घर खोजा था, पर जब तेरा भाग्य खोटा था, तो कोई क्या करता ?"

"मेरा भाग्य ? अगर तुम जैसे मेरे भाग्य फोड़ने वाले न होते, तो मेरा भाग्य कुछ बुरा न होता। तुम्हें यह भारी तिजोरी वाला जमाई चाहिये था। अब चाटो लेकर इस तिजोरी को। मेरे जीवन को बर्बाद करने वालों के कीड़े पड़ेंगे !" प्रमदा को इस समय यह भी ध्यान नहीं रह गया था, कि वह क्या कह रही थी।

लाड़कौर बाई के आग लग गई। लड़की होकर मा-बाप को गाली दे ? उसने शैतान की-सी मीठी जीभ से जवाब दिया—"यह तिजोरी तुझे ही तो मिलेगी। जिया भी, तो बुड्ढा कब तक जियेगा ? इस समय थोड़ा-सा दुःख जरूर उठाना पड़ रहा है, पर जब पैसा मिलेगा, तो तुझे कड़वा तो लगेगा नहीं ?"

प्रमदा उठकर बैठ गई। उसने अपनी मा के मुंह से ऐसा नग्न सत्य सुनने की आशा नहीं की थी। वह आग-बबूला हो कर, बोली—"पर मेरी जिन्दगी जो बरबाद हो गई, इसका क्या होगा ?"

"किसी की जिन्दगी बरबाद नहीं होती," लाड़कौर बाई ने कहा—"तेरा जी जरा अकुला-सा गया है। कल तू मंदिर में मेरे साथ महाराजा के पास चलना। वे ऐसा उपदेश देंगे, कि तेरा जी शान्त हो जायगा।"

प्रमदा बिगड़ कर एकदम जोर से कुछ कहने वाली थी, कि फिर सेठ की चिड़चिड़ी आवाज आई—"नई बहू ! कहां गई ? मेरी दवा का टाइम हो गया, और उसका कुछ पता है !"

आंसू पोंछ कर, प्रमदा एकदम उठ कर दौड़ी। उसे डर लगा, कि 'कहीं हमारी बात सुन तो नहीं ली ?' पर लीलाधर सेठ ने उस से कुछ

नहीं कहा, और नित्य की भाति पानी, दवा, पीकदानी, फल इत्यादि में नुक्स निकाले बिना, चुपचाप दवा पी कर करवट बदल ली। यदि प्रमदा इस समय अपने ही दुःख में डूब न गई होती, तो उसे इसमे कुछ-न-कुछ असाधारणता अवश्य लगती।

उस दिन से सेठ का कष्ट बढ़ गया। वह बार-बार प्रमदा को देखता, गंभीर निःश्वास छोड़ता और घड़ी-घड़ी उस पर अकारण ही क्रोध करता। जैसे वह उसके मरने की बाट देख रही हो, उसके मरने के बाद उसके पैसे से मजा उड़ाने की तैयारी कर रही हो।

बहुत विचार करने के उपरान्त अंत मे उन्हे एक उपाय सूझ गया। एक संध्या को उन्होने विशेष आग्रह कर के, प्रमदा को बाहर घूम आने के लिये कहा। मन हो, तो पारुबाई से मिलते आने की भी सलाह दी। इतने दिनों बाद इस पिंजरे से कुछ समय के लिये छूटने और पारुबाई से मिलने के विचार से प्रमदा की आत्मा फूल-सी खिल उठी।

प्रमदा के कान मे अब भी लड़कौर बाई की मीठी-मीठी बातों की प्रतिध्वनि गूंज रही थी, 'बूढ़ा जिया भी, तो कब तक जियेगा?' उसे अपनी मुक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिये था। जिस मनुष्य पर उसने अपने अंतर के प्रेम का कण भर भी नही बरसाया था, वह अब उसकी बीमारी और वासना की गुलामी से छूटना चाहती थीं। उसका यौवन, जीवन, सुख, आशायें, सब इस आदमी ने कुचल डाली थी। अब उसके जीवन का मूल्य एक कौड़ी भी नहीं रह गया था। उसकी आत्मा पुकार-पुकार कर कहती थी, कि वह कब तक इस गुलामी में बंधी रहेगी?

पर वर्षों से पड़ी हुई आदतो के अनुसार वह अपना काम नियमित रूप से किये जाती थी। केवल ठगिनी आशा उस से उसके कान में कहती, 'एक दिन तो तू स्वतन्त्र हो ही जायेगी।'

वह आज गाड़ी मे बैठी-बैठी आने वाले अपनी स्वतन्त्रता पर विचार करने लगी। जब वह स्वतन्त्र हो जायगी, तो सब से पहला काम पार्वती बाई को अपने साथ रखने का करेगी। वह एक ही ऐसी स्त्री थी, कि

जिसकी मिठास उसके जीवन में संजीवनी का काम करती थी। फिर वह यात्रा करने निकलेगी, और एक-साथ ही इतने दिनों के कारावास की नीरसता को मिटा देगी। फिर वह एक आश्रम की स्थापना करेगी। उसमें वह दुनिया भर की अपने-जैसी सताई हुई स्त्रियों को लाकर रक्खेगी। पर आश्रम की स्थापना हो सके, इतना रुपया क्या सेठ छोड़ जायेगा? उसके मस्तिष्क ने प्रश्न किया। पर इस शंका को निर्मूल समझ कर, उसने इस प्रश्न पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

उसने गाड़ी पालवा की ओर मुड़वा ली। और वह बहुत दिनों बाद मिली हुई स्वतन्त्रता का उपयोग करने लगी। गाड़ी चलते समय उसके मुंह पर टकराने वाली हवा उसके थके हुए शरीर तथा मन को बड़ी ही सुखद लग रही थी।

रास्ते मे आतीजाती हुई गाड़ियों को वह बड़े कौतूहल से देखती रही। उसने बैन्ड-स्टैण्ड पर खेलते हुए बच्चों को देखा, और अपने बीमार बालक की बात सोच कर दीर्घ निःश्वास छोड़ा। उस बालक के लिये भी तो कुछ करना ही पड़ेगा।

वह लौटती बार पारुबाई के यहाँ गई, पर वह मिली नहीं। फिर उसने अपनी गाड़ी को इधर-उधर लौटवाया, और दो-तीन घंटे में घर वापस आ गई। जब वह वापस आई, तो मारफतिया सालिसिटर उसके पति से कुछ गंभीर बातें कर रहा था।

उस रात को सेठ की बीमारी बढ़ गई। उसके आस-पास उसके सगे-सम्बन्धी और बाल बच्चे जमा हो गये। सुरेन्द्र और जीतू पता लगाने लगे, कि बाबू की तिजोरी की चाबी कहाँ रक्खी है।

सेठ को कष्ट हो रहा था, पर उसके व्यवहार में एक प्रकार उन्माद-सा और वाणी में आनन्द-सा था।। एक क्षण प्रमदा के प्रति उस के मुख पर दया और प्रेम के भाव दृष्टिगोचर होते, और वह उसे वहाँ से हटने ही न देता; पर दूसरे ही क्षण वह उस पर तिरस्कार की वर्षा करता। लोग कह रहे थे, कि सेठ को सन्निपात हो गया है।

"राड़ तो मुझे मार डालना चाहती है। फिर यह मुझे दवा क्यों देने लगी?"—टूटे हुए स्वर में सेठ चिल्लाने लगा।

प्रमदा धीरे से उसके मुंह पर झुकी, और बोली--"अभी दवा का समय नहीं हुआ।"

उसके शब्द सुन कर, और उसका मुँह अपने पास देख कर, सेठ का गुस्सा और बढ़ गया। "नहीं हुआ? नहीं हुआ? दवा का समय नहीं हुआ? मुझे दवा के बिना मार डालना है क्या?" और उसने होश में या बेहोशी में जोर से एक तमाचा प्रमदा के गाल पर मार दिया। इस तरह उनके प्राण-पखेरू जाते जाते प्रमदा को अपनी यह अंतिम भेंट देकर, उड़ गये।

प्रमदा चोट खाकर, पलंग के आगे गिर पड़ी।

बहुत दिनो के परिश्रम, जागरण तथा मानसिक संघर्ष के कारण, प्रमदा उसी समय बीमार पड़ गई। उसके चार-पाच दिन बाद होश आया। उसका बालक भी अचानक ही सेठ की मृत्यु के दो-तीन दिन बाद ही मर गया। उसकी बीमारी में घर का सामान और कीमती वस्तुएं सुरेन्द्र ने अपने घर पहुंचा दी थीं।

पांच-सात दिन बाद सुरेन्द्र उसके पास आया। उसका मुख गंभीर था। प्रमदा की ओर देखे बिना ही, उसने बात शुरू कर दी—"बाबू तो गये। अब हमें भविष्य का कुछ विचार करना चाहिये।"

एक पल के लिए प्रमदा को कुछ समझ में नहीं आया। 'बाबू गये? कहा गये?' उसका मस्तिष्क अपने मे ही उलझ गया। पर दूसरे ही क्षण सुरेन्द्र का मुंह देखकर, उसके दिमाग मे कुछ रोशनी हुई। 'सेठ मर गया! सेठ मर गया!' उसके मस्तिष्क में ये शब्द उमड़ पड़े।

जब उसे इन शब्दों का महत्व ठीक-ठीक समझ में आ गया, तो उसके सारे शरीर में एक प्रकार की मुक्ति-भावना सिहर उठी। 'मैं मुक्त हो गई! मैं मुक्त हो गई! मैं मुक्त हो गई!' उसके मस्तिष्क में ये ही शब्द गूंजने लगे। उसकी आखो मे आंसू आ गये। अपने इस भाव को छिपाने के

लिये, उसने करवट बदल ली।

सुरेन्द्र के शब्दों ने उसे होश में ला दिया—"अब रोओ मत। रोने से बाबू वापिस थोड़े ही आ जायंगे। अब तो केवल भविष्य का ही विचार करना है।" उसने आश्वासन देने का ढोंग किया। फिर भी धीरे से बोला—"बाबू का 'विल' पढ़वाना है। तुम्हारी तबीयत ठीक हो, तो सालिसिटर को बुलवायें?"

"जो तुम्हे ठीक लगे, करो," रोते-रोते प्रमदा इतन ही कह सकी।

सुरेन्द्र ने 'विल' को पढ़वाने की बात तो अवश्य कही थी, पर फिर कोई उतावली नहीं दिखाई। एक महीना बीत गया।

स्वतन्त्र हो जाने की आशा में प्रमदा की बीमारी जल्दी ही जाती रही। उसका यौवन विकृत हो गया, आशा जाती रही, उल्लास समाप्त हो गया। उसका जीवन व्यर्थ हो गया। पर इतना मूल्य देने के उपरान्त भी यदि शारीरिक और मानसिक गुलामी से मुक्ति मिल जाय, तो यह कोई साधारण संतोष की बात नही। इसलिये वे सब जो उसकी ओर उपेक्षा से देखते थे, सो भी कुछ अधिक बुरा नही लगता था।

'विल' पढ़वाने के दिन नियत समय के एक घण्टा पहले ही सुरेन्द्र, जीतू, वीमू, कान्ता, सरोज, बुड्ढे मुनीमजी तथा सेठ के एक-दो खास सम्बन्धी आदि इकट्ठे हो गये थे। या तो 'विल' का मसविदा पहले ही से जानने के कारण, या किसी और कारण से प्रमदा के प्रति लड़कों की ऐंठ ज्यों-की-त्यों बनी हुई थी। मुनीम जी भी बार-बार प्रमदा पर दया की दृष्टि डाल रहे थे, और सगे-सम्बन्धी तमाशबीनी का मजा ले रहे थे।

प्रमदा का हृदय जोर से धड़क रहा था, और उसके कानो में मुक्ति की झंकार गूंज रही थी। एक-एक पल उसे एक-एक युग-सा लग रहा था।

बाहर गाड़ी की खड़खड़ाहट हुई। कान्ता तथा सरोज जल्दी से खिड़की के पास जाकर देख आईं। "मारफतिया काका आ गये।" उन्होंने वापिस आकर कहा।

प्रमदा का हृदय बड़े जोर से धड़कने लगा।

मि० मारफतिया कमरे में आये, और बिना कुछ बोले-चाले सुरेन्द्र के पास जा बैठे। "क्यों सब तैयार है?" उन्होंने धीमे स्वर मे पूछा, और जेब से चश्मा निकालकर पोछने लगे।

सुरेन्द्र ने गर्दन हिला कर हां कर दिया।

अटैची-केस से सालिसिटर साहब ने वास्तविक हस्ताक्षरों वाला सेठ का 'विल' निकाला। इधर-उधर नजर दौड़ाकर, फिर उस पर दृष्टि जमा दी। थोड़ी देर उसने सब की आतुरता को उकसाया, और गला साफ करके पढ़ने लगा। प्रमदा के प्राण खिंच कर कानो में आ गये।

आरम्भ में 'विल' में लड़की, लड़कों, लड़कों के लड़कों, नौकर-चाकर तथा धर्मादा इत्यादि आदि का उल्लेख था। प्रमदा के पुत्र का वली सुरेन्द्र को बनाया गया था। प्रमदा के सम्बन्ध में उसमें इस प्रकार लिखा हुआ था—

'मैं अपने वारिसो को आज्ञा देता हू कि मेरी नई पत्नी प्रमदा को, यदि वह सुरेन्द्र के साथ रहे, तो दस रुपये मासिक, और अलग रहे, तो बीस रुपये मासिक देते रहें। दो हजार रुपये उसे और दिए जाएं, जिनका उपयोग वह जैसा चाहे कर सकती है। और मेरे वारिस हर पांच वर्ष बाद मेरी नई स्त्री बाई प्रमदा को सौ रुपये यात्रा-खर्च के लिये दिया करें।'

मारफतिया महोदय ये शब्द पूरे पढ़ भी न पाये थे कि प्रमदा बेहोश होकर गिर पड़ी।

निर्जनता

बारडोली ताल्लुके मे भुवालण नाम का एक गाँव है। बड़े शहर के दो मुहल्लो जितना इसका विस्तार है। सत्याग्रह की लड़ाई मे हजारों यात्रियों ने इसके दर्शन किये थे। आज भी यह गांव सरमोण के पास सिर उठाये खड़ा है।

इस गांव में आज से लगभग दस वर्ष पहले एक अंधा रामजी पटेल रहता था। बूढ़े का एक बेटा मर गया था, और एक अफ्रीका रहता था। दो लड़कियों का विवाह करके उन्हे विदा कर चुका था। घर मे एक विधवा बहू और वृद्धा पटेलनी थीं।

विधवा बहू निर्मला की उम्र लगभग पचीस वर्ष की थी। वह प्रति दिन घर का काम करती। रोटी बनाती, भैंस दुहती, और कुयें से पानी भर कर लाती। गांव में सब उसे मितभाषिणी समझते थे। और वास्तव में बात भी ऐसी ही थी। वह कदाचित् ही कभी किसी से बात करती।

निर्मला का गत इतिहास इस प्रकार था। छुटपन से ही अफ्रीका में रह कर वह बड़ी हुई थी। जब से जरा समझदार हुई, तब से वह मां-बाप के साथ बम्बई मे आ बसी थी। वहां रहते समय पिता के मन में पुत्री को शिक्षा देने की इच्छा जगी। उसने निर्मला को अंग्रेजी की पांचवीं कक्षा तक पढ़ाया, और उसमें सौंदर्य और सुन्दर संस्कारों की अभिलाषा जगाई। गांव के भद्दे उच्चारणों के बदले अपनी बेटी को नगर के उच्चारणों का प्रयोग करते देख कर, उसकी आत्मा को बड़ा आनन्द हुआ। अंत मे अफ्रीका में ही

उसकी नजर में चढ़ा हुआ रामजी पटेल का बेटा करसनदास जब उसे फिर मिला, तब अपनी लड़की का विवाह उसके साथ करके उसे ऐसा लगा, कि जैसे वह कृतकृत्य हो गया हो।

निर्मला का पिछला इतिहास इतना और है कि विधाता इतना क्रूर हो गया, कि ऐसी निर्दोष और सरल बालिका का सुख भी उससे देखा नही गया, और दो-तीन वर्ष बाद ही करसनदास की अफ्रीका में ज्वर से मृत्यु हो गई। थोड़े दिन बाद निर्मला के मां-बाप प्लेग में जाते रहे। तब से उसकी हंसती हुई दुनिया मे रुदन छा गया। उसकी प्रसन्न आत्मा मुरझा गई। और वह अपने जीवन के सब सपनो को पीछे छोड़ कर, अपने शेष दिनों को बिताने के लिये सास-ससुर की सेवा मे भुवालण गांव आ गई।

भुवालण गांव आने के उपरान्त एक पूरा वर्ष निर्मला ने शोक मे घर के भीतर ही बिता दिया। यह शोक बाहरी और दिखावटी नहीं, बल्कि एकदम आंतरिक था। उसकी आत्मा हाहाकार कर उठती। वह बारम्बार आंसू बहाती। एक-दो बार उसने दुनिया के अंधकार से घबरा कर, आत्म-हत्या करने का असफल प्रयत्न भी किया था। भुवालण की नई, अपरिचित दुनिया में ही उसे सारा जीवन बिताना है, इस विचार से ही उसका सारा शरीर काप उठता था। आस-पास की भोली पड़ोसिने उसका दुःख देख कर समझे बिना समझे उसे सांत्वना देने के लिये आतीं, पर इससे उसका दुःख और भी तीव्र हो उठता।

इस प्रकार निर्मला के घंटे बीते, दिन बीते, महीने बीते, और वर्ष भी बीत गये। धीरे धीरे उसके अंतर मे एक प्रकार की जड़ता आने लगी। स्नेहमयी सास का भार हल्का करने के लिये, उसने घर का सारा काम अपने ऊपर ले लिया।

पर इस नई दुनिया के साथ सामंजस्य स्थापित करने में पग-पग पर उसका मन साथ न देता। झाड़-बुहारा करते उसे बड़ी मुश्किल से गर्दन सीधी करने को मिलती। बर्तन मांज-मांज कर कठोर हो गये अपने हाथों

को वह इस प्रकार घृणा से देखती, कि जैसे वे किसी दूसरे के हों। नंगे-पांव फिरते-फिरते जब कभी उसका ध्यान अपने काले नाखूनों और गंदे पांवो पर पहुच जाता, तो वह खूब पानी डाल-डाल कर, उन्हें घिस-घिस कर साफ करती।

पर सब से अधिक दुःख तो उसे तब हुआ, जब उसने पहले-पहल लॉग बांध कर धोती पहनी। उसकी चलती, तो वह ऐसा कभी न करती। पर विधवा स्त्री गांव के रिवाज को छोड़ कर, दूसरी तरह के कपड़े पहन सके, इतनी हिम्मत दिखाने के लिये एक वीरांगना की शक्ति चाहिये। और निर्मला वीरागना तो थी नही। वह तो एक साधारण, सीधी-सादी शहर में पली हुई कुमारी थी, जो इस गाव में विधवा होकर आ पड़ी थी। उसमें ऐसी हिम्मत होने की कल्पना करना भी व्यर्थ था।

फिर भी इस बात पर उसकी आत्मा ने महीनों तक विद्रोह तो किया ही। और कभी जब उसकी दृष्टि किसी शहर की स्त्री पर पड़ जाती, तो फिर उतने ही आवेग से उसका अंतर उद्वेलित हो उठता। यदि संभव होता, तो वह अवश्य अपने नंगे-पांव देख कर, हिरनी की भांति जंगल में भाग जाती!

पर निर्मला के अंतर में चाहे जितना विद्रोह हो, धीरे-धीरे उसे गांव के संस्कार तो चिपटने ही लगे। उसकी पोशाक बदल गई, उसका रंग-रूप बदल गया, उसकी चाल बदल गई, और उसका चेहरा भी बदल गया। और आज उसे देखकर कोई भी नहीं कह सकता था, कि यह वही वर्षों पहले की मदमाती चाल से चलने वाली, सुन्दर और आकर्षक निर्मला है। अंत में रही-सही उसकी भाषा भी बदल गई।

निर्मला को जब पहले-पहल अपने ग्रामीण उच्चारणों का भान हुआ तो उसकी आत्मा जल कर राख हो गई। उसकी केवल यही एक बची हुई संपत्ति कोई न ले जाय, इस डर से उसने बोलना बहुत कम कर दिया। और तब से वह लगभग एक मूक-यंत्र की भांति काम करने लगी। विधवा स्त्री कम बोले, और किसी से न मिले, तो इसमें उसकी सुशीलता

समझी जाती है। फिर कोई इस विषय में सोचता ही क्यों ?

पर मनुष्य एक संगति-प्रिय प्राणी है। किसी योगी अथवा पागल को छोड़ कर, मनुष्य से बोले बिना, बात किये बिना या दूसरों के संपर्क में आये बिना नहीं रहा जा सकता। इससे अकेले आनन्द भी नहीं मनाया जाता, और शोक में भी इसे दूसरे मनुष्य की सान्त्वना तथा सहानुभूति की आवश्यकता पड़ती है। अपनी शक्तियों का परिचय कराने के लिये, अथवा अपनी असफलताओं से भागने के लिये भी वह दूसरे मनुष्य का सहवास खोजता है। 'अकेले तो बन मे पेड़ भी नही रहते।' और अकेला आदमी भी लगभग मृत-तुल्य ही है।

पर निर्जनता कई प्रकार की होती है। भरी बस्ती मे भी एक आदमी सहरा मरुभूमि की-सी निर्जनता, एकाकीपन अनुभव कर सकता है। मनुष्य हर किसी से बात करना नहीं चाहता। सुख-दुःख की बातें किसी भी रास्ता चलने वाले से नहीं कही जातीं। हृदय की भावनायें तथा मस्तिष्क मे उठने वाले तर्क समान मानसिक सामर्थ्य वाले मनुष्य के अतिरिक्त और किसी से कहने में रस नहीं आता। और यदि ऐसा कोई व्यक्ति न मिले, तो जीवन शुष्क, शून्य-सा हो जाता है।

साथ-ही-साथ मनुष्य के विकास के लिये बाहरी दुनिया का संपर्क आवश्यक है। छोटी-छोटी कटुताओं को भूलने के लिये, आस-पास की सृष्टि के साथ एकता अनुभव करने के लिये उसे समुदाय के बीच जितने उत्साह का अनुभव होता है, उतना और कहीं नहीं। निर्मला का बाहर की दुनिया से दोनों प्रकार का संबंध लगभग टूट गया था। उसका कोई मित्र नहीं था, अथवा मैत्री करने योग्य उसे सारे गांव में कोई दिखाई नही देता था।

प्रभात के धुंधलके में ही उठ कर, वह भैंस दुहती, और फिर कुयें पर पानी भरने जाती। उस समय यदि उसका चित्र कोई खींच सकता, तो वह इस प्रकार का होता : सूखी-साखी, साँवली, बड़ी-बड़ी आँखें तथा बैठे हुए गालों वाली, खूब कस कर बंधे हुए बालों पर दो घड़े रक्खे, लांग बांधने से पैर खुल जाने के कारण जैसे शरमाती हुई-सी चलने वाली गांव की एक सुन्दरी अथवा साधारण स्त्री।

बूढ़े रामजी का लड़का भवानजी बहुत वर्षों बाद अफ्रीका से लौटा था।

बहुत वर्षों बाद जब से लड़के के घर आने की बात सुनी थी, तभी से बूढ़े-बुढ़िया का मन फूला न समा रहा था। और जब से वह घर आया, तब से तो बेटा क्या-क्या खायेगा, क्या-क्या करेगा, दोनों इसी की चिंता में पड़े रहते थे।

निर्मला के समस्त जीवन में इससे कुछ गति आ गई थी। जिस दुनिया में बहुत समय पहले वह एक बार रह चुकी थी, उसमें से दो व्यक्ति सदेह आने वाले थे। किसी ने उससे कहा नहीं था, फिर भी उसने अपने हाथों सुन्दर बनाया हुआ घर बार-बार बुहारा, स्वच्छ किया। करीने से तख्ते पर लगे हुए बर्तन शीशे की तरह चमका दिये, और चुपचाप आतुरता से दोनों की प्रतीक्षा करने लगी।

अंत में वे दोनों आये। दयालजी ने भवानजी के मुंह से भाभी की पढ़ाई के विषय मे सुन रक्खा था, इसलिये स्वाभाविक जिज्ञासा से उसने निर्मला की ओर देखा। जिस स्त्री के विषय में भवानजी बातें किया करता था, क्या यह स्त्री वही है? पल भर के लिये उसकी आंखों को विश्वास नहीं हुआ। उसने चुपचाप अपनी दृष्टि दूसरी ओर फेर ली, और जैसे कुछ हुआ ही न हो, इस प्रकार भवानजी के साथ इधर-उधर की बातें करने लगा।

निर्मला ने इस दृष्टि में निहित निराशा और तिरस्कार को भांपा। इतने वर्षों बाद पहली बार एक प्रकार के उत्साह की अनुभूति में डूबा हुआ उसका हृदय मुरझा गया। उसकी आंखों में अंधेरा छा गया। और चक्कर खाता मस्तिष्क लिये, वह पीछे के घर मे लकड़ी लेने चली गई।

अंधे रामजी बूढ़े ने पलंग पर बैठे बैठे भवानजी की आवाज सुनी। "बेटा, आ गया भाई?" उसके स्वर मे पुत्र-वात्सल्य का गहन भाव था।

"हां, बापा। अपने इस मित्र दयालजी को भी साथ लेता आया हूं। बड़ा विद्वान आदमी है। पिछले वर्ष यह अफ्रीका में मेरे साथ था। बम्बई में मिल गया। मैंने कहा, 'चलो, पंद्रह दिन के लिये जरा तफ़रीह ही रहेगी।"

"अच्छा किया, बेटा। भाई, हम तो गांव के आदमी हैं। हमें शहर की बातें तो आती नहीं। पर घर अपना ही समझना, और जिस चीज की जरूरत हो, माग लेना।"—बूढ़े ने सहज भाव से कहा।

दयालजी यह भाव देखकर, नम्र हो गया। "काका, मैं जरा भी शरमाने वाला आदमी नहीं हूं। तुम निश्चिन्त रहना।"

उस दिन से दयाल जी और भवानजी की जोड़ी घर में रहने लगी। ऊपर चौबारा नहीं था, इसलिए दोनों मित्र दहलीज में पलंग डालकर बैठते, और उनके साथ बातें करने वाले गांव में अधिक न होने के कारण, अकेले-अकेले ही गांव की, देश की, परदेश की, राज्य की, धर्म की, समाज की, रीति-रिवाजों की, रुढ़ि की तथा अन्य विषयों की बातें करते। उनके कंठ-स्वर खाना बनाती हुई और काम करती हुई निर्मला के कान में पड़ते, और वह ध्यान से उनकी बातें सुनती। बुद्धिमानों के वर्ग में इनके विचारों या बातों को कोई विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता था, और इनका दृष्टि-क्षेत्र भी बहुत संकीर्ण था। पर निर्मला की तृषित आत्मा जैसे चातक स्वाति की बूंदों को ग्रहण करता है, उसी प्रकार उनकी बातों को ग्रहण करती। वह चुपचाप काम करती रहती। कभी भी इन मित्रों के पास वह आने की हिम्मत न करती, फिर भी इनकी बातें दूर-दूर से ही सुन कर उसे ऐसा लगता, कि जैसे बाहर की विशाल दुनिया के साथ उसका टूटा हुआ सम्बन्ध फिर जुड़ गया हो।

निर्मला एक दिन पानी के घड़े भरे घर में आ रही थी। दयालजी दहलीज में पलंग पर पड़ा-पड़ा एक अंग्रेजी की पुस्तक पढ़ रहा था। भवानजी वहा नही था।

निर्मला को देखते ही, दयालजी ने दृष्टि ऊपर उठाई।

"भाभी, भवान कहां गया?" उसने पहली बार निर्मला के साथ बातें करने का प्रयत्न किया।

निर्मला सकुचाई। वर्षों तक किसी के साथ भी न बोली हुई जीभ ने विद्रोह किया। "यहीं बाहर चबूतरे पर होंगे, या जंगल गये होंगे," वह

कह तो गई, पर बाद मे पछताई। वह भीतर जाने लगी।

"भाभी, कोई खा तो जायगा नहीं। इस तरह भागी क्यों जा रही हो?"

निर्मला रुक कर, खड़ी हो गई।

"तुम्हारे बारे में तो मैंने बहुत-सी बातें सुनी थीं। पर तुम तो यहां गांव में बिल्कुल गांव की-सी ही हो गयी हो।"

एक गम्भीर निःश्वास अनजाने में निर्मला के मुंह से निकल गया। "भाई, यह कहने से क्या फायदा? मैं तो अब समझो कि मर गई।" उसकी आंखों में आंसू भर आये।

"इस प्रकार हताश क्यों होती हो, भाभी? तुम जैसी स्त्रियों को तो अपनी जाति का उद्धार करने के लिये बाहर आना चाहिए। तुम एक काम करो। बम्बई में 'महिला निवास' नामकी संस्था है। वहां कुछ दिन जा कर रहो। तुम्हारा मन फिर ताजा हो जायगा, और तुम उपयोगी जीवन बिता सकोगी।" फिर सामने भवानजी को आते देखकर, उसने कहा—"भवानजी, मैं भाभी से कह रहा हूं, कि तुम कुछ दिनो 'महिला निवास' में जाकर रहो, तो अच्छा हो।"

भवानजी ने किंचित शंका से दोनों की ओर देखा। निर्मला की ओर देख कर, वह जरा तिरस्कार से हंसकर बोला—"ठीक है। पर भाभी तो अब 'महिला निवास' के योग्य रही नहीं। इनकी आत्मा तो अब घर की झाड़-बुहार में फंस गई है।" उसकी क्रूर हंसी ने निर्मला को डरा दिया।

इस क्षण निर्मला का जीभ काट कर मर जाने का मन हुआ। अपनी भयंकर दुर्दशा का खयाल उसे एक ही क्षण में आया, और एक ही क्षण मे चला भी गया। वह अधिक न रुक सकी, और सिर झुकाये घर के अन्दर चली गई। पीछे से दोनो मित्रो की हंसी की आवाज उसके कानों में आकर गूंजती रही। इस इतनी बड़ी दुनिया में उसका कोई नहीं, यह भावना उसी क्षण उसके मन में बड़ी ही तीव्रता से चुभी और उसे त्रस्त करके, अन्तर के कोने कोने में व्याप्त हो गई।

जो निश्चय निर्मला पूरे दस वर्षों में भी नहीं कर सकी थी, वह भवानजी के क्रूर हास्य से प्रेरित होकर उसने पल-भर में कर लिया। उसने उसी घड़ी भुगालण गांव छोड़ देने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

रात में जब सब सो गये, तो उसने अपनी एक छोटी-सी पोटली बांधी। थोड़े से कपड़े, जन्म भर की जोड़ी हुई पांच-सात रुपये की रेजकारी और बीस-पच्चीस रुपये के चांदी के हल्के-हल्के कड़े—यही उसकी कुल पूंजी थी।

पोटली हाथ में लिये, वह पिछले दरवाजे से बाहर निकली, और घर की दीवार फांद कर, रास्ते पर पहुंच गई। उसके कठोर पैरों को अंधेरे में तथा ऊबड़ खाबड़ रास्ते में चलने में कोई कठिनाई नहीं हुई। सुबह होने से पहले ही वह बारगोली स्टेशन जा पहुंची। उसने बम्बई का टिकट कटाया, और गाड़ी में जो पहला थर्ड-क्लास का डिब्बा दिखाई दिया, उसी में जा बैठी।

गाड़ी चल दी। पर साथ बैठे हुए मुसाफिरों की ओर उसने नहीं देखा। उनकी ओर देखने की या तो उसके पास फुर्सत नहीं थी, या हिम्मत नहीं थी। वह खिड़की के बाहर देखती हुई, अपने भविष्य पर विचार करने लगी। गाड़ी में बैठने तक उसे अपने आवेश में रक्खे हुए कदम की भयंकरता नहीं सूझी थी। पर वह अब गाड़ी की गति के-से वेग से उसके मस्तिष्क में उमड़ पड़ी। उसे वर्षों पहले देखा हुआ बम्बई याद आया। वह अकेली बम्बई पहुंच कर कहां जायगी, क्या करेगी? किसी से उसकी जान-पहचान नहीं थी। पास में पैसा भी नहीं था। और हो भी, तब भी उस-जैसी अनजान स्त्री बम्बई-जैसे बड़े शहर में कहां और किस के पास जाय? उसकी आंखों से आंसू की बड़ी-बड़ी बूंदें ढुलक पड़ीं, और उसके रुन्धे हुए कंठ से सुबकियों की आवाज निकली।

सामने की सीट पर सफेद खादी के वस्त्र और खादी की टोपी पहने एक गांधी पन्थी स्वयंसेवक बैठा था। उसने निर्मला की यह दशा देखी। स्वाभाविक दया से उसने पूछा—"बहिन जी, कहां जा रही हो?"

निर्मला ने प्रश्न पूछने वाले की ओर चौंक कर देखा। उसने अपने आंसू पोंछ डाले। अपने प्रति किसी को सहानुभूति प्रदर्शित करते देख कर, अत्यन्त दुःख मे भी उसकी आत्मा को किञ्चित् प्रसन्नता हुई। उसने विश्वास के साथ कहा—"बम्बई।"

"वहां तुम्हारे कोई सगे-सम्बन्धी रहते होंगे?" स्वयंसेवक ने फिर पूछा।

"न, भाई। मेरा वहां कोई नहीं।" और फिर उसकी आंखों में आंसू भर आये।

स्वयंसेवक का अन्तर दया से भर गया। बोला—"बहिन, तब तुम किसके घर जा रही हो?"

"बस भगवान का ही सहारा है।"

इस प्रकार एक अकेली युवती बम्बई जा रही है, इससे स्वयंसेवक को और भी आश्चर्य हुआ। उसने धीरे-धीरे निर्मला की सारी बातें उससे निकाल लीं। उन्नति के अवसर की खोज में यह निर्बल स्त्री इस संसार की विशालकाय मरुभूमि में अकेली निकल पड़ी है, इस विचार से स्वयंसेवक के अन्तर में एक प्रकार के पूज्य भाव उमड़ पड़े। उसने धीरे से कहा—"बहिन, 'महिला-निवास' तो मैंने देखा है। मैं तुम को वहां पहुंचा दूंगा।"

"बड़ी कृपा होगी भाई।" उसके मुख पर कई वर्षों के बाद आज पहली बार सहज-मुस्कान के चिन्ह दिखाई दिये। उसकी निराशा जाती रही। उसने विश्वास के साथ अपने नाम-गांव सहित अपनी जीवन-कथा आरम्भ की। इस कथा में निहित सरल करुणा से स्वयंसेवक का अन्तर भीज गया।

निर्मला को 'महिला-निवास' में आये हुए करीब तीन महीने बीत गये। जब वह आयी थी, तो उसके उत्साह की सीमा न थी। बताया हुआ हर काम वह बड़ी तत्परता से करती। गांव का अभ्यस्त शरीर होने के कारण वह काम से कभी जी न चुराती थी। किसी प्रकार के मोटे-झोटे अन्न से

उसे कष्ट न होता था। अपने अध्ययन को ताजा करने तथा अपने उच्चारणों को सुधारने मे भी वह यथाशक्ति परिश्रम करती रही। इन तीन महीनो मे ही उसकी बोली में फर्क पड़ने लगा।

काम करने वाली ऐसी अच्छी नौकरानी मिल जाय, तो उसे पढ़ाने की पर्वाह किसे हो? काम करती थी, इसलिये वहां कामों की कमी न थी। निर्मला की बात पूछने वाला या उसकी कुछ सहायता करने वाला तो कोई वहां था नही, जो उसके मन और बुद्धि के विकास की चिन्ता रखता। संस्था का अनाज खा कर संस्था का काम करना तो कोई उपकार का काम न था।

नये काम और नये वातावरण में पहले-पहल निर्मला को कुछ बुरा न लगा, बल्कि इस परिवर्तन से उसे खुशी ही हुई। उसने अपने कपड़े पहनने का ढंग बदल दिया। बोल-चाल सुधारने लगी। हर एक की सहायता के लिये तैयार रहने की तत्परता दिखाने लगी। पहले वह बिलकुल नहीं बोलती थी, पर अब हर आदमी से बात करने का अवसर खोजने लगी।

जब कोई विकास की खोज मे निकल पड़ता है, तो 'इतना ही, इसके आगे नहीं' का बंधन स्वीकार नहीं करता। दिन-दिन निर्मला की पढ़ने की इच्छा बढ़ने लगी। किन्तु 'महिला-निवास' उसकी इच्छा को पूर्ण करने का स्थान नहीं था। संस्था के चालक निराधार स्त्रियो को रख लेते हैं, यह कोई मामूली उपकार थोड़े है! इसलिये इन स्त्रियो का पढ़ने की अपेक्षा संस्था के लिये उपयोगी होना पहली आवश्यकता होती है।

'महिला-निवास' का वातावरण संस्थापकों के आदर्शों तथा ऊंचे-ऊंचे उद्देश्यों के बावजूद भी, पता नही क्यो, छोटी-मोटी ईर्ष्या और कलह से दूषित रहता था। मूर्ख स्त्रियो के संस्कार सुधारने के लिये, उनके जीवन को उपयोगी बनाने के लिये, उनके अंतर में आदर्श और सौन्दर्य भरने के लिये और देश के लिये सेविकायें तैयार करने के लिये 'महिला-निवास' के संस्थापकों के बड़े बड़े सुन्दर उद्देश्य थे, पर इन उद्देश्यो को रखना एक बात है और उन्हें आचरण में लाना दूसरी बात। इस संस्था के आदर्श केवल कहने के

लिये थे। यहां पर रहने वाली स्त्रियों का जीवन मानवता के नाम पर कदाचित एक कलंक के सिवा कुछ भी न था।

निर्मला के लिये इन तीन महीनो मे ही 'महिला-निवास' में रहने की नवीनता समाप्त हो गई। अभी तक उसने अध्ययन का श्रीगणेश भी न किया था। भुवालण के शांत वातावरण वाले घर में जितनी शान्ति थी, लगता था, जैसे यहां उस शान्ति का भी अपहरण हो गया हो। 'महिला-निवास' मे मिलने आने वाले कितने ही सुशिक्षित स्त्री-पुरुषों को वह देखती और जैसे उन-जैसी ही बनने की इच्छा उसके हृदय मे प्रज्वलित हो उठती। इस संस्था में रह कर बारह वर्षों में भी ऐसी हो सकेगी या नहीं, यह शंका धीरे-धीरे उसके मन में घर बनाने लगी।

एक दूसरी बात भी उसे बेचैन कर रही थी। भुवालण में कुछ नहीं तो कोई उससे द्वेष तो नहीं रखता था। पर यहां उसकी कार्य-तत्परता के कारण कहीं ऐसा न हो कि यह अधिकारियों को प्रिय हो जाय, इस डर से उसके प्रति दूसरी स्त्रियो का द्वेष कब का शुरू हो गया था। धीरे-धीरे उसके नाम की झूठ-सच शिकायतें अधिकारियों के कानों में पहुंचने लगीं। उसमें खोट और दुर्गुण खोजे जाने लगे। एक भाग कर आई हुई स्त्री के रूप में उस पर उचित-अनुचित व्यंगों और तिरस्कारों की वर्षा शुरू हो गई।

अब यहां निर्मला की सांस घुटने लगी। उसकी बेबसी और अकेलापन हजार गुना बढ़ गया। उसे रोने के लिये भी कोई स्थान न था। फरियाद करने के लिये कोई परिचित तक भी न था। उसकी संस्कार-विहीन समझी जाने वाली सुसंस्कृत आत्मा इस स्थिति के सामने अकुला उठी। विकास के अवसर की खोज में वह घर से निकल कर शहर में आयी थी, पर अब यहां से जाने के लिये कोई राह न थी। आखिर उसने उस जीवन से थक कर और व्याकुल हो कर जिस आदमी ने उसकी एक बार मदद की थी, उसी स्वयंसेवक, कांकू भाई, को लिखा—

'भाई, यहां अब मेरा गुजर होना मुश्किल हो गया है। अगर कहीं बर्तन मांजने का काम दिलवा सको, तो मैं तुम्हारा उपकार जन्म-जन्मान्तर

तक न भूलूंगी।'

उसने यह पत्र अहमदाबाद के आश्रम के पते पर लिखा। वह सोचती थी कि ऐसा देशभक्त मनुष्य महात्माजी के चरणों को छोड़ कर और कहा रह सकता है।

दिन बीतते गये। न निर्मला का अध्ययन ही आगे बढ़ा, न उसका कोई मित्र ही बना और न कीकू भाई का जवाब ही आया। एक दिन सुबह को महिला-निवास की व्यवस्थापिका माताजी का बुलावा आया। माताजी उस पर प्रसन्न हुई होगी, इस विचार से खुश हो निर्मला कापते हुए पैरों से माता जी के आफिस के जीने पर चढ़ी।

आफिस में माताजी अकेली न थीं। दूसरी मास्टरनिया और आश्रम की स्त्रिया भी उनको चारों ओर से घेरी बैठी थीं।

माताजी कुछ मिनटों तक गंभीर चेहरे से निर्मला की ओर देखती रहीं। फिर बोलीं—"बाई, तुझे एक बात पूछने के लिये बुलाया है।" उन्होंने धीरे से कहा—"हमारे आश्रम की उजलीबाई की पेटी में पाच रुपये रक्खे थे। वे नहीं मिल रहे हैं। तुझे कुछ पता है?"

निर्मला पूर्णतया इस प्रश्न का अर्थ न समझ सकी। बोली—"नहीं, माताजी! मुझे क्या पता?"

माताजी के स्वर में कठोरता बढ़ गई। "बाई, यह कहती है कि जब उसने रुपये पेटी में रक्खे थे, तब तू ही इसकी कोठरी में थी।" माताजी ने आसपास की स्त्रियों की ओर एक सांकेतिक रीति से देखा। उनमे से कुछ ने उस बात का समर्थन करते हुए गर्दन हिला दी।

"नही, माताजी। मैं कुछ नही जानती। इसने पेटी खोली तो जरूर थी, पर रुपये रखते हुए मैंने नहीं देखा। निर्मला भीतर-ही-भीतर भयभीत होने लगी। वह समझ गई कि उस पर चोरी का आरोप लगाया जा रहा है। उसकी आंखों मे आंसू आ गये।

"बाई, उजली को शंका है कि ये पैसे तूने लिये है।" माताजी के शब्दों मे न्यायाधीश से भी अधिक आडम्बर था। "इसलिये यदि तुझसे

भूल हो गई हो, तो स्वीकार कर ले। नहीं तो परिणाम अच्छा नहीं होगा।"
माताजी ने जो कहा, वह ठीक कहा या नहीं, यह देखने के लिये आस-पास देखा। किसी के मुंह पर भी माताजी के शब्दों की यथार्थता के विषय में तनिक भी शंका न थी।

निर्मला जोर से रो पड़ी। "माताजी, मुझ पर चोरी का आरोप लगा रही हैं? मैंने लिया हो, तो आप जो कहें, वही कसम खाने को मैं तैयार हूं। इस के बारे में मैं कुछ नहीं जानती।"

"बाई, मान जा। नहीं तो परिणाम अच्छा न होगा।" एक दूसरी अधिकारिणी ने अपने शब्दों के नैतिक बल से माताजी की मदद करने के उद्देश्य से कहा—"माताजी, ये लोग इस तरह नहीं मानती। इन्हें प्रसाद चाहिये। इस तरह पैसे चोरी जाने लगे, तो हमारे 'महिला-निवास' की प्रतिष्ठा कैसे रहेगी?"

एक तीसरी महिला बोल उठी—"बाई, मान जा। नहीं तो यह छड़ी देख रही है न?"

निर्मला के आंसू सूख गये। वह भयत्रस्त-सी उस महिला और छड़ी की ओर देखने लगी।

सब-की-सब यह समझ कर कि अब यह ठिकाने आ जायेगी, मुस्कराने लगीं।

"मुझे मारेंगी? मैंने चोरी नहीं की, तब भी मुझे मारेंगी? आप लोग इस प्रकार के अन्याय कर के संस्था को चला रही हैं?" त्रस्त निर्मला क्या कहे जा रही थी, उसका उसे कुछ पता नहीं था।

"देखो तो, बड़ी संस्था के अन्यायों की बात करने वाली आई है। भाग कर आयी थी, तब से आज तक पाल-पोस कर मुफ्त का खिलाया, उसका कुछ नहीं! निकालती है वे रुपये, कि दिखायें मजा?" शब्दों के साथ सटाक से छड़ी निर्मला के शरीर पर जा पड़ी। जोर से चीख कर निर्मला बैठ गई।

इसी क्षण कीकू भाई आफिस में निर्मला की खबर लेने के लिये घुसा।

वह बम्बई आया था। एक स्वाभाविक जिज्ञासा से, जिस स्त्री को उसने 'महिला-निवास' में पहुंचाया था, उसकी खबर लेने चला आया था। आफिस में घुसते ही अपने सामने का दृश्य देख कर, वह एकदम हक्का-बक्का रह गया। "निर्मला बहिन, क्या हुआ? यह सब क्या है?"

बाहर के एक आदमी को देख कर सब स्त्रियां सन्नाटे में आ गयी। निर्मला डरी हुई हिरनी की भांति कीकू भाई के पैरों पर आ गिरी। "भाई, मुझे बचाओ! सब मुझ पर चोरी का आरोप लगा रहे हैं।" उसके आंसू रोकने पर भी नहीं रुक रहे थे।

कीकू भाई का मिजाज बिगड़ गया। निर्मला की जिस सरल आत्मा के दर्शन उसने महीनों पहले कुछ घंटों के लिये गाड़ी मे किये थे, वही निर्मला चोरी कर सकती है, यह वह किसी तरह भी नहीं मान सकता था। उसने क्षुब्ध हो कर कहा—"माताजी, आप यह संस्था इस प्रकार जोर के बल पर चला रही हैं? इस बहिन ने चोरी की हो, यह तो मैं मान ही नहीं सकता। और मान भी लूं, तो न्याय को अपने हाथ में लेने वाली आप कौन होती हैं?"

माताजी ने कुछ बोलने का प्रयत्न किया, पर शब्द उनके गले में ही अटक गये। उनकी सारी सहायिकायें स्तब्ध हो गयीं। कीकू भाई ने निर्मला को उठाते हुए कहा—"बहिन, चल, यह जगह तेरे रहने योग्य नहीं। इतनी बड़ी दुनिया में तुझे दाल-रोटी कहीं भी मिल जायेगी।"

निर्मला चुपचाप आंसू पोंछकर खड़ी हो गई। उसने माताजी को अंतिम प्रणाम किया। और वह तथा कीकू भाई दोनों दरवाजे से बाहर निकल गये।

कीकू भाई का सात्विक क्रोध तो निर्मला को छुड़ा कर शान्त हो गया, पर अब 'महिला-निवास' से बाहर निकल कर वह उसे ले कर कहां जाय, यह एक टेढ़ा सवाल बन गया। उसका घर बम्बई में न था, और होता भी, तो उस जैसा एकाकी आदमी, जिसका विवाह भी नहीं हुआ था, ऐसी एक

अनजान स्त्री को घर में कैसे ले जाता ? अंत मे बहुत सोचने के उपरान्त उसने उसे अपने एक परिचित सेठ के यहा छोड़ आने का निश्चय किया।

वह निर्मला को लेकर ललित सेठानी के यहां गया। "बहिन, मुझे तुम से एक काम आ पड़ा है। मैं इस अनाथ स्त्री को तुम्हारे यहां छोड़ने आया हूं। इसका कोई है नहीं। यह मेरी धर्म की बहिन है। इसे रख लोगी, तो मेरे ऊपर बड़ा भारी उपकार करोगी।"

सेठानी ने निर्मला को पैर से सिर तक देखा। उसकी दीन मुद्रा उसे पसन्द आई। कुछ दिनो से उसका रसोइया भी भाग गया था। वह बोली—"बाई, रसोई करना आता है ?"

निर्मला ने गर्दन हिला कर 'हां' जताई।

"कीकू भाई, कोई फ़िकर की बात नहीं। इसे मेरे यहां रख जाओ। मेरे यहा रसोई-पानी के काम में मदद करेगी, तो मुझे कुछ भार नहीं मालूम देगा। मैं थोड़ी-बहुत तनख्वाह भी इसे दे दिया करूंगी।"

सेठानी के शब्द सुन कर कीकू भाई निश्चिन्त मन से निर्मला को वहां छोड़ गया।

काम की अभ्यस्त निर्मला को सेठानी के यहां का काम बहुत अधिक न लगा। वह जैसे भी हो, सेठानी को प्रसन्न करने लगी। वह उसके हर काम में हाथ बटाने लगी। रात में अपने आत्म-विकास के लिये वह बहुत देर तक पढ़ने भी लगी। बड़े घरों में घर वालों के लिये निरुपयोगी, पर दूसरों के लिये अत्यन्त उपयोगी पुस्तकों की अलमारियां भरी पड़ी रहती हैं। सेठ के यहां भी ऐसी पुस्तकों की कमी न थी।

एक वर्ष तक निर्मला इस घर में चैन से रही। उसमें परिवर्तन भी बहुत हुआ। उसका ज्ञान बढ़ा। जरा बड़ी दुनिया देखने से उसकी सुन्दरता बढ़ी और उसके शरीर के रूप-रंग भी निखर आये। वर्ष भर पहले की ही निर्मला यह है, अब यह कल्पना करने में भी जरा कठिनाई होती थी।

गरीब का भाग्य अधिकतर गरीब ही होता है। सेठानी को निर्मला का विकास बड़ा हलकापन लिए हुए और आंखों मे चुभने वाला लगा। अधेड़

उम्र वाले सेठ के मन में भी सेठानी के अतिरिक्त एक दूसरी सुन्दर स्त्री को प्रतिदिन घर में देखते-देखते विकार-वासना जग गई। परिणाम स्वरूप बड़ी ही अरुचिकर घटनाओं के बीच निर्मला को सेठ का घर छोड़ देना पड़ा।

निर्मला का जीवन दुःख के साचे में ही ढला था। उसे वहां से जाना पड़े, तो कहा जाय, इस विषय में उसने विचार कर लिया था। सारी दुनिया में उसके साथ निःस्वार्थ सम्बन्ध रखने वाला केवल एक कीकू भाई था। उसके आदर्श पर ही चल कर निर्मला ने भी सत्याग्रह में सम्मिलित होने की बात तै कर ली थी।

यह १९२१ का सत्याग्रह आरम्भ होने के पहले का समय था। उस समय देश भर में महात्मा गाधी का डंका बज रहा था। वे 'युद्ध' की तैयारी करने और जनता को जगाने के लिये उन दिनों गाव-गाव का दौरा कर रहे थे। लोग फंड में खूब जल्दी-जल्दी पैसा देते,' विदेशी कपड़े जलाते और सूत के धागों के बल पर स्वराज्य प्राप्त करने को अधीर हो रहे थे। उस समय प्रति दिन 'राम-राज्य' का उल्लेख करने वाले भाषण होते। 'नवजीवन' घर-घर पढ़ा जाता। जैसे सूर्य निकलने पर सब तारे अस्त हो जाते हैं, उसी प्रकार गांधीजी के सामने सब नेताओं का तेज धुंधला पड़ गया था। सब प्रति दिन गांधी जी की जय पुकारते। सच्ची अथवा झूठी खादी खरीदने में उत्साह प्रदर्शित करते हुए सब लोग जगह-जगह राज्य-द्रोही समझी जाने वाली बातें करते हुए दिखाई देते थे।

सेठ के घर आने वाला 'नवजीवन' निर्मला भी प्रतिदिन पढ़ती थी और घर में होने वाली चर्चाओं को भी ध्यान दे कर सुनती थी। सेठ के यहां से निकलने के उपरान्त उसने आश्रम में जाने के लिए सीधे अहमदाबाद का टिकट कटा लिया। उस-जैसी अकेली स्त्री देश की ऐसी परीक्षा के समय स्वयं को तथा अपनी सेवा को देश के चरणों में समर्पित न करे, तो कब करेगी?

सत्याग्रह-आश्रम में उस समय खूब भीड़ रहती थी। देश के विभिन्न भागों से प्रति दिन नये अतिथि गाधीजी के दर्शन के लिये आते थे और

उन सब को रसोई बना कर खिलाना उन आश्रमवासियों का महान कर्तव्य हो गया था। देश-भक्ति के कार्य में लगी हुई स्त्रियों में से कुछ स्त्रियों पर इस राष्ट्रीय अन्न-क्षेत्र के यज्ञ का पूरा भार था, इसलिये स्वागत करने का रिवाज आश्रम में न होने पर भी निर्मला का आगमन स्वागत के योग्य ही समझा गया।

आश्रम में कोई किसी का नहीं था और फिर भी सब समस्त देश के थे। निर्मला भी किसी की नहीं थी, इसलिये सारे देश की होने में उसे तनिक भी कठिनाई नही पड़ी। वह आश्रम में आई और इसकी आत्मा प्रसन्न हो उठी। भोजन बनाते-बनाते और चर्खा कातते-कातते उसे बहुत-सी नई नई बातें सुनने को मिल जातीं। बार-बार उसे देश के महान् नेताओं के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होता। सरला देवी चौधरानी का मीठा कंठ और भारतवर्ष की बुलबुल की आकर्षक वाणी वह पास से सुन सकती थी। बड़े भाई, छोटे भाई की प्रचंड हास्य-ध्वनि वहां बार-बार गरजती और मानव-समुदाय की अगणित धारायें निर्मला के अन्तर मे लहरों का संचार करती हुई प्रति-दिन उसके पास से गुजरती।

रात मे नदी-किनारे आश्रम की भजन-मंडली जमती। अगणित तारों का चंदोवा या अकेले चन्द्रमा की जगमगाहट साबरमती के नीर मे प्रतिबिम्बित होती। फूंस की चटाइयों पर बैठ कर छोटा-सा स्त्री-पुरुषों का समूह गीता के श्लोक गाता और भजन की कड़ियां उठाता। सारे दिन की थकी हुई निर्मला भी जैसे आत्मा मे नवीन अमृत उंडेल रही हो, इस प्रकार एक कोने में जमीन साफ कर के ही बैठ जाती और ऐसा अनुभव करती कि जैसे उसके निर्जन भूतकाल पर अंतिम पर्दा पड़ गया हो।

इसके बाद का एकाध वर्ष निर्मला ने परिश्रम में बिताया। अहमदाबाद की गलियों में वह खादी की ध्वजाओं पर लिखे हुए मुक्ति-मंत्र लेकर जुलूसों मे जाती, चंदा इकट्ठा करती। साबरमती की रेत पर इकट्ठा होने वाले मानव-समूह में एक कण की तरह वह भी शामिल होती और बारडोली के आश्रम में जब रसोई करने वाले कम हो जाते, तो रसोई करने भी जाती।

इतने बड़े समुदाय में बहुधा छोटे-मोटे राग-द्वेष पैदा हो जाते, पर अपने को यह उनसे अलिप्त रखने का यथाशक्ति प्रयास करती।

इसके बाद अहमदाबाद मे कॉग्रेस मिली और बारदोली मे सत्याग्रह करने का प्रस्ताव पास हुआ। चौराचौरी का हत्याकांड हो गया, इसलिए सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया। फिर गाधीजी पकड़े गये। ये सारी घटनायें एक के बाद एक घट गयी। निर्मला ने इन दिनों पूरे समय राष्ट्रीय सेना की सेविका के रूप में काम किया और समुद्र में पड़ा हुआ एक तिनका जिस प्रकार लहरो और पवन के प्रत्येक आघात से इधर-से-उधर झूलता रहता है, उसी प्रकार वह भी एक महान् व्यक्ति द्वारा संचालित किये हुए झंझावात मे इधर-से-उधर झूलती रही। उसका मूल्य एक बालू के कण अथवा तिनके से जरा भी अधिक न था।

गांधीजी पकड़े गये, तब तक तो घटनायें इतनी तेजी से घट रही थीं, कि किसी के पास कुछ भी सोचने का समय था ही नहीं। निर्मला के साथ भी यही बात थी। पर तदुपरात जैसे-जैसे दिन बीतते गये, वैसे-ही-वैसे राष्ट्रीय सैन्य में अव्यवस्था आने लगी। इतने बड़े मानव-समुदाय को बांधने वाली कोई प्रचंड-कार्य-शृङ्खला न होने के कारण उसकी प्रत्येक कड़ी धीरे-धीरे अलग होने लगी। दबे हुए व्यक्तिगत राग-द्वेषो की ज्वालाये बाहर निकलीं और उसकी चिंगारिया बहुतो को जलाने लगीं। सत्याग्रहियो की दीवार में छेद हो गया और इस दीवार के किसी एक छोटे से सूराख को भरने वाली निर्मला इस दीवार-से अलग होकर एक अकेले पत्थर के कण रूप में ही अपने वास्तविक रूप को बनाये रही।

निर्मला का जीवन बीच समुद्र मे हचकोले खाती हुई नौका-जैसी था। अपने जीवन के निर्माण मे उसका अपना हिस्सा बहुत कम था। अकस्मात् उसका विवाह हुआ, वह विधवा हो गई, अकस्मात् उसकी कीकू भाई से भेंट हुई, फिर 'महिला-निवास,' ललिता सेठानी और गांधी जी का आश्रम। सब उसके लिए तो एक अकस्मात् की परंपरा ही थी।

सत्याग्रह की सेना धीरे-धीरे बिखरने लगी। रोटी खाने के लिये आश्रम में पड़े रहने तथा काम से निबट कर चर्खा कातने के सिवाय निर्मला के लिये और कोई काम न था। जो कृत्रिम चेतना एक व्यक्ति की सामर्थ्य ने आश्रम में उत्पन्न कर दी थी, वह उसकी अनुपस्थिति में अदृश्य होने लगी। रह गया केवल एक जड़ता का साम्राज्य, जिसमें चर्खा कातने और खाने-पीने के निरर्थक वाद-विवाद के अतिरिक्त बहुत थोड़ी दूसरी बातों के लिये स्थान था। विशेषकर कर आश्रम के स्त्री-वर्ग के लिये तो और कुछ था ही नहीं।

निर्मला भी एक स्त्री थी, आश्रम में सपरिवार रहने वाली नहीं, बल्कि अकेली, और अंग्रेज नहीं बल्कि भारतीय। ऐसी स्त्री के लिये आश्रम में में कहां स्थान ? और इसके विकास के साधन भी वहां क्या हो सकते थे ?

निर्मला की आत्मा आश्रम के जीवन से ऊबने लगी। बहुत-से मनुष्यो के बीच रहने रहने पर भी न तो उसकी आत्मा का एकाकीपन ही दूर होता और न उसकी ज्ञान-पिपासा ही बुझती।

रह-रह कर अब उसमें निराशा का संचार होने लगा। वह क्या चाहती है, इसका उसे पता न था, पर वह जो चाहती है, वह उसे मिलता नहीं, यह भावना प्रतिपल उसके मन में विचरती रहती। उसे प्रत्येक कर्त्तव्य अर्थहीन लगने लगा। वह सुबह क्यों जल्दी उठे, किसलिये चर्खा काते, किसलिये वह बेगार करे ? पेट भरने के लिये ? पेट क्या मुवा-लय में नहीं भर रहा था ?

विचारों का प्रभाव आचरणों पर पड़े बिना नहीं रहता। इसलिये निर्मला का विद्रोही मन उससे आश्रम के नियम तुड़वाने लगा। जो आश्रम के नियम तोड़ता है, उसके लिये आश्रम में स्थान नहीं होता।

एक दिन सुबह को उसे आश्रम से बिदा कर दिया गया। ऊपर आकाश और नीचे पृथ्वी वाली स्थिति तो निर्मला की सदा ही रही। बस इतना ही था कि कभी-कभी यही परिस्थिति बड़े तीव्र रूप से उसके सामने आ खड़ी

होती। आश्रम से निकल कर दुनिया के किस कोने में वह जाय, इसका तनिक भी विचार किये बिना वह स्टेशन की ओर चल दी। एक बार बम्बई हो आई थी, इसलिये कुछ भी विचार किये बिना ही उसने फिर वहाँ का टिकट कटा लिया।

बम्बई आ तो गई, पर कहा जाये और किसके यहा ठहरे, यह प्रश्न निर्मला के लिये बड़ा पेचीदा था। उसे रास्तो का भी कुछ पता न था। अपनी छोटी-सी पोटली लिये कुछ घरों के जीने नौकरी की खोज मे चढ़-चढ़ कर थक गई। जब भूख लगी, तो रास्ते में पैसे-दो पैसे के चने लेकर खा लिये। और फिर नौकरी की खोज मे चढ़-उतर करने लगी। सांझ होते-होते वह थक कर चूर हो गई। विकास के अवसर की खोज मे निकलने वाले को प्रभु क्या ऐसा ही दड देता है?

रास्ते मे उस असहाय स्त्री से छल करने वाले दुष्टो की भी कमी न थी। जैसे-जैसे साझ होती गई, वैसे-वैसे निर्मला का अन्तर भय से कांपने लगा! रात के समय कहा जाय? ऐसी घनी बसी हुई बस्ती में क्या कोई भी उसे जगह नहीं दे सकता? इस नगर मे क्या दुष्टों का ही साम्राज्य है?

भूखी-प्यासी वह साझ होते-होते समुद्र की ओर जा पहुंची। वहा हजारों मनुष्यो की भीड़ इकट्ठी थी। सब अपनी-अपनी धुन मे घूम रहे थे। किसी को किसी की पर्वाह न थी। थकी हुई निर्मला एक बेंच पर जाकर बैठ गई। क्षण भर के लिये उसे समुद्र मे डूब कर आत्म-हत्या करने का विचार आया। वह प्रभु की अंतिम प्रार्थना करने लगी। उसके मस्तिष्क मे आश्रम मे प्रतिदिन सुने हुए गीता के श्लोक गूंजने लगे—

'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा...'

बावली-सी थकी हुई अस्त-व्यस्त वस्त्रो वाली निर्मला विचारो मे डूबी हुई बैठी थी। और थोड़ी दूर पर खड़े हुए दो गुंडे उसका मजाक उड़ा रहे थे। इसका उसे पता तक न था। अचानक एक परिचित आवाज सुनाई दी—

''कौन? निर्मला बहन? तुम यहा कहां से?''

कीकू भाई का स्वर निर्मला के कानों से टकराया। क्या प्रार्थना-द्वारा

खिंच कर प्रभु कीकू भाई के रूप में आ पहुंचे थे ? उसे एक क्षण के लिये भ्रम हुआ।

"बहिन, तुम यहां अकेली क्या कर रही हो ? यह तुम्हारी क्या दशा है ? कीकू भाई ने पास आकर, निर्मला का हाल देखकर ये शब्द कहे। उसे देखते ही निर्मला की आंखों से अविरल आंसू फूट पड़े। उसके गले से शब्द निकलना कठिन हो गया।

"बहिन, चलो, मेरे साथ चलो। यह स्थान तुम्हारे योग्य नहीं।"

निर्मला ने बड़ी मुश्किल से आंसू रोके। बोली—"भाई, तुमने दो-दो बार मुझे बचाया। अब तुम्हारे लिये भार होने के लिए नही चलूंगी। मेरे लिए इस समुद्र की शरण ही ठीक है।"

"पागल होगई हो क्या, बहिन ? ऐसा क्या हो गया तुम्हें ?"

निर्मला नही मानेगी, यह देखकर कीकू भाई बेंच की खाली जगह पर बैठ गया। फिर बोला—"ललिता सेठानी के यहा से तुम चली गई थीं, इस की खबर मुझे मिल गई थी। और सत्याग्रह के समय तुमने बड़ा काम किया था, उस विषय में भी मैंने तुम्हारी कीर्ति बहुत सुनी थी। फिर वह सब छोड़ कर तुम इस दशा में कैसे आ गई ?"

"भाई मेरा भाग्य ! और क्या ? अपने अन्तर की निर्जनना को दूर करने के लिये और ज्ञान-प्रदीप जलाने के लिए, मैं घर छोड़ कर कहां-कहां घूमी, पर न तो मेरी निर्जनता ही मिटी और न मुझे ज्ञान ही मिला। मैंने अपना जीवन बरबाद कर दिया और अब समुद्र की शरण खोजती हुई यहां आ पड़ी हूं। भाई तुम कितनी बार प्रयत्न करोगे ?"

"बहिन, यह तुम्हारी भूल है। कोई किसी का जीवन न तो सुधार सकता है और न बिगाड़ सकता है। मेरी क्या शक्ति ? और बहिन, ज्ञान-प्रदीप इस प्रकार टक्कर मारने से नही जलता, और हजारों मनुष्यों के साथ रहने पर भी तुम्हारी निर्जनता दूर नहीं हो सकती। इसके लिए तो तुम अपने अन्तर को ही टटोल कर देखो। योगी जंगल में अकेला रहता है, फिर भी उसका ज्ञान-प्रदीप जगमगाता रहता है, और उसे कभी भी एकान्त की

आकुलता नहीं खलती। बहिन! स्थितप्रज्ञ हुए बिना तुम्हारा कल्याण नहीं होगा।"

आश्रम में प्रतिदिन गीता के श्लोक सुनते-सुनते जो ज्ञान निर्मला को नहीं हुआ था, वह चौपाटी के अगण्य कोलाहल में सहानुभूतिपूर्वक कहे हुए कीकू भाई के एक शब्द से हो गया। वह बड़बड़ायी—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदुच्यते॥

"इसी प्रकार, बहिन, तुम अपने अन्तर की समस्त कामनाओं का त्याग कर दो और मेरे साथ चलो। तुम्हारे लिए एक नवीन कर्तव्य प्रतीक्षा कर रहा है। हमने एक असहाय हरिजनों के बच्चों की पाठशाला का निर्माण किया है। तुम उनकी माता के मुख्य-स्थान को सुशोभित करो। इस कर्तव्य-पालन में तुम्हारे अंतर की सारी आकुलता दूर हो जायेगी। चलो, बहिन!"

कीकू भाई खड़ा हो गया। उसकी स्नेहमयी आंखों के प्रकाश में डूबती-उतराती हुई निर्मला भी लड़-खड़ाती हुई उठी, फिर बोली—"चलो भाई!"

सत्ता की आकांक्षा

दुनिया मे जैसी बहुत-सी बहिने होती है, वैसी ही बहिने वे दोनों भी थी---सगी नहीं, चचेरी। एक का नाम दया था, और दूसरी का दामिनी। एक प्रतिष्ठित और विवेकशील गिनी जाती थी, उदार समझी जाती थी, और बड़े घर की सत्ता-प्रेमी गृहिणी थी, दूसरी बहिन के आश्रय में रहती थी, उसके जीवन का प्रत्येक पल बहिन की आंख देख कर चलते बीतता था। उसकी न तो अपनी कोई रुचि थी, और न अरुचि। वह छोटी बहिन थी।

दया कौर का पति चार मिलो का मालिक था, और घर मे चालीस आदमियो के कुनबे का पालन-पोषण करता था। उसमे विवेक था या नहीं, यह कोई नही कह सकता, और उसकी प्रतिभा के विषय में भी कुछ सुनने मे नहीं आता था। इन दोनो गुणो में से किसी समय यदि किसी एक की भी कमी अनुभव होती, तो दया उस कमी को पूर्ण कर देती थी।

हिन्दुस्तान के लगभग प्रत्येक पर्वत पर सूर्यराम के (गाव वाले उसे सूरजराम के नाम से जानते थे) बंगले थे। बारी-बारी से प्रत्येक पहाड पर जा कर, सेठ अपने पैसे का सार्थक उपयोग करता था। प्रति वर्ष इन सब स्थानों की, सेठ के घर मे रहने वाले सेक्रेटरी माधवलाल की ओर से, छोटे-छोटे 'पैंफलेट्स' के आकार की मार्ग-दर्शक पुस्तिकाये तैयार की जातीं, और स्वजनों में तथा जिन्हें आवश्यकता हो, उन मनुष्यों में मुफ्त बांटी जातीं। सेठ के बंगले के चित्रो से ये पुस्तिकायें खूब सज-धज कर आकर्षक रूप में निकलतीं।

दया का पूरा नाम दयाकौर था, दर जय कौर, महा कौर, बीज कौर के जमाने की याद दिलाने वाला यह नाम उन्हें पसंद नहीं था, और इसलिये दया बहिन के सादे नाम से वे अधिक विख्यात थीं। उनकी उम्र तीस-पैंतीस वर्ष से अधिक नहीं थी, और देखने में उनका मुख बड़ा तेजस्वी और प्रभावशाली लगता था। अपने व्यवसाय के संबंध में जब सूरजराम जर्मनी गये थे, तो वे उनके साथ थोड़े दिन जर्मनी भी रह आई थीं। अतः वहा की स्त्रियों की-सी सावधानी उनके प्रत्येक कार्य मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होती थी। उनसे बात करते समय अच्छी-अच्छी स्त्रियां आश्चर्यचकित हो जाती थीं, और पुरुषों का आश्चर्य-चकित होना तो कोई नई बात थी ही नहीं। साधारणतया पुरुष अपनी पत्नियों के विषय में जैसी धारणा रखते हैं, उससे ऊंची धारणा सेठ सूर्यराम दयाकौर के बारे में रखते थे। और कभी-कभी जब कुछ अधिक प्रसन्न होते थे, तो गर्व के साथ कहते थे कि वे अपनी पत्नी की सलाह से काम करते हैं।

दया कौर बनाव-दिखाव वाली स्त्रियों में तो नहीं, पर सुसंस्कृत स्त्रियों में खप जाती थीं। उनका कंठ सुन्दर नहीं था, पर उन्होंने संगीत की शिक्षा ली थी। इसलिये उन्हें अपने यहा नये-नये श्रीमान, बुद्धिमान, कलावान, विद्वान और सभ्य तथा सुसंस्कृत व्यक्तियों को निमंत्रित करने का शौक था। और वे भी कलामय जीवन व्यतीत करती है, यह उनका अपना ही नहीं, बल्कि आस-पास के लोगों का भी यही ख्याल था।

ऐसी सुसंस्कृत तथा संस्कार-शालिनी बहिन के नीचे अपने व्यक्तित्व का विकास करने का सौभाग्य दामिनी को प्राप्त हुआ था। और दामिनी का चरित्र भी सुन्दर हो, इसके लिये दया कौर कम प्रयत्नशील नहीं थीं।

दामिनी थी वास्तव मे दया कौर का लघु पर संशोधित संस्करण। इसे भी चार आदमियों मे चमकने की, अपने अभिप्राय और बुद्धि की प्रशंसा सुनने की, और जो कुछ वह कहती है, वही ठीक है, यह मनवाने की बात बहुत अच्छी लगने लगी थी। पर अभी यह मनोवृत्ति बीज-रूप में थी, और इसके फूलने-फलने के लिये उसे अनुकूल जल-वायु की आवश्यकता थी।

पर दामिनी जैसे-जैसे बड़ी होती गई, वैसे-ही-वैसे उसकी और दया कौर की इच्छा-शक्ति के बीच एक संघर्ष होने लगा। आरंभ में यह नहीं जाना जा सकता था, कि यह संघर्ष किस प्रकार का है। पर यह स्पष्ट था, कि दिनों-दिन उसका स्वरूप बनता जा रहा है। आगे चल कर बहुत छोटी-छोटी बातों में भी इस संघर्ष की चिंगारियां उड़ने लगीं। अथवा जैसे-जैसे दामिनी को अपने अस्तित्व का बोध होता गया, वैसे-ही-वैसे उसे छोटी-छोटी बातें भी बहुत लगने लगीं, यह कहना अधिक ठीक होगा। पहले दया बहिन के आदेश दामिनी सदा आज्ञापालक की-सी नम्रता से सुन लेती थी, और तुरन्त उन पर अमल भी करती थी; पर अब बाहर से तो उसका व्यवहार वैसा ही था, लेकिन मन में विरोध का भाव सिर उठाता था।

एक दिन दामिनी कोई उपन्यास, बराम्दे में बैठी, पढ़ रही थी। इतने में दया कौर उधर आ निकली।

"क्या पढ़ रही है?" उन्होंने सहज भाव से पूछा।

दामिनी जरा सकुचाई। "देलवाडाकर का 'बैरिस्टर की पत्नी'," उसने नजर नीचे किये, जवाब दिया।

दया कौर ने एक क्षण के लिये वह पुस्तक हाथ में ली, और इधर उधर कुछ पन्ने पलटे। फिर कहा—"ऐसी पुस्तकें तुझ-जैसी लड़कियों के पढ़ने की नहीं हैं। इनका मन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है।"

दामिनी ने डरते-डरते पूछा—"तुमने इसे पढ़ा है, बहिन?"

"नहीं। पर मैंने सुना है।"—कह कर दयाकौर हाथ में वह पुस्तक लिये, चली गईं।

दामिनी के उपन्यास का रस लेने मे खलल पड़ गया। विचार आया, कि बिना पढ़े बहिन को कैसे पता लग गया कि पुस्तक अच्छी है या बुरी? और तब से उसने चुप-चाप बहिन को अच्छा न लगने वाली पुतकें पढ़ने का निश्चय कर लिया। और फिर जब उसने उसी पुस्तक को दया कौर को पढ़ते देखा, तो उसे अपने निश्चय में कोई बुराई भी दिखाई नहीं दी।

दामिनी की बुद्धि के विषय में दया कौर की अच्छी धारणा नहीं थी,

और उसकी धारणा बहुत अंशों में ठीक भी थी। इसलिये दामिनी कोई काम शुरू करती, तो मन में घबराती रहती कि दया कहीं बिगड़ न जाय। इस भय के कारण भूलें हो ही जातीं। और इन भूलों के लिये दोनों बहिनें एक-दूसरे को उत्तरदायी ठहरातीं, एक मुख से और दूसरी मन-ही-मन। "मैंने कहा था न, कि तुझ से एक काम भी ठीक-ठीक होने का नहीं!" दया कौर कहती। "मैं तो सोच ही रही थी, कि काम बिगड़ेगा ही। जब तुम दिन भर हाथ धो कर मेरे पीछे पड़ी रहती हो, तो और क्या होगा?" दामिनी ये शब्द केवल मन-ही-मन बड़बड़ाती।

एक बार दामिनी चित्र बना रही थी। नदी के किनारे ताड़ों के वन में हो कर एक स्त्री तेजी से चली जा रही थी। जैसे वायु बड़े जोर से चल रही हो, इस प्रकार उसके वस्त्र उड़ रहे थे। और उसके मुख पर चिंता के चिह्न भी थे। आकाश मे चन्द्रमा का अर्द्धबिंब लटका हुआ दिखाई दे रहा था। चित्र की कल्पना सरस थी, और दामिनी अकेली बैठी ध्यान से इस चित्र पर तूलिका चला रही थी। पास ही सहायता के लिये उसने इसी तरह का एक दूसरा चित्र रख लिया था। थोड़ी देर मे वह उठी, और चित्र ले कर भागी-भागी दया के पास गई। बोली—"बहिन, देखो, यह चित्र कैसा बना है?"

दया चित्र को लेकर देखने लगी। देख कर कहा—"ठीक है। पर यह स्त्री ठीक नहीं। तुझे भारतीय चित्रकला का और अधिक अभ्यास करना चाहिये। नंदलाल बोस के चित्र कितने सुन्दर होते हैं!" उदाहरण देने के लिये जो पहला नाम सूझा, वही उन्होंने कहा।

दामिनी निराश हो गई। बोली—"पर, बहिन, नंदलाल बोस तो बंगाली हैं। फिर उन्हें संपूर्ण भारतीय कला का प्रतिनिधि कैसे कहा जा सकता है?"

"ये बंगाली ही तो आज-कल भारतीय कला की रक्षा कर रहे हैं।" दया कौर को बंगाली स्कूल की कला-कृतियों के प्रति बड़ा मोह था।

"मुझे तो उनकी कला अच्छी नहीं लगती। शरीर की रेखाओं का

पता नहीं, और 'टेकनीक' सारा विदेशी। पर नाम फिर भी भारतीय चित्र कला का," दामिनी ने अपने शिक्षक की धारणा को, जैसे वह उसकी अपनी ही हो, इस प्रकार प्रकट किया। दया के विचारो का विरोध करने की प्रवृत्ति अनजाने मे ही उभर आती थी, पर इसका उसे अब भी पता नही था।

दया कौर का मिजाज बिगड़ गया। "अभी तुझे वास्तविक कला को समझने मे बहुत देर लगेगी। तू रेखा, रंग और छाया के भेदो को क्या जाने!" उसने सत्तासूचक स्वर मे कहा। इसका अर्थ यह होता था, कि बात यहीं बन्द कर दी जाय। दामिनी मन-ही-मन बड़बड़ाती हुई अपने कमरे मे चली गई, "बहिन ने बहुत से चित्र बनाये है न!"

दामिनी मेट्रिक पास करके, कालिज मे गई। वह धीरे-धीरे अपनी धारणायें बनाने लगी। कभी-कभी तो यदि कोई दया कौर के ड्राइंग-रूम मे मिलने के लिये आया होता, तो वहां भी वह वाद-विवाद करने तथा अपने विचारो को व्यक्त करने की धृष्टता करने लगी। एक बार बात-बात मे सब के सामने उसने दया कौर से अपना मतभेद प्रदर्शित करने की मूर्खता भी की। मिलने आये हुए लोग दामिनी की अकुलाहट पर तथा ऐसी बहिन की शिक्षा में दया कौर ने जो आत्म-त्याग किया था, उसकी कदर पर हसे। दया कौर लाल-पीली हो गई।

जब सब विदा हो गये, तो दया कौर ने दामिनी को संबोधित कर के, कहा—"इतनी बड़ी लड़की को उपदेश देना अच्छा नही लगता। पर आज से तुझे इतना याद रखना चाहिये, कि कोई अपने से बड़ा बोल रहा हो, तो बीच में बोलना या उससे अपना मतभेद प्रकट करना अच्छे बच्चो के लक्षण नही। फिर किसी के सामने ऐसी भूल न हो, इसका ध्यान रखना।"

"अच्छा, बहिन," दामिनी ने नजर नीची किये, जवाब दिया। और क्रोध मे उबले हुए आंसू आखों मे से बाहर निकले, इसके पहले ही वह वहा से चली गई।

दामिनी को इस समय बहुत बुरा लगा। बहिन को अपमानित करने वाली ऐसी क्या बात उसने कही थी, यह उसकी समझ में नही आया।

कॉलेज मे 'सोशल गैदरिंग' के अवसर पर लड़के, लड़कियों का साथ-साथ पार्ट करना ठीक है या नहीं, इस विषय पर बातचीत चल रही थी। दया कौर का मत था, कि अभी लड़के, लड़कियों को इतनी स्वतन्त्रता देने का समय नहीं आया है। कॉलेज के स्वतन्त्रता और समानता के हिमायती वातावरण मे दामिनी के मन का निर्माण हुआ था, इस कारण वह पक्ष मे थी। "क्यो नहीं ?" उसने जोर दे कर कहा—"लड़के, लड़कियां यदि साथ-साथ पार्ट करें, तो इसमे क्या हानि है ?" बस इतना ही था उसका अपराध।

जहां किसी की दृष्टि न पड़े, ऐसी जगह जाने के विचार से वह धीरे से बाग में उतरी, और एक कोने में एक बेन्च पर जा बैठी। और उसे कोई नहीं देख रहा है, इस विश्वास के साथ अपना भरा हुआ हृदय खाली करने लगी। "क्या मैं बहिन के घर रहती हूं, इसलिये इसकी गुलाम हूं, और मेरे अपने कोई विचार ही नहीं हो सकते ?" स्वतन्त्रता के नये सिद्धान्तों ने उसके मन से प्रश्न किया। और उत्तर मे जितने आखों मे थे, उनसे अधिक आंसू ढुलक पड़े, और ज्यादा जोर से।

विधाता इतना अरसिक नहीं, कि एक दुख-कातर सुन्दरी बाग के एकान्त में बैठी, इस प्रकार रो रही हो और वह किसी युवक को भेज कर उस काव्यमय रोमानी वातावरण की लाज न रखे। इस अवसर पर सेठ का सेक्रेटरी माधवलाल हाथ मे पढ़ने के लिये एक पुस्तक लिये हुए, घूमता-घामता उधर आ निकला। उसने पहले तो दूर से दामिनी को रोते हुए देख कर, जैसे कुछ समझ मे न आया हो, इस प्रकार आखें मलीं। उसने सोचा कि वहा से चला जाय, पर अकेली युवती को रोते देख कर उसे सान्त्वना न दे, ऐसा नितान्त अरसिक वह नहीं था। वह धीरे-धीरे आगे बढ़ा। रुदन मे डूबी हुई सुन्दरी ने उसे नही देखा। बेन्च के पास पहुंचकर, माधवलाल ने प्रश्न किया—"दामु बहिन, यह क्या ? यहा अकेली बैठी-बैठी रो रही हो ! क्या हुआ ?"

उसने एक-के-बाद-एक इतने प्रश्न कर डाले, कि यदि दामिनी को

दया बहिन पर गुस्सा आ रहा हो, तो भी वह प्रश्नों के जाल में उलझ कर सब-कुछ भूल जाय।

"कौन ? मास्टर ? सेठों के सेक्रेटरी अधिकतर 'मास्टर' कहलाते हैं, और माधवलाल भी उसका अपवाद नहीं था। "तुम यहां कहां से आ गये ?" उसने आंसू पोंछते हुए पूछा। "बहन ने मुझे मनाने के लिये भेजा है क्या ?" उसने रोती आंखों से हंसते हुए कहा।

माधवलाल समझ गया। थोड़ी देर पहले ही जो सुबक-सुबक कर रो रही थी, उस लड़की की हंसती हुई आखें वह विस्मय से देखने लगा। वह जोर से बोला—"क्यों, बहिन, तुम क्यों रो रही थीं ? बहू जी लड़ पड़ीं क्या ?"

"नहीं लड़तीं क्या ? हम में जरा मतभेद हो गया। कॉलेज के उत्सव के अवसर पर लड़के, लड़कियां साथ-साथ पार्ट कर सकती हैं, मेरा यह मत बहिन को अच्छा नहीं लगा। सो उन्होंने आज्ञा दे दी कि मुझे अपने स्वतंत्र विचार किसी के सामने व्यक्त नहीं करने चाहिये।"

माधवलाल का मत भी दया कौर से ही मिलता था, पर दामिनी को मनाने के लिये उसने कहा—"बड़ी अजीब बात है। बहू जी-जैसी प्रगतिशील विचारों की स्त्री भी ऐसे संकीर्ण विचार रखती हैं।"

दामिनी को इससे थोड़ा आश्वासन मिला। बोली—"देख न, मास्टर, बहिन तो दिनों-दिन बड़ी विचित्र होती जा रही हैं। जो भी हम कहते हैं, उसका उल्टा ही कहती हैं। और कभी हमारे विचार उनसे मेल भी खा जायं, तो फिर तुरन्त मुड़ कर कोई और ही बात पकड़ लेती है।" उसके मन में बहुत दिनो से एकत्र हुआ धुआं इस आकस्मिक प्रसंग से बाहर निकल गया। "मेरी कुछ समझ में नहीं आता, कि क्या करूं कि बहिन प्रसन्न रहें।" आत्म-दया से फिर दामिनी की आंखों में आंसू उमड़ आये।

माधवलाल आकुल हो उठा। उसकी समझ में बिलकुल नहीं आया, कि ऐसी सुन्दर लड़की को कैसे आश्वासन दे। "बहिन, तुम रोओ मत। मुझे ऐसा लगता है, कि दया बहिन का स्वभाव अभी कुछ दिनों से ही ऐसा

होता जा रहा है।" आगे क्या कहे, यह तो उसे सूझा नहीं, पर उसने कांपते हुए मन से बेंच के दूसरे कोने पर बैठने का साहस किया। आश्वासन का सब से सुन्दर ढंग यही था, यह उसे उस क्षण अनुभव हुआ।

दामिनी पछताई। उसे ऐसा लगा, जैसे उसने मास्टर से आवश्यकता से अधिक कह दिया हो। कहीं दया बहिन के कान में यह बात पड़ गई, तो ? उसने बात बदलने के लिये स्त्री-सुलभ अप्रस्तुतता या यों कहिये कि नये कॉलिजियन की धृष्टता का प्रयोग किया। "मास्टर, तुम्हारा नाम माधव-लाल किसने रक्खा ? आज-कल तो 'लाल', 'दास' और 'शंकर' की उतनी कद्र नहीं!" और उसने धृष्टता से हंस कर माधवलाल की ओर सिर से पैर तक एक पैनी दृष्टि डाली। फिर जैसे सहज सूचना दे रही हो, इस प्रकार कहा—"मास्टर, तुम जरा-सा बदल दो, तो कैसा हो ? 'लाल' की जगह 'प्रसाद' कर दोगे, तो बहुत फेर भी नहीं होगा, और नाम अधिक सुन्दर लगने लगेगा।" यह कह कर, वह फिर हंसी।

माधवलाल घबराया। उसके कोमल, सुकुमार और स्त्री-जाति के प्रति सम्मान से भरे हुए हृदय को यह बात अविवेकपूर्ण लगी। पर दामिनी से, बहू जी की बहिन से, यह बात कहने में क्या लाभ। उसने सहज भाव से कहा—"तुम्हारा कहना ठीक है। मुझे भी बहुत बार ऐसा लगा, कि मेरा नाम ठीक प्रभाव नहीं डालता। पर वह बदल भी सकता है, यह विचार मेरे मन में कभी आया ही नहीं।"

"पर यदि तुम इतना बदल दोगे, तो लगने लगेगा सुन्दर," दामिनी ने अपने अंतिम वाक्य को फिर दोहराया।

माधवलाल विचार में पड़ गया। ऐसा परिवर्तन करने में पहले जरा कठिनाई तो दिखाई देती ही है।

"किसी दिन तो करोगे ही, इसलिये जितनी जल्दी कर डालो, उतना ही अधिक अच्छा होगा!" दामिनी ने गंभीर होकर कहा, और हाथ की घड़ी देखी। "अच्छा मास्टर, अब मैं जाती हूं। मुझे अभी पढ़ना है।"

और जैसे उड़ी जा रही हो, माधवलाल को वह इस प्रकार वहां से

जाती हुई दिखाई दी। संध्या के सूर्य की किरणें उसके वस्त्रों के अंदर से आर-पार उतर रही थीं। माधवलाल को इस प्रकार पहले ही सपाटे में आश्चर्य-चकित कर डालने में दामिनी को बड़ा आनन्द आ रहा था। और उसके सिर में पीछे की ओर जैसे तीसरा नेत्र प्रकट हो गया हो, पीछे खिंची आती हुई माधवलाल की प्रशंसा-युक्त मुग्ध दृष्टि को भी वह देख पा रही थी।

वह चली गई, और माधवलाल ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा। 'कैसी तेजस्वी लड़की है!' इससे आगे विचार करने की शक्ति इस समय उसके पास शेष नहीं रही थी।

दूसरों से सम्बन्ध स्थापित करने में पुरुष हमेशा पहले सोच-विचार करता है। 'मुझे वह आदमी अच्छा लगा या नहीं?' अथवा 'मुझे उससे कुछ काम है या नहीं?' यदि उत्तर हां में मिलता है, तो वह सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, अन्यथा नहीं। पर स्त्री की सम्बन्ध स्थापित करने की रीति इससे उल्टी है। वह अपने से अमुक व्यक्ति अच्छा लगा या नहीं, यह प्रश्न नहीं पूछती। वह सोचती है कि वह उसे अच्छी लगी या नहीं। या यह कि वह उससे प्रभावित हुआ या नहीं। इन प्रश्नों के उत्तर पर ही उसका निश्चय आधारित रहता है। मनुष्य अच्छे है या बुरे, यह उसके लिये गौण बात है।

माधव ने अपने मन से पूछा, 'दामिनी कैसी लड़की है? इसमें बुद्धि कितनी है?' और हंस कर प्रश्न किया, 'और कैसी है इसकी सुन्दरता?'

दामिनी के भी मन था, और हर बात में वह उसकी सम्मति अवश्य लेती थी। उसने गर्व से अपने मन से कहा, 'मास्टर बेचारा भला आदमी है। इसको प्रभावित करना कोई बड़ी बात नहीं। दो घड़ी बात करने के लिये कुछ बुरा नहीं। तेरी क्या सम्मति है?' मन ने संतोष से गर्दन हिला दी। और यह देख कर, दामिनी को भी आत्म-संतोष हुआ।

पारस मणि के स्पर्श से जैसे लोहा सोना हो जाये, उसी प्रकार दामिनी के थोड़ी देर के संसर्ग से ही माधवलाल के स्वभाव की पंखुड़ियां खिल गईं।

और धीरे-धीरे उसे लगने लगा, कि उसका नाम पुराने फैशन का है, और इस कारण जरा भी प्रभावोत्पादक नहीं लगता। रात भर यही विचार उसके मन में उठते रहे। अपना नाम किस प्रकार बदले, वह इसके उपाय सोचने लगा। माधवप्रसाद रक्खे या माधवकुमार? मित्रों और परिचितों को अपने नाम बदलने की सूचना किस प्रकार दे? एक दिन सब मित्रों को चाय का निमंत्रण दे कर नाम बदलने का उत्सव किया जाय, तो? इत्यादि-इत्यादि अनेक विचार उसके मन में उठे। और अंत में जैसे एकदम नई बात सूझ गई हो, इस प्रकार केवल 'मि. माधव' रखने का उसने निश्चय किया। कितना सरस है यह! माधवलाल, अर्थात् हजारों माधवलालों में से वह एक। मि. माधव, अर्थात् करोड़ों मनुष्यों के विराट जगत में वह अकेला ही। पहले में बहुत से व्यक्तियों की मिली हुई गंध आती थी, और दूसरे में तो उसका अपना अलग व्यक्तित्व ही स्पष्ट था। उसकी आत्मा, उसकी मानवता, सब उसमें अलग प्रतिबिंबित हो जाती थीं। मि. माधव! मि. माधव! रात भर उसके मास्तिष्क में इसी एक नाम की रटन चलती रही।

दूसरे दिन सुबह नौकर चाय ले कर आया, दरवाजा पीटता हुआ चिल्लाया—"माधवलाल सेठ! आपकी चाय, साहब!" और माधवलाल चौंके। अभी माधवलाल का ग्राम्य स्वरूप उनसे चिपटा हुआ था। उन्हें आश्चर्य हुआ। उन्होंने दरवाजा खोला। नौकर ने अंदर आ कर, टेबिल पर चाय रख दी। तब उसी की ग्रामीण भाषा में उन्होंने सूचना दी—"गणु, सुन, यहां माधवलाल सेठ नहीं, माधव सेठ रहते हैं।"

गणु थोड़ी देर तक मुह फाड़, खड़ा रहा। "क्या, क्या, सेठ? तुम्हारा नाम माधवलाल सेठ नहीं, माधव सेठ है? हुजूर, इतने बड़े नाम को इतना छोटा नाम कर लिया!"

ऐसे निरक्षर मनुष्य को क्या जवाब दिया जाता? उसने रोब में कहा—"तुझसे जैसा कह दिया, वैसा करो!"

"अच्छा, बड़ा सेठ!" गणु आखें मिच-मिचाता हुआ चला गया।

माधवलाल ने देखा अनदेखा कर दिया, और एक घूंट चाय और पी ली।

चाय पी चुकने के बाद, वह सेठ के पास जाने की तैयारी करने लगा।

सब से बड़ी मुश्किल सेठ से यह बात कहने में थी। वह सेठ से किस प्रकार कहे, कि एक रात मे ही वह माधवलाल से माधव हो गया ? वे भले हीं सूरजराम से सूर्यराम हो गये हो, पर माधवलाल के माधव होने का अधिकार वे स्वीकार कर लेंगे या नही, इसमे सन्देह था।

वह सेठ के पास गया। उस दिन सेठ को उसका नाम बार-बार लेने का खब्त-सा सवार हो गया था। 'माधवलाल, यह काम ऐसे करना है।' 'माधवलाल, वह काम वैसे करना होगा।' इत्यादि-इत्यादि। बड़ी मुश्किल से जब सेठ के पास से उठने का समय हुआ, तो उसने सारी हिम्मत बटोर कर, आखे नीचे झुका कर कहा—"सेठ साहब, मैं अपना नाम बदलना चाहता हू।"

"क्या ? क्या कहा ?" जैसे सेठ की समझ मे ही कुछ न आया, उसने इस प्रकार आखे फाड़ी।

पर अब पीछे भी नहीं हटा जा सकता था। "मैं अपना नाम माधव-लाल के बजाय मि. माधव रखना चाहता हू।"

सेठ पल भर के लिये तो समझा नहीं; पर फिर माधवलाल की कही हुई बात ध्यान में आते ही, वह खिलखिला कर हंस पड़ा। एक बार नाम की समस्या ने उसे भी कितना परेशान किया था, उसे यह याद आया, और हंसना शान्त हुआ। तब सहानुभूति से उसने माधवलाल का कन्धा थपथपाया, और कहा—"माधवलाल ! माधव ! मैं तुम्हें मुबारकबाद देता हूं ! असंतोष प्रगति का चिह्न है। और तुममें प्रगति करने की हविस है, तुम्हारी यह इच्छा इस बात की ओर संकेत करती है। जाओ, विजय करो !"

सेठ के शब्दों से माधवलाल की आंखों मे लगभग आंसू आ गये। पर सेठ उन्हें देखने के लिये वहां नहीं रहा। इतना कठिन काम इतनी आसानी से ही हो गया था, इसलिये उसके हर्ष की सीमा नहीं रही।

अकस्मात् दरवाजे के पीछे से दामिनी बिना बोले-चाले आकर खड़ी

हो गई। और उसने माधवलाल की ओर 'ठीक किया', इस आशय की एक मुस्कान फेंकी। "मि. माधव, कितनी आसानी से तुम सारी कठिनाइयों को पार कर जाते हो!" उसने कहा। उसके स्वर में उत्तेजना की मादकता थी।

अपने नये नाम के साथ संबोधित होकर, और ये प्रशंसा के वचन सुन कर, माधव की आत्मा ने दिव्य आनन्द का अनुभव किया। "दामु बहिन, तुम्हारी ही आज्ञा के प्रताप से!" उसने आभार प्रदर्शित करते हुए कहा।

दामिनी को ये वचन अत्यन्त कर्ण-मधुर लगे। उसका इस मनुष्य की आत्मा पर सत्ताधिकार है, इसकी हल्की-सी अनुभूति बड़ी सुखद थी। उसे अपनी शक्ति की और आजमायश करने का और अधिक मन हुआ। "पर मि. माधव, तुम्हारे इस नये नाम के साथ तुम्हारे ये देसी चाल के कपड़े नहीं चल सकते, हां! इन्हें बदलो, नहीं तो तुम्हारा और तुम्हारे नाम का मेल नहीं खायेगा!"

माधव को यह नया दृष्टिकोण नहीं सूझा था। उस ने दीन भाव से नीचे देख कर कहा—"बहिन, मुझे यह बात सूझी नहीं थी।"

"तो इसमें हिम्मत हारने की क्या बात है? अंग्रेजी पोशाक में तो तुम और भी अच्छे लगने लगोगे। तुम्हारा डील-डौल सुन्दर है, और रंग भी गोरा है। फिर क्या चाहिये?"

माधव के मुख पर हास्य की रेखायें खिल उठीं। "तुम ऐसा सोचती हो?"

"और नहीं तो क्या?" दामिनी की आंखें मस्ती से हंस पड़ीं। वह सचमुच यही सोच रही थी, या उसकी वृत्ति वास्तव मे माधव को केवल बनाने की थी, यह वह नहीं समझ सका।

एक हफ्ते में ही माधवलाल ने मि. माधव का अवतार धारण कर लिया। उसने अपने नये नाम के लगभग एक हजार विजिटिंग कार्ड छपवा दिये, और दर्जी के यहां से सिल कर आते ही तुरन्त कोट-पतलून पहनना शुरू कर दिया। अपने मे हुए परिवर्तन को प्रकाश मे लाने के

लिये, वह अपनी नई पोशाक में अपने सब मित्रों और परिचितों के घर जाने लगा। परिवर्तन केवल इन्ही बातों में नहीं हुआ था। उसने अपने चश्मे का फ्रेम बदलवाया, और अकड़ कर, सीना निकाल कर चलने लगा। उसने संगीत और चित्रों में भी अधिक रस लेना आरम्भ कर दिया। कोई अदृश्य हाथ उसके संपूर्ण चोले को बदलने के लिये प्रयत्नशील था।

और माधव असभ्य भी नहीं था। वह एक गरीब विधवा का बेटा होने पर भी, अपने ही बल पर एम. ए. तक पढ़ा था। पर गरीबी और निराश्रयता के कारण उसमें कई तरह की ग्रामीणता रह गई थी। उसके स्वभाव में गरीबी तथा धनवानों के प्रति सम्मान-प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी, इसी के फलस्वरूप आ घुसी थी। जब तक कोई स्वयं उसकी ओर मुखातिब न हो, तब तक वह उससे बात नहीं कर सकता था, और उसकी आशाओं तथा स्वप्नों का विस्तार भी अभी तक संकीर्ण ही था—अधिक-से-अधिक दो-ढाई सौ रुपये वेतन, एक छोटी-सी कोठरी, किसी दिन आ जाय, तो एक छोटी-सी पत्नी, वृद्ध मा और दो-चार बच्चे।

पर अब उसने नाम बदल लिया, वेश बदल लिया, और न जाने कैसे उसकी आत्मा भी बदलने लगी। अब तक उसके जीवन में निष्क्रिय शान्ति और एकाग्रता व्याप्त थी; पर अब कागज की गोलियां जैसे पानी में पड़ते ही फूल-फूल कर आकार में बदल जाती हैं, वैसे ही इस नवीन प्रभाव से उसके स्वप्नों का विस्तार होने लगा। छोटी-सी कोठरी के बदले एक छोटा-सा फ्लैट, छोटी-सी पत्नी के बदले एक स्मितमुखी भार्या, और बच्चे, और मां।

अपनी सत्ता का सुन्दर परिणाम देख कर, दामिनी को भी आनन्द होता। बहुधा वह केवल आज्ञायें ही देती, पर कभी-कभी तो वह माधव को धमका भी देती। और कभी-कभी ऐसे व्यक्तित्व-विहीन मनुष्य के प्रति उसके मन में तिरस्कार का भाव भी उत्पन्न हो जाता। पर उसे छोड़कर अपनी सत्ता के परिणाम के प्रत्यक्ष आनन्द से वंचित हो जाना उसे अच्छा न लगता। जब कभी दया बहिन के रोब दाब का त्रास अधिक मात्रा में हो

जाता, तो उस समय इस ओर का आश्वासन उसके आत्म-विश्वास को और अधिक दृढ़ कर देता।

दया कौर-जैसी अनुभवी स्त्री का इन परिवर्तनों की ओर ध्यान न जाय, यह असंभव था। एक ओर दामिनी बदल रही थी, तो दूसरी ओर माधव बदल रहा था। इन दोनों के बीच कोई सम्बन्ध हो सकता है, यह वह पहले नहीं सोचती थी, पर अब उन्हे ऐसा लगने लगा, कि किसी अस्पष्ट रीति से इन दोनो परिवर्तनों के बीच कुछ सम्बन्ध है, और उनके कारण भी एक ही-से हैं। उसने, जो कुछ भी हो, उसका पता लगाने का निश्चय कर लिया।

आरम्भ मे एकदम वह कुछ पता नही लगा सकी। दामिनी माधव के साथ न तो कभी बातें करने बैठती थी, और न यही लगता था कि दोनो ने एक-दूसरे से मिलने के कुछ विशेष अवसरों की संयोजना की है। घर मे इधर-उधर घूम रहे हों, केवल तभी मिल जाने पर सहज भाव से दोनो थोड़ी-सी बात करते। माधव इतने ही पर जीता था। दामिनी का मन दूर से यह सब देख कर गर्व से फूल उठता, और उसे बड़ा सतोप होता। वह जानती थी कि दया बहिन को यदि जरा-सी भी शंका हो गई, तो उसकी सत्ता के साम्राज्य के आगे उसका यह छोटा-सा आनन्द भी टिकने वाला नहीं।

पर जितना विवेक एक पराधीन स्त्री रख सकी है, उतना विवेक, एक बार जिसकी कल्पना उत्तेजित हो गई हो, ऐसा पुरुष भला कहां रख सका है? और जिस स्त्री के प्रभाव से उसका निर्माण हुआ हो, उस स्त्री-सम्बन्धी स्वप्नों की ओर ध्यान न दे—बहिन के रूप में, पत्नी के रूप मे, मां के रूप मे, या पुत्री के रूप में— ऐसा पुरुष कभी हुआ है? दामिनी के स्वप्नों की ओर माधव ध्यान न दे, यह कैसे संभव था? और उसके सपनों की ओर ध्यान देने पर, उससे मिलने के और अधिक अवसरों की संयोजना किये बिना वह कैसे रह सकता था? दामिनी से वह किसी-न-किसी बहाने मिलने के अवसर खोज निकालता, और उसके साथ बात करने के समय को भी जितना हो सकता, उतना लबा कर देता।

दया कौर भांप गई। उसे मास्टर के और दामिनी के लक्षण अच्छे नहीं

लगे। उसने दामिनी को बुला कर कहा,—"उस तीन कौड़ी के मास्टर के साथ अगर आज से किसी भी तरह का सम्बन्ध रक्खा, तो अपना पढ़ना-लिखना छोड़ कर तुम्हें यहा से विदा होना पड़ जायगा!" उसके स्वर मे जेलर की-सी कठोरता थी।

इस बात में यदि जरा भी स्नेह का अंश होता, तो वह अवश्य ही मान लेती। उसके हृदय में माधव के प्रति किसी भी प्रकार का न तो सम्मान था, न और कोई वैसा भाव। केवल प्रयोग-शाला में प्रयोग की वस्तु पर प्रोफेसर का जितना मोह होता है, उतना ही मोह दामिनी को माधव पर था। पर दया कौर की सत्ताशील आवाज ने उसकी अपनी सत्ता की भावना को और भी भड़का दिया। माधव के साथ उसके सम्बन्ध पर आपत्ति करने लायक क्या बात थी, कि दया बहिन ने ऐसी बात कही? उसको क्या एक मनुष्य की तरह किसी से बोलने का भी अधिकार नही? पर उसमे जवाब देने की हिम्मत नहीं थी। और एक बार दया बहिन की आज्ञा हो जाने पर, उसको लौटाया भी नही जा सकता था। विवशता और क्रोध के आंसुओं को आंखो से दबाती हुई, वह वहां से चली गई। उसने माधव से अंतिम बार मिल लेने का संकल्प किया। उसे ऐसा विश्वास था, कि माधव की आंखे उसे खोज ही रही होगी। वह बाग में गई।

दामिनी बाग में आये, और दामिनीमय माधव की दृष्टि उस पर न पड़े, यह सम्भव नहीं था। पंद्रह मिनट में सब की दृष्टि बचा कर वह भी बाग में पहुंच गया।

जैसे महाशोक में डूबी हुई हो, इस प्रकार हथेली पर सिर रक्खे हुए, दामिनी बेंच पर बैठी थी। उसकी आखों से आंसू गिर रहे थे।

यह देख कर माधव का अन्तर विदीर्ण हो गया। "दामु बहिन, यह क्या? क्यो रो रही हो?"

दामिनी रोती ही रही। थोड़ी देर में उसने आखें पोछ कर, ऊपर देखा। "माधव, बहिन की आज्ञा हुई है, कि मैं आज से तुम से बोलना बन्द कर दूं।"

माधव का हृदय जरा देर के लिए चलता-चलता रुक गया। "क्या ? क्या कहा ?"

"बहिन की आज्ञा हुई है, कि मैं तुम से न बोला करूं !' दामिनी ने कहा—"मुझे तो इसमे कोई कारण दिखाई नहीं देता, पर बहिन तो सोचे, बिना सोचे जो मन मे आता है, हुक्म फरमा देती हैं। तो क्या मैं इसका पालन करूं ? मैं आदमी हूँ, या जानवर ?"

माधव का हृदय टूक-टूक हो गया। दामिनी के आसुओं का कारण वह नहीं, बल्कि उसका अभिमान था, इस बात से माधव के हृदय पर जोर का आघात हुआ। उसके साथ उसे बोलना बन्द करना पड़ेगा, इसका उसे जरा भी दुःख नहीं था। वह क्या कहे, उसे कुछ भी नहीं सूझा। "बहिन, बहूजी कह रही हैं, तो फिर और क्या हो सकता है ?"

दामिनी दया से इस मानव-जंतु की ओर देखती रही। "अच्छा ! तुम किसलिये रो रही हो ? तुम्हें तो किसी ने कुछ नही कहा ?"

माधव की आवाज बिल्कुल भर्रा गई थी। "दामु बहिन, तुम बिलकुल निर्दय हो ! तुम्हारे बिना, तुम्हारी सलाह के बिना..."उसने बात संभाली— "मुझसे कैसे जिया जायगा ?"

दामिनी ने अनुकंपा से उसकी ओर देखा। "और क्या हो सकता है ?"

डूबता हुआ आदमी जैसे अंतिम घड़ी मे अप्रतिम साहस प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार दामिनी-विहीन जीवन में घिरने वाले अंधकार में माधव मे सहसा अपूर्व साहस आ गया। "दामु बहिन ! दामु ! एक उपाय है। तुम मुझ से विवाह कर लो ! तुम जैसा मुझे समझती हो, मैं वैसा बिलकुल निकम्मा नहीं ! मैं देवी की तरह तुम्हारी पूजा करूंगा !" जैसे वह अपने किये हुए साहस से घबरा गया हो, इस प्रकार उसने गर्दन नीचे झुका ली।

दामिनी चौंक पड़ी। वह...वह...इस...इस आदमी से...माधव से विवाह करले ? एक क्षण के लिए वह तिरस्कार से कांप उठी। इस आदमी की इतनी धृष्टता ? उसे माधव के मुह पर एक तमाचा मारने का मन हुआ।

पर दूसरे ही क्षण उसका विचार बदल गया। नहीं। दया बहिन कोई

उसकी सगी बहिन नहीं थी। उसके पिता साधारण स्थिति के आदमी थे। इस प्रकार वर्षों दया बहिन की दया पर जीवन व्यतीत करती रहे, इससे तो यही अच्छा होगा कि इस आदमी से विवाह करले। इसमे क्या बुराई है ? वह जैसा चाहेगी, वैसा ही रूप इसे दे सकती है । जब परमेश्वर को भी अपनी सृष्टि बनाने में तथा अपनी सत्ता चलाने में इतना आनन्द आता है, तो वह भी यदि अपनी छोटी-सी सृष्टि का निर्माण कर ले, तो इसमें क्या बुराई है ?

"माधव, मैं तुमसे विवाह कर लूगी, पर एक शर्त है !" उसकी आवाज मे भावुकता अथवा आवेश का कोई चिह्न नही था। "जीवनभर तुम्हे मेरा कहा मानना पड़ेगा !"

माधव इस नये, आकस्मिक सुख से घबरा गया। दामिनी की ओर बढ़ने की हिम्मत उसमें नहीं थी।

"स्वीकार है मुझे," उसने बिल्कुल डरते-डरते कहा।

दामिनी उठी। माधव का हाथ उसने अपने हाथ मे ले लिया। "चलो, बहिन से कह दें !" उसने स्वस्थता से कहा, और बंगले की ओर चलने लगी।

"हा, चलो !" विवशता से माधव भी उसी ओर खिचता गया।

ऐसे नीरस दिखाई देने वाले पति के जीवन में जैसे रस उंडेलना चाह रही हो, इस प्रकार एक कोयल कही से कूक उठी।

— ९

जसोदा

शुक्लतीर्थ के आगे नर्मदा नदी की बालू में एक ग्यारह वर्ष की लड़की अपने गागर और देगची को माज-मांज कर चमका रही थी। सुबह के नौ बजे की धूप जरा तेज होने लगी थी, और चमकीले गागर तथा नदी के पानी को अपनी किरणों से झिलमिला रही थी। लड़की अपने बर्तन मांज कर नदी के किनारे आई, और पानी में पैर डाल कर, टेढ़ी होकर बैठ गई।

उसे पानी भरने की अपेक्षा, पानी में खेल करना अधिक अच्छा लगता था। उसने गागर में पानी भर-भर कर, ऊपर से धार बांध कर गिराना शुरू कर दिया। थोड़ी देर तक उसने पानी पैर से उछाला, और फिर यह समझ कर कि देर हो रही है, पानी भरने लगी।

थोड़ी दूर पर एक डोंगी आ रही थी। लड़की ने उसे देखा। डोंगी में बैठे हुए आदमी तो कब से इस लड़की की क्रीड़ा देख रहे थे। लड़की अपनी दृष्टि स्थिर कर, उस ओर देखने लगी, और पानी भरना भूल कर, खड़ी रह गई।

लड़की ने अपने लहगे की काँछ मार रक्खी थी, और गांव की नीति के अनुसार एक छोटी-सी चोली पहन रक्खी थी। उसकी आखें गहरे तम्बाकू के रंग की, और लगभग काली लगने वाली थीं। उसके ओठ पर, गाल पर और माथे पर नीला गोदना गुदा हुआ था। उसके हाथ पर भी थोड़े से फूल गुदे हुए थे। उसका रंग गेहुआ, और शरीर भरा हुआ तथा गोल था।

डोंगी धीरे-धीरे किनारे आई। उसमें से दो बड़ी भड़कदार लगने वाली स्त्रियां तथा तीन पुरुष उतरे। एक नौकरानी तथा एक नौकर भी साथ थे। लड़की उनकी ओर देखती ही रही।

"ए लड़की, इस गांव में किसी शुक्ल का घर-वर है क्या?" उनमें से एक आदमी ने आगे आकर पूछा।

"शुक्ल को जाने दे। कोई धर्मशाला हो, तो वहीं ठहर जायेंगे," दूसरे ने कहा। "बहिन!" उसने लड़की की ओर मुड़ कर, जरा अधिक सभ्यता से पूछा—"यहां कोई धर्मशाला है क्या?"

"हां," लड़की ने उसकी ओर आंखें स्थिर कर उत्तर दिया।

उसकी गम्भीर आंखों की ओर वह आदमी जरा देर तक देखता रहा। "हमारे साथ चल कर बता देगी?"

"इस सीधे रास्ते से जाकर, बायें हाथ मुड़ जाना," लड़की ने जाने की जरा भी मर्जी न दिखाते हुए कहा। फिर वह उन स्त्रियों की ओर देखने लगी। उनके कपड़े और गहने देख कर, लड़की की आंखें प्रशंसा के भाव से चमक उठीं।

"ए लड़की!" पहले जिस सज्जन ने उसे बुलाया था, उसने हाथ में चार आने निकाल कर, उसकी ओर बढ़ाये। लड़की ने चौंक कर उसकी तरफ देखा, और तुरन्त पीठ फेर कर पानी भरने लगी।

फैलाया हुआ हाथ पीछे खींच कर, कुछ खिसिया कर उसने कहा—"चलो, धूप हो रही है, चलें।"

सब उसको मिला हुआ सत्कार देख कर, हंस पड़े, और चलने लगे।

लड़की पानी भर कर, घर की ओर चल दी। बालू का मैदान पार करने से पहले ही, एक स्त्री सामने से तेजी के साथ आती हुई दिखाई दी। बोली—"जसु, इतनी देर से यहां क्या कर रही है? पानी भरने भेज दिया, तो नदी की ही हो गई! तुझसे तंग आ गई!" आने वाली स्त्री जब बिलकुल नजदीक आ गई, तो शब्दों की कठोरता को कृत्रिमता प्रदान करने के लिये उसने एक स्नेह-भरा हाथ यशोदा के ऊपर रक्खा। फिर उसने उसके

सिर से घड़ा अपने सिर पर ले लिया।

दो कदम चल कर, जसु ने बात शुरू की—"भाभी, आज कुछ बम्बई के आदमी आये हैं।"

"कब ?"

"अभी-अभी जो डोंगी आई है, उसमें।"

"तुझे कैसे पता लगा, कि वे बम्बई के हैं?" सूरज ने बात में रस ले कर पूछा।

"अच्छा, मैं यह नहीं जानती? उस दिन जिन्हें मैंने देखा था न, वे ही आदमी हैं। दो स्त्रियां भी उनके साथ हैं। ऐसे सुन्दर कपड़े और गहने पहन रक्खे हैं उन्होंने, कि क्या बताऊं, भाभी! मुझे भी एक वैसी ही ओढ़नी दिलवा दो, भाभी!"

"इस दीवाली पर दिलवा दूंगी, अगर तू शैतानी छोड़ देगी तो। अच्छा, अब जल्दी चल! तेरे भाई घर आ गये, तो लड़ पड़ेंगे।" और दोनों जल्दी-जल्दी घर की ओर चल दीं।

यशोदा का भाई शुक्लतीर्थ की छोटी-सी पाठशाला का मास्टर था। उसे महीने में बीस रुपये तनख्वाह मिलती थी। यशोदा के माता-पिता मर गये थे, और वह भाई तथा भाभी के साथ रहती थी। भाभी के कोई बच्चा नहीं था। वह अपने द्वारा पाली हुई यशोदा को बहुत प्यार करती थी।"

यशोदा का भाई रामलाल जरा क्रोधी था। पर उसकी पत्नी की सुशीलता के कारण, उसके घर की लोकप्रियता गाव में खूब थी। यशोदा बहुधा भाई की पाठशाला में जाती, और थोड़ा बहुत पढ़ लेती थी। उसकी बुद्धि तीव्र थी, और यदि उसे अच्छे अवसर मिलते, तो उसकी बहुत अधिक उन्नति सम्भव थी। वह बहुधा अटक-अटक कर दूसरी अथवा तीसरी पुस्तक में से कहानी निकाल कर पढ़ती, और उसकी भाभी उस पर खुश हो जाती! उसके विचार में यशोदा-जैसी होशियार लड़की गाव में कोई नहीं थी।

दोनों घर मे घुसी। थोड़ी देर मे रामलाल तेजी से आया।

"जसु, तेरी भाभी कहां गई ?" उसने घर में आते ही, आवाज दी।

सूरज जल्दी से बाहर आई।

"आज हमारे यहां मेहमान खाना खायेंगे। सेठ लोग है। लड्डू बना लेना," उसने आज्ञा दी।

सूरज को इतना भी पूछने का साहस नहीं हुआ, कि कौन मेहमान हैं। वह रामलाल के क्रोधी स्वभाव से परिचित थी। वह जानती थी कि थोड़ी देर में वह स्वयं ही बतायेगा।

रामलाल ने पगड़ी और चादर उतार कर खूंटी पर टांग दी। "ये बम्बई के सेठ लोग भी खूब है !" जिधर मन करता है, उधर यात्रा को निकल पड़ते है।"

"कौन है ये लोग !" सूरज ने डरते-डरते, पूछा।

"मुझे बहुत खबर है न ? वह दयाशंकर गौड़ दौड़ता हुआ पाठशाला मे आकर मुझ से बोला—'रामूभाई, मेरी बहू बहुत बीमार है, और घर पर यजमान आ गये हैं। आज यदि तुम अपने घर इनके भोजन की व्यवस्था कर दो, तो तुम्हारा एहसान कभी न भूलूंगा। तुम्हारी ही जाति के है।' हमने सोचा, कि चलो काम के आदमी हैं, इसलिये हा कर दिया। सब व्यर्थ बेवक्त आकर दुख देते है।"—जल्दी-जल्दी रामलाल महता बोले, और दहलीज में पड़ी हुई खाट पर बैठ कर, गांव की लायब्रेरी से लाया हुआ अखबार पढ़ने लगे।

सूरज एक भी अक्षर बोले बिना रसोई मे चली गई, और महताजी को जीमाने की तैयारी मे लग गई। वह जानती थी कि यदि भोजन के समय महता जी का मिजाज बिगड़ जाता है, तो फिर ठिकाने नही रहता। 'जसु ने जिनके विषय मे बतलाया था, कही वे ही बम्बई वाले सेठ तो नही है ?' उसने सोचा, 'आने पर पता लगेगा।'

गांव में महता-जी की बड़ी प्रतिष्ठा थी। रामलाल महताजी के नाम से

ही प्रसिद्ध थे। बच्चों के ऊपर इनका रोब जमा था, और यह बात मा-बापों को बहुत अच्छी लगती थी। मास्टर का नाम सुन कर बच्चे थर-थर कांपते थे। रामलाल महता बड़े-बड़े सेठों की भी परवाह नहीं करते थे।

मेहमान खूब प्रतीक्षा कराने के उपरान्त शाम को आये। दोपहर को उन्होंने अपने साथ लाए हुए चबैने इत्यादि से पेट भर लिया था। फिर इतनी बड़ी यात्रा के बाद तीन घटे आराम किये बिना, नदी मे स्नान किये बिना, तथा दर्शन किये बिना, फ़ुरसत कैसे मिल सकती थी? बम्बई के सेठों को छोड़ कर, यदि कोई और होता, तो महताजी उन्हें कुछ सुना देते! पर उनका क्रोधी स्वभाव भी बम्बई के सेठों का आदर करता था। इसलिये ऐसों के आगे इन्हें अपने मिजाज को ठीक रखना बहुत महज हो जाता था।

आने वालो में दो ठस्सेदार बीस-बाइस वर्ष की उम्र वाली स्त्रिया, तीन बड़े ही प्रभावोत्पादक पच्चीस-तीस वर्ष की उम्र के पुरुष तथा दो नौकर थे। सूरज ने बिछौना बिछा कर, दोनों स्त्रियों से बैठने के लिये कहा। अन्दर-ही-अन्दर हंस कर, जैसे कोई उपकार कर रही हो, इस प्रकार वे बैठ गईं! पुरुष महताजी के साथ तख्त पर बैठ गये।

"बहिन, तुम भी हमारी जात की हो?" सूरज ने पूछा।

"गौड़ ब्राह्मण है हम," शान से एक ने जवाब दिया। फिर दोनो हंस पड़ीं।

"हम भी इसी जात के है। यात्रा को आये होगे?"

"नही, वैसे ही सैर करने चले आये है," जैसे हसी कर रही हो, इस प्रकार एक स्त्री बोली।

"ये तुम्हारी बहिन है?"

"नहीं, सहेली है।" और फिर दोनो जरा जोर से हंसी।

"वे जो हीरे की अंगूठी पहने हुए हैं, मेरे पति हैं," अब तक मौन बैठी स्त्री ने कहा—"और वे बड़े-बड़े बालों वाले इनके। तीसरे, जो उनके साथ बैठे हैं, वे उनके मित्र, भाई-बन्द होते हैं।" उसको सूरज जरा

मूर्ख लगी, इसलिये बनाने में उसे बड़ा मजा आया।

इतने में जसु कोठे से उतरी। "भाभी, थालियां परस गई ?" और उसने आने वाली स्त्रियों की ओर ध्यान से देखा। उसने तुरन्त सुबह नदी पर मिले हुए उन लोगों को पहचान लिया।

"यह तो जो सुबह मिली थी, वही लड़की है। देखो !" दोनों एक साथ बोल उठीं।

जसु ने इस समय रेशमी चोली तथा मुथनी पहन रक्खी थी, और इसलिये जरा मोटी और सुन्दर दिखाई दे रही थी। उसका रंग गोरा तो नहीं था, पर उसमें एक प्रकार का लावण्य था। तख्त पर बैठे हुए पुरुषों ने भी उसे देखा।

"बहिन, पहनने को कुछ लायी हो ?" सूरज ने पूछा।

"नहीं, हम तो ऐसे ही बैठेंगे," सूरज ने जैसे कोई बहुत पुरानी बात कही हो, इस प्रकार उसने कहा।

"जसु, अपने भाई से कहो कि खाना तैयार है।"

जसु धीरे-धीरे भाई के पास गई, और सूचना दी। ये तीनों आदमी उसे देखते रहे।

सूरज के हाथ की स्वादिष्ट रसोई सब ने शांति तथा आनन्द के साथ जीमी। उनको लगा कि किसी बड़े बदले की आशा से ऐसी सुन्दर रसोई तैयार हुई है।

रामलाल प्रत्येक बात में अपनी महानता प्रदर्शित करने का प्रयत्न करता। उसने उपन्यासों में पढ़ा था कि बम्बई के सेठों के साथ कैसी बातें करनी चाहियें। और वह वैसी ही बातें कर रहा था। वे सब उसे आनन्द से बनाये जा रहे थे। जसु ने सहज बुद्धि से समझ लिया कि उसे ये लोग बहुत हल्की समझते हैं, और उसके हृदय को चोट पहुंची। यदि किसी दिन वह भी इन लोगों-जैसी ही हो जाय, तो क्या ये लोग फिर भी उसे इतनी ही हल्की समझेंगे ? उसके अन्तर में उसी क्षण से महात्वाकांक्षा का एक छोटा-सा बीज पड़ गया।

जीमने के उपरान्त, सूरज ने सुपारी और इलायचियां निकाल कर, उन के सामने रख दीं। डोलर ने एक दस रुपये का नोट निकाल कर सूरज के सामने रख दिया। "तुम ने इतनी अधिक तकलीफ की, इससे हमें बड़ी खुशी हुई!"

जसु की आंखें गुस्से से भभक उठीं। और गरीब सूरज का अंतर भी इस अपमान से घायल हो गया। उसने कहा—"बहिन, हम होटल का काम नहीं करते। पैसा रहने दो। गाव मे बहुत से ब्राह्मण है। उन्हें दान कर देना।"

डोलर खिसिया गई। थोड़ी देर में उसने आवाज दी—"भगवत भाई! हमें देर हो जायगी। चलने की तैयारी करो, तो अच्छा हो।"

पुरुष सब उठ खड़े हुए। नौकर जीम रहे थे, सो उन से "जीम कर आ जाना" कह कर, वे सब जल्दी-जल्दी महता जी को अधूरी बात पूरी करने का अवसर दिये बिना ही चल दिये। बेचारे रामलाल की बंबई वालों की विशिष्टता के विषय की धारणा और भी दृढ़ हो गई। पत्नी के आगे वह उन मेहमानों के खानदान के विषय में तथा जब वह बंबई गया था, तो बड़े-बड़े सेठों से उसका परिचय किस प्रकार हुआ था, ये सब बातें बताने लगा। पति के विचारों के सम्बन्ध में उसे शंका हो रही थी, पर उसमें उस से असहमत होने का साहस नहीं था, इसलिये सूरज चुपचाप सुनती रही।

जसु के बाल-मन पर मेहमानों की छाप बहुत दिन तक रही। वह जरा-जरा अपनी बोल-चाल सुधारने लगी, और पाठशाला जरा अधिक नियमित रूप से जाने लगी। सब से छिप कर वह उनकी तरह चलने का अनुकरण भी करने लगी। गांव की स्त्रियों ने एक दिन सुबह को उसे तिरछी माग निकाले हुए बड़े आश्चर्य से देखा।

उसे अपने कपड़े अच्छे नहीं लगते थे। गांव के आदमी उसे असभ्य लगते। वह भी यदि बंबई-जैसे शहर में जा कर रहे, और अच्छे कपड़े पहन कर स्कूल पढने जाय, तो क्या डोलर और पांखड़ी-जैसी ही नहीं हो जायगी?

सूरज उसमे होने वाले परिवर्तन को देखती। उसे उस पर बड़ा ही प्रेम था। उसने जीवन भर मे इकट्ठे किये हुए दस-पंद्रह रुपये निकाले, और गांव के प्रेमा दर्जी से दो ब्लाउज, दो पेटीकोट और दो ओढ़नी चुपचाप यशोदा के लिये बनवा दीं। अपनी सारी गुप्त पूंजी को खर्च करने मे उसे तनिक भी हिचक नही हुई। बल्कि जसु को प्रसन्न देख कर, उसके आनन्द की सीमा नही रही।

जन्माष्टमी के दिन जसु सुबह से ही तैयारी करने लगी। उसने बंबइया फैशन से बाल काढ़ने का प्रयत्न किया, माथे पर एक छोटा-सा टीका लगाया, और एक धुधले, पुराने शीशे में अपने को देखा। वह उन-जैसी ही सुन्दर लग रही थी। इस विचार से उसे जरा हंसी आगई। पर छींट की सुथनी तथा चुंदरी की ओढ़नी पर दृष्टि पड़ते ही, उसका मुख मुरझा गया।

"जसु, मैंने तेरे कपड़े उस संदूक पर निकाल कर रख दिये है। उन्हें पहन लेना।"—बाहर से आवाज आई।

सन्दूक पर कौन कपड़े होंगे? उसने सब से अच्छे छांट कर ही तो ये निकाले थे। जसु का मुख दूसरे गंवारू कपड़े पहनने के विचार से फिर मुरझा गया। वह भारी मन लिये संदूक के पास गई, और विस्मय में चिल्ला उठी—"भाभी! ये किसके कपड़े है?" फिर दौड़ती-दौड़ती बाहर आई। "मेरे हैं क्या? तू ने कब खरीदे?"

सूरज को उसका आनन्द देख कर सन्तोष हुआ। उसे अपने खर्च किये हुए पैसे सार्थक लगे। पर दहलीज में रामलाल बैठा था। वह उठ कर एक दम जोर से चिल्लाता हुआ आया, और जसु के हाथ से वे कपड़े छीन लिये। उसका मिजाज बिगड़ गया।

"किसने खरीदे ये कपड़े? मैं तो कमा-कमा कर अपने को घिसे डाल रहा हूं, और इस कमबख्त को कुछ ख्याल ही नहीं! कपड़े खरीद लिये बंबई की सेठानियो की तरह के! बड़ा पैसा भरा पड़ा है न!"

वाग्बाणों की इस वृष्टि में जसु और सूरज, दोनों का उत्साह ठंडा पड़ गया।

"घर का पैसा खर्च नहीं किया। मैंने जो पैसे इकट्ठे कर रख थे, उनसे बनवाये हैं।"—सूरज ने तुरन्त कहा।

ये कपड़े सूरज के गुप्त-पैसे से खरीदे गये हैं, यह जान कर रामलाल और भी चिढ़ गया। "स्त्रिया अपने मालिको को धोखा दे कर पैसा इकट्ठा करती हैं। देखो, इन कलियुग की पतिव्रताओं के लच्छन!"

जब रामलाल का मिजाज बिगड़ जाता था, तो फिर उसके सामने बोलने या खड़े रहने की किसी को हिम्मत नहीं होती थी। फिर बेचारी इन दो बालाओ की क्या चलती? रामलाल की जीभ चलती, और उत्तर मे दोनों की आंखो से आसू बहते। पर दोनों के सौभाग्य से घर के सामने कोई रामलाल का नाम पूछता हुआ आ गया।

"भाई, रामलाल महता जी का घर कौन-सा है?"

"मैं ही रामलाल हू। क्या है?"—रामलाल लड़ना भूल कर बाहर आ कर बोला।

"जी, मैं गंगाप्रसाद सेठ के यहा से बम्बई से आया हू। भगवत प्रसाद सेठ, जो आपके यहां जीम गये थे न, वे उनके पुत्र हैं।" आगन्तुक देखने में कोई गुमाशता-सा लग रहा था।

"आओ, आओ, घर में आओ!"

बंबई के सेठ का नाम सुन कर, फिर रामलाल का विवेक लौट आया। उसने आगन्तुक को तख्त पर बिठा दिया। "यशोदा! थोड़ी सुपारी-इलायची ले आना!"

थोड़ी ही देर में इधर-उधर की बातों के बाद, महता जी ने पूछा—"कहो, सेठ, क्या काम है?" जितनी जल्दी कोई और न करता, उतनी जल्दी उसने सीधा प्रश्न किया।

आगन्तुक ने घर मे चारो ओर दृष्टि डाली, और सुपारी-इलायची रखने के लिये आई हुई यशोदा को भी निरीक्षक की दृष्टि से देखा 'लड़की तो ठीक है, पर घर कुछ अच्छा नहीं लगता,' उसने मन मे कहा। उसने रामलाल का स्वभाव घर मे घुसने से पहले देखा था। उसे उसका छोटा-सा अंगोछा

पहने हुए फिरने वाला ढंग बड़ा ही बेढंगा लगा। 'सेठ लोगों की भी अजीब पसन्द है! आंगन मे आने पर समधी अच्छे लगें, ऐसे तो बहुत है। पर जात में लड़कियों की कमी है, इसलिये करे भी, तो क्या?'

"महता जी!" उसने जोर से कहा—"बड़ा शुभ समाचार लेकर आया हूं। सेठ ने मुझे चि. भगवत प्रसाद के लिये आपकी बहिन की मंगनी के लिये भेजा है। आपके यहा तो घर-बैठे गंगा आ गई! आपकी बहिन का भाग्य बड़ा तेज है!"

महता जी बिलकुल हक्के-बक्के ही रह गये। यह हंसी है या सत्य, यह भी उनकी समझ में नही आया।

"क्या? क्या कहा?"—उन्होंने आंखे फाड़ कर जोर से पूछा।

दीनानाथ जरा हंसा, और फिर से अपने आने का उद्देश्य कह सुनाया। भीतर बैठी हुई सूरज और यशोदा के आंसू सूख गये। वे भी कान लगा कर सुनने लगीं। "सुन रही है? वे सेठ जो हमारे यहां जीम गये थे न, उन्होंने हमारी यशोदा की मगनी के लिये इन्हे भेजा है। गुड़ ला। मुह मीठा करे।"

"महता जी, विवाह तुम्हे इसी माघ के महीने मे करना पड़ेगा, क्योंकि छोटे सेठ का विचार इस मार्च में विलायत जाने का है। और सेठ उनका विवाह किये बिना भेजना नहीं चाहते।"—थोड़ी देर इधर-उधर की बातें करने के बाद जब महता जी का उत्साह जरा शांत हुआ तो दीनानाथ ने कहा।

"तुम जब कहोगे, तभी हो जायगा। एक-दूसरे की सुविधा देखना तो समधियों का धर्म ही है।"—जैसे अभी से अपने को समधी मान लिया हो, इस प्रकार रामलाल ने कहा। "सुन रही है? आज खीर पकाना।" —उसने तुरन्त सूरज बहू को आज्ञा दी।

अपनी पाली-पोसी हुई, यशोदा को इतनी अच्छी ससुराल मिलते देख कर सूरज के हर्ष की सीमा न रही।

न जाने कैसे थोड़ी देर में सारे गांव मे खबर फैल गई। और किसी

दिन कदाचित ही मिलने आने वाले लोग भी आज मिलने आये। लड़की बड़ी भाग्यशालिनी निकली! "अरे बहिन, हम तो जानते ही थे कि पूर्व-जन्म की देव कन्या ही तुम्हारे घर आ गई है!" "इसका रूप ही बता रहा है!" इत्यादि-इत्यादि वाक्य सुनाई देने लगे। सूरज ने हर्ष से सब का सत्कार किया।

विवाह के दिन जैसे-जैसे पास आते गये, वैसे-ही-वैसे जसु के मन में चिंता होने लगी। उसके बंबई वाले श्वसुर बारात लेकर आयेंगे, और अपने गंवार संबंधियों को देखेंगे, तो क्या कहेंगे? उसके मन में यह विशेष चिंता थी। उसके भाई, भाभी भी कैसे लगते थे! छोटी से बड़ी करने वाले ऐसे स्नेहशील भाभी और भाई के विषय में इस प्रकार सोचते हुए उसे शरम आती, फिर भी अधिकतर यह विचार उसके मन में आये बिना न रहता।

जसु की सास बंबई से उसे देखने आई। उनके ठहरने के लिये गांव की धर्मशाला में प्रबन्ध कर दिया गया था। घर में आते ही, उन्होंने नाक चढ़ा कर, इधर-उधर नजर डाली, और सूरज के साथ बड़े आदमी की तरह थोड़ी-सी बातें कीं। सूरज बेचारी ने गाव की रीति के अनुसार उनका स्वागत-सत्कार किया। "यशोदा कुंवर को बुलाओ!" भावी सास ने आज्ञा दी।

मणि कुंवर सेठानी ने कान में हीरे के बड़े-बड़े फूल और नाक में चकाचौंध कर देने वाली हीरे की कील पहन रक्खी थी। उनके दूसरे अंग भी उनकी हैसियत के अनुरूप अलंकारों से सुशोभित थे। चीनी रेशम की साड़ी तथा बनारसी टुकड़े की चोली में वे बड़ी प्रभावशालिनी लग रही थीं। उन्होंने भीतर से आती हुई यशोदा को गंभीरता से देखा। लड़की तो पसन्द आई, पर उसका बनाव-शृङ्गार कुछ पसन्द नहीं आया। पर इस बहू पर वे सदैव अपनी धौंस जमाये रह सकेंगी, इस विचार से उन्हें थोड़ा संतोष हुआ।

यशोदा का हृदय धड़क रहा था, और उसके गाल पर रक्त तेजीसे आ-जा रहा था। उसने सास और भाभी के बीच का अंतर देखा। उसने सास

की आखो और शब्दोमे बड़प्पन की छाया देखी। ऐसी भाभी का ऐसा घर होने के लिये जैसे वही उत्तरदायी हो, इस प्रकार उसे मन-ही-मन लज्जा आई। उसे विश्वास नहीं हुआ कि वह इस सास की बहू होने वाली थी।

सास कपड़े, आभूषण और रुपये दे गई। सूरज के प्रेम-भरे आदर-सत्कार को उन्होंने अपने छोटे-छोटे और तुरन्त के जवाबो मे ही डुबा दिया। उनके लिये बहू के संबंधियों का कोई मूल्य नहीं था। यशोदा के भावी सुख को देखते हुए, सूरज की दृष्टि अपने मान-अपमान पर बिल्कुल नहीं गई। 'बंबई के लोगों की ऐसी ही रीति होगी', उसने यह समझ कर संतोष कर लिया।

विवाह का दिन आ पहुंचा। जसु के पैसे वाले श्वसुर को ऐसे संबंधियों के यहां बारात लाते हुए शरम आई। विवाह के दूसरे दिन वर राजा दो मित्रो के साथ आये, और मुहूर्त आने पर, चार मंगल-फेरे फिर लिये। महता जी के आंगन मे इकट्ठा हुआ सारा गाव यशोदा के भाग्य की सराहना करने लगा। जमाई राजा का रूप और वैभव देख कर, सब की छाती एक-एक बालिश्त फूल गई।

तीसरे दिन यशोदा को ले जाने की तैयारी होने लगी। बाराती इन गांव वालों के बीच दो ही दिन रह कर, ऊब गये थे। महताजी का एक दिन और रुकने का आग्रह होने पर भी, उन्होंने जाने की तैयारियां कर डाली।

बेटी-जैसी अपनी ननद को विदा करते समय सूरज को ऐसा लगा कि जैसे उसके जीवन में से कोई बड़ी महत्वपूर्ण वस्तु लिये जा रहा हो। उसने अपने उमड़े हुए आंसुओं को, अपशकुन समझ कर, आंखों-ही-आखो मे रोक लिया।

"बहिन, विवेक से रहना, और यश दिलाना!" आंसू जैसे गले मे उतर गये हों, इस प्रकार गद्‌गद्‌ कंठ से उसने कहा। जसु ने उत्तर में केवल दो आसू गिरा दिये।

"जमाई राजा, मेरी जसु को ठीक से रखना! इसे कभी भी मैंने अपनी आंखों से दूर नहीं किया!" सूरज की आवाज रुंध गई।

रामलाल की आंखो में भी आंसू आ गये। उसका मोटा, गठा शरीर

एक अश्रुपूर्ण हिचकी से हिल उठा। जसु को उसने स्नेह के एक अपूर्व भाव से छाती से लगा लिया।

"कोई चिन्ता न करना। यशोदा कुंवर तो रानी की तरह रहेगी।" जमाई राजा के साथ आये हुए दीनानाथ ने जवाब दिया। "अब मुहूर्त निकला जा रहा है। नाव को चलाने के लिए कहो।"—उसने मल्लाह से कहा।

नाव नर्मदा के जल को चीरती हुई, धीरे-धीरे बढ़ने लगी। जब तक नाव दिखाई दी, तब तक रामलाल और सूरज किनारे पर खड़े रहे।

नववधू का अंतर उज्ज्वल आशाओं से भरा हुआ था। उसका बाल-हृदय पति के प्रेम को नहीं समझता था। नये जीवन की कल्पना बड़ी ही सुखद थी। उसके लिये, बंबई अलकापुरी थी, वहां के पुरुष देवता थे, और स्त्रिया अप्सरायें थीं। अब वह भी उन्हीं अप्सराओं में से एक हो जायगी। इस विचार-मात्र से ही उसे एक प्रकार के सुख की अनुभूति होती थी। उसे बचपन का घर और गांव छोड़ते हुए, प्यारी भाभी को छोड़ते हुए शोक नहीं हो रहा था। बारह वर्ष की बालिका यशोदा विधाता के आदेशानुसार परिचितों से अलग होकर प्रसन्न मन से अपरिचितों की ओर खिंच गई।

सामने वाला किनारा और भाई-भाभी धुंधले पड़ते गये, और नौका किनारे पर आ लगी। यशोदा ने अपने गांव पर एक अंतिम दृष्टि डाली। वह निस्सन्देह एक प्रकार के सुख का अनुभव कर रही थी, फिर भी अपने लोगों को छोड़ते हुए उसकी आंखों में आंसू आ गये।

गाड़ी चल दी।

यशोदा जिस दिन ससुराल आई, उस दिन नववधू को देखने के लिये बहुत-से आदमी इकट्ठे हुए। सास ने सब के सामने उसका नाम बदल दिया, और सीधे-सादे यशोदा के बदले अपने घर के अनुरूप भारी-भरकम नाम यशोधरा कुंवर रख दिया। उनकी धारणा थी कि इससे उनके लड़के को प्रसन्नता होगी और बहू का प्रभाव अधिक पड़ेगा। बहुत अंशों में उनकी यह धारणा ठीक भी निकली।

यशोधरा (यशोदा) ने बंबई का जो सपना देखा था उससे यहां का सब कुछ बिल्कुल नवीन और विभिन्न था। हरिणी-सी चंचल और मुक्त यशोधरा यहा एकदम एक नवीन सृष्टि के बीच आ पड़ी थी। उसे उस सृष्टि के रीति-रिवाज और कायदे-कानूनों का पता नहीं था। थोड़े दिनों तक तो उसकी जंगल में भूले हुए एक दीन प्राणी-जैसी दशा रही। स्वभाव से वह होशियार थी, फिर भी जैसे उसे कुछ पता ही न हो, ऐसी दिखाई देती थी। अपनी सास के प्रताप तथा प्रभाव से वह सदा विस्मय मे डूबी रहती। हंसी उड़ेगी, इस भय से वह बोलती भी कदाचित ही कुछ।

उसका एक सपना यहां पूरा हो गया। नये-नये वस्त्र तथा आभूषणों से उसे सजाया जाता। बहू वर के योग्य लगे, इसलिये उसकी रूप-वृद्धि के अनेक प्रयत्न होते। पर जो कुछ भी किया जाता, वह केवल करने के लिये ही किया जाता। सूरज भाभी की तरह उसे उत्साह से देखने वाला और उसकी प्रशंसा करने वाला वहा कोई न था। सास उसे जी भर कर बनातीं। भगवत प्रसाद उसे मनोरंजन की दृष्टि से देखता। घर में रहने वाले आश्रित बहू की कुछ-न-कुछ गलती निकाल कर, मणि कुवर सेठानी के कृपा-पात्र बनने का प्रयत्न करते। इन सब के बीच अकेली, एकाकी और उस वातावरण मे घुटती हुई यशोदा की नदी मे पानी भरने से बढ़ी हुई सारी चंचलता समाप्त हो गई।

इसी प्रकार लगभग दो वर्ष बीत गये। इस पूरे समय मे वह एक बार भी शुक्लतीर्थ नहीं गई। भाई-भाभी ने एक-दो बार बुलाया, पर सासजी ने उसे भेजने से इनकार कर दिया। ऐसों के यहां से लड़की ले ली, यही उपकार कोई कम नही था। अब उनके साथ किसी भी प्रकार का संबंध रक्खा जाय, ससुराल वाले इस बात के लिये तैयार नहीं थे।

चौदहवें वर्ष यशोधरा के लिये अलग कमरा कर दिया गया। असंस्कारी होने पर भी, यशोधरा ने अपने पति के विषय में अनेक कल्पनाये कर रक्खी थी। पर उसके आने के उपरान्त केवल कृपा के रूप में कभी उससे जरा हंस-बोल लेने के अतिरिक्त और कोई संबध भगवत प्रसाद ने नही

रक्खा था। वह पति का सुन्दर शरीर दरवाजे में छिप कर देखती। उसकी एक दृष्टि अथवा शब्द के लिये यथा-शक्ति सारे प्रयत्न करती। उसके लिये अनेक स्वादिष्ट वस्तुये बनाने की विशेष कला का प्रयोग करती, पर भगवत-प्रसाद इतना पूछने का भी कष्ट न करता, कि किसने बनायी है।

धीरे-धीरे वह सास-ससुर को जीतने के भी अनेक प्रयत्न करने लगी। मणि कुवर सेठानी जब घी के दीपक जला कर, रेशमी कपड़े पहन कर, ठाठ से पूजा मे बैठती, तब वह उनकी भव्य लगने वाली देह की ओर भक्ति-भाव से देखती रहती। ससुर जी के लिये उसकी बनाई हुई पान की सुन्दर गिलौरिया ऐसी दिखाई देतीं, कि जैसे अदृश्य हाथो द्वारा तैयार की गई हों। घर की छोटी-छोटी बातें भी वह सास जी के इच्छानुसार करती, और सदैव उसका यही प्रयत्न रहता कि उनमे उसकी अपनी अक्ल कहीं दिखाई न दे। वह सदैव प्रफुल्ल तथा उत्साह से परिपूर्ण दिखाई देती। दुःख उसे कभी अनुभव ही न होता था, क्योंकि दुःख उसने न तो कभी देखा था, और न जाना था। उसकी कल्पना ने भी कोई ऐसी सृष्टि खड़ी नही की थी कि उसे असंतोप होता।

धीरे-धीरे सास ने बहू की कुलीनता और सुजनता देखी। गाव की बहू के प्रति कठोर किये हुए उसके हृदय से भी स्नेह की धारा फूटने लगी। और उसने ऐसी देवी सदृश बहू के प्रति युग की उपेक्षा दूर करने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये।

भगवत प्रसाद के मन में यशोधरा के प्रति अरुचि-जैसी कोई वस्तु दिखाई नही देती थी; पर उसके प्रति उसके मन मे प्रेम हो, यह भी नहीं लगता था। मणि कुवर सेठानी बहू की प्रशंसा करतीं, तो वह हंस कर सुनता। यशोधरा के डरते-डरते किये हुए रिझाने के प्रयत्नों की ओर वह बहुधा उपेक्षा से और कभी-कभी संतोष से देखता। वह सदैव उसके साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करता; पर उसके व्यवहार मे कृपा-प्रभाव की छाया रहती। और यशोधरा जब किसी-न-किसी रूप मे पति का कृपा-भाव देखती, तो कुछ हतोत्साह हो जाती।

यशोधरा अभी बालिका ही थी। उसका स्त्रीत्व न तो अभी फूला था, और न फला था। अपने जीवन मे उसने उससे अधिक अच्छा पति न तो देखा था और न उसकी कल्पना ही की थी। गांव मे उसका भाई सदैव भाभी से लड़ता रहता था। बहुत से असभ्य पति अपनी पत्नियों की डंडे से भी पूजा करते थे। फिर भी भगवत प्रसाद में उसे किसी कमी का आभास मिलने लगा था।

कभी-कभी उसे असंतोष होने लगता था। उसके उपहारों का अनादर कभी-कभी उसे पीड़ा पहुंचा देता था। एक बार बड़े परिश्रम से तैयार किया हुआ एक गुलूबन्द उसने भगवत प्रसाद के हाथ में बड़ी आतुरता से रख दिया।

"अच्छा है," भगवत प्रसाद ने उसे जरा-सा देख कर कहा।

"तुम इसे पहनोगे ?" डरते-डरते उसने पूछा।

"मैं ?...हां। गनपत से कहो कि मेरी अलमारी मे रख दे।"

बहुत दिनो तक यशोधरा ने उसे अपने पति के गले में देखने की आशा रक्खी, पर वह आशा कभी पूरी नहीं हुई। उसने फिर बात को याद करने का भी साहस नहीं किया।

ऐसी छोटी-छोटी घटनायें कभी-कभी उसके बाल-मन में छिप कर बैठ जाती थीं, और कभी-कभी एकान्त में उसे रुला भी देती थी। पर उसके प्रगतिशील जीवन में ऐसा परिताप बहुत समय तक टिक नहीं पाता। घड़ी भर में सब-कुछ भूल कर, वह फिर वही आनन्दमयी और संतोषी यशोधरा बन जाती।

इसके बाद दो-तीन वर्षों के अन्दर अकस्मात सास-ससुर घर का संपूर्ण भार जवान बेटे और बहू के कंधों पर डाल कर स्वर्ग सिधार गये। सास ने मरते समय बहू और बेटे को पास बुला कर आशीर्वाद दिया, और यशोधरा को घर की मर्यादा को सुरक्षित रखने का उपदेश दिया। एक गहरा निःश्वास छोड़ कर, उन्होंने अपने पुत्र की गोद में सिर रख कर प्राण छोड़ दिये।

एकदम इतना भार सिर पर आ जाने पर, यशोधरा ने सासजी की

प्रणाली से घर चलाना आरम्भ कर दिया। वह असामयिक गंभीरता अपनाने लगी। सास का अनुकरण कर के, उसने पूजा-पाठ और दान पुण्य चालू रक्खे। सास की तरह उसने माधव बाग जाना शुरू कर दिया। आश्रितो और सगे-संबंधियो से बिलकुल पहले-जैसे समस्त काम-काज उसने मणि कुंवर सेठानी की तरह ही जारी रक्खे।

भगवत प्रसाद के घर का सारा तंत्र थोड़े ही दिनो मे बिलकुल बदल गया। इस परिवर्तन का कर्ता भगवत प्रसाद स्वयं था। उसने अपने तथा यशोधरा के जीवन का सारा क्रम बदल डाला। ऐसा लगता था कि जैसे उसने इस परिवर्तन की बात पहले से ही निश्चय कर रक्खी हो।

इस परिवर्तन के सब से अधिक प्रयोग यशोधरा पर होने लगे। उसे नवीन-रीति रिवाज सिखाने के लिये एक मैडम प्रतिदिन आने लगी। उसे संगीत सिखाने के लिये एक उस्ताद आने लगा। तदुपरान्त और बहुत-से मास्टर आने शुरू हुए। काढने-बुनने के लिये एक पारसिन, और अंग्रेजी के लिये एक मास्टर रक्खे। संस्कृत के लिए एक शास्त्री जी भी नियुक्त हुए।

यशोधरा इस सारी सेना के बीच घबरा जाती। उसे सदैव इन सब के विचारो पर जीना पड़ता। उससे कोई भी सलाह न लेता। वह गांव की है, इसलिये उसे कुछ नहीं आता, सब के मन में यही धारणा जम गई थी।

उसका पति भगवत प्रसाद भी पिता की मृत्यु के बाद संपत्ति के बल से नगर का एक प्रमुख व्यक्ति गिना जाने लगा था। प्रत्येक शनिवार को रेस में जा कर गवर्नर के साथ बॉक्स मे बैठने मे वह गर्व का अनुभव करता। सरकारी पार्टियों मे उसे बुलाया जाता। सम्मानित क्लबों का सम्मान उसकी उपस्थिति से और भी बढ जाता।

यशोदा (यशोधरा) की शिक्षा का विचार इसी का टेढ़ा-मेढ़ा परिणाम था। पत्नी को साथ घुमाना हो या घुमाना पड़े, तो अभी उसमे बहुत-सी बातें होने की आवश्यकता थी। यशोधरा को बाहर भगवत प्रसाद की पत्नी के रूप में, अर्थात् सुन्दर, सभ्य और सुसंस्कृत दीखना चाहिये।

आरम्भ में अधिकतर उससे भूले हो जातीं। यह जीवन जैसा उसने

सोचा था, उससे बिलकुल भिन्न था। उसे अपनी सास-जैसी बनना आसानी मे आ जाता; पर मिसेज भगवत प्रसाद, या शायद भविष्य की लेडी यशोधरा होना उसके लिये एक बिलकुल भिन्न प्रकार का और कठिन काम था। उम्र, अनुभव और ज्ञान जैसे-जैसे बढ़ते गये, वैसे-वैसे उसे पति की उपेक्षा अखरने लगी थी। इसलिये अपने पति को आकर्षित करने के लिये, वह उसके सभी प्रयत्नों मे बड़े उत्साह से भाग लेने लगी।

उसे अपने पति पर प्रेम था; उसके सुन्दर शरीर के प्रति एक अजीब आकर्षण था। उसकी प्रशंसा का एक शब्द सुनने के लिये वह कितने ही दिनो तक परिश्रम करने के लिये तैयार रहती। कभी-कभी वह अर्ध-गंभीरता से प्रशंसा करता भी। पति को प्रसन्न रखना यशोधरा के लिये उसका धर्म था, और वह उसका पालन कर रही थी। इसलिये इसमे कोई नवीनता न थी।

एक दिन यशोधरा को पता लगा कि उसका पति उससे प्रेम नहीं करता। मुनीम की बहू चम्पा ने एक दिन उसे सारी बाते बताई—"भाभी, वे तो सर रूपनाथ दास की लड़की के साथ, जो कॉलेज मे उनके साथ पढ़ती थी, विवाह करना चाहते थे। प्रमदा भाभी जब-तक जीवित थी, तब-तक तो इनसे कुछ बोला नही गया। पर फिर इन्होंने उसकी मंगनी के लिये कहलवाया। लेकिन श्रीमती ने ऐसा जवाब दिया कि इनके कलेजे मे चुभ गया।"

"क्या जवाब दिया था?" यशोधरा ने आतुरता से पूछा।

"नहीं, भाभी, मैं नही बताऊंगी। सेठ को पता लग गया, तो नाराज हो जायंगे।"

"नहीं-नही बताओ। मैं उनसे नही कहूंगी।"

"उसके अभिमान के क्या कहने! बोली कि 'ऐसे व्यापारियो के लड़को को मुझसे विवाह करने की इच्छा करने से पहले सात जन्म तक तप करना चाहिये!,' भाई को यह बात ऐसी लगी कि इन्होंने भी प्रण कर लिया, कि 'इससे भी सुन्दर स्त्री लाऊंगा'।"

"तब मुझसे विवाह क्यों किया?"

"कहीं जात के बाहर जाया जाता है ? भाई यात्रा से लौटे, तो चीनू भाई ने सेठानी जी से तुम्हारे बारे में कहा। छोटी-सी-जात में बड़ी लड़कियां थीं ही नहीं। चीनू भाई ने तुम्हारे रूप और होशियारी की प्रशंसा की। सेठानी से उन्होंने कहा कि 'घर ला कर शिक्षा देंगी, तो श्रीमती से भी सुन्दर निकलेगी। ऐसी लड़की है।' सेठानी के ध्यान में बात उतर गई, और बिना किसी से पूछे ही तुम्हारी मगनी करा दी।"

ये बातें सुनते-सुनते यशोधरा की नाक फूल गई, आंखें डबडबा आईं। मुनीम की बहू ने उसकी ओर देखा, तो पछताई। कहीं इसने कह दिया, तो ?

"देखो भाभी, उनसे मत कहना, नहीं तो हमारे ऊपर व्यर्थ गुस्सा होंगे।"

"नहीं कहूंगी। फिक्र मत करो।"—कह कर यशोधरा उठ गई, और कमरे में जाकर पलंग पर जा पड़ी।

पर उस दिन से वह पति को रिझाने के लिये और भी अधिक परिश्रम करने लगी। उसके पति के मन में श्रीमती जैसी स्त्री के प्रति मोह था। उस ने उसी क्षण से श्रीमती जैसी होने का निश्चय कर लिया। उसने श्रीमती को देखा था। उपर्युक्त सूचना के उपरान्त छोटी-छोटी लगने वाली अनेक घटनायें उसे याद आईं। उसका पति उसके विकास की ओर कभी प्रसन्नता से देखता, और कभी अधीरता दिखाता।

श्रीमती जब कभी भी उसे देखती, तो उसकी आंखों में तिरस्कार के भाव चमक उठते। उसका विवाह एक बेरोनेट पति से हुआ था, इस बात का गर्व उसके मुख पर स्पष्ट दिखाई देता था। अब तक यशोधरा उसे अभिमान का परिणाम समझती थी, अब उसका वास्तविक कारण उसकी समझ में आ गया। वह यशोधरा को सदैव हीनता अनुभव कराने का प्रयत्न करती। जब भगवत प्रसाद साथ होते, तो विजेता का गर्व दिखाती, और फिर अपने साथियों में मिल जाती। इससे सब चौंधिया जाते। उससे किसी को प्रेम नहीं था, फिर भी सब उसे जिज्ञासा और प्रशंसा की दृष्टि से देखते थे।

यशोधरा को यह सब याद आया। श्रीमती-जैसी बनना उसे इतना

कठिन लगा कि पल भर के लिये वह हिम्मत हार बैठी । पर पति को किसी तरह जीतना ही होगा, इस संकल्प से उस आर्या के अंतर मे एक नवीन शक्ति का संचार हुआ ।

पाच वर्ष बीत गये । यशोधरा अब बालिका न रह कर युवती हो गई । और इन पांच वर्षों मे वह इतनी बदल गई थी कि आसानी से पहचानी भी नहीं जा सकती थी । वह स्वयं अब बम्बई की एक प्रमुख महिला समझी जाने लगी थी, और सर्वत्र श्रीमती यशोधरा के नाम से प्रसिद्ध हो गई थी । उसे किसी भी प्रकार की भूल किये बिना सुन्दर कपड़े पहनना आ गया था । अंग्रेजी और संगीत में भी उसने यथेष्ट प्रगति कर ली थी । जब वह मोटर चलाती, तो लोग देखने के लिये खड़े हो जाते । गर्मियों में पहाड़ो पर जाकर, वह घुड़सवारी भी करना सीख गई थी । उसमे एक प्रकार की मनोहरता थी । शुक्लतीर्थ में पानी भरने के कारण, उसकी गर्दन बड़ी आकर्षक और सुन्दर थी । उसके मुह पर गुदे हुए गुदनो ने उसके सौंदर्य मे चार-चांद लगा दिये थे ।

लेडीज जीमखाना की वह सदस्या थी । उसे सुन्दर टेनिस खेलना खूब आता था । स्त्रियां उसके सुख को देख कर ईर्ष्या करती । पुरुष उसकी ओर प्रशंसा-युक्त, मुग्ध-दृष्टि से देखते । इतना होने पर भी, भीतर-ही-भीतर वह बहुत दुःखी थी । अनुभव और वैभव ने उसे बहुत-कुछ सिखा दिया था, पर उससे उसे मानसिक स्वस्थता या शान्ति नहीं मिली थी ।

इन सारे वर्षो का एक-एक घंटा उसने अपने को सभ्य और सुसंस्कृत बनाने तथा श्रीमती से अधिक सुन्दर बनने मे व्यतीत किया था । पर धीरे-धीरे उसके अन्तर में निराशा का प्रवेश होने लगा था । इस प्रकार के प्रयत्नों की ओर से भी अब उसका उत्साह धीरे-धीरे कम होने लगा था । उसके पति को उसके प्रयत्नों में कोई विशेष बात नहीं लगती थी, और स्वयं ऐसा लगता था कि जैसे वह इन प्रयत्नों से श्रीमती के चरण-चिह्नों को मापने का प्रयत्न कर रही हो । धीरे-धीरे उसे अपनी स्थिति लड़ाई करने

के लिये पाले हुए हाथी के बच्चे-जैसी लगने लगी। वह श्रीमती के दर्प-दलन के साधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी।

वह कभी भी श्रीमती का नाम नहीं लेती थी, पर उसे सदैव ऐसा लगता कि जैसे वह उसके तथा भगवत प्रसाद के बीच भूत की तरह खड़ी हो। वह भगवत प्रसाद को चाहती थी, उसकी पुरुषत्वपूर्ण कान्ति के प्रति उसे मोह था। पर उस पर सदैव भगवत प्रसाद का रोब जमा रहता। हृदय खोलकर बात करने का उसका मन होता, पर उसके पति के व्यवहार में एक प्रकार की अस्पृश्यता टपकती, जो उसे दूर-ही-दूर रखती थी।

यह सब होने पर भी वह अपने प्रयत्नों से पीछे न हटती, यदि दो दिन पहले की एक घटना से उसके स्वाभिमान पर गहरी चोट न पहुंची होती। वह भगवत प्रसाद के साथ क्लब में गई थी। वहां हुई आलोचना के शब्द उसके कान में पड़ गये, "भगवत प्रसाद नकली श्रीमती को ही लेकर चला आया!" अनजाने में या जान-बूझ कर ये शब्द जरा जोर से कहे गये थे। सुनने वाले ने क्या जवाब दिया, यह यशोधरा ने नहीं सुना!

फिर उसी व्यक्ति ने कहा—"शायद उसे श्रीमती नहीं मिली, इसी से श्रीमती की नकल करवा कर ही मन को समझा लेता है! दूध नहीं, तो छाछ ही सही!" और वह खिलखिला कर हंस पड़ा।

दूसरे एक-दो और वाक्य—'मोर के पंख लगाये...', 'श्रीमती भी वहां...' यशोधरा के मस्तिष्क में घुसे। रहे-सहे में पूर्णाहुति देने वाली बात यह थी कि श्रीमती वहां आई थी, सो अपने और उसके बीच का अन्तर उसने परख लिया। श्रीमती की दृष्टि से निकले हुए एक-दो छोटे तीरों ने भी उसे बींध डाला। उसका आत्म-सम्मान चूर-चूर हो गया, और उसने अपमान की पराकाष्ठा का अनुभव किया।

शुक्लतीर्थ के संस्कार होने के कारण उसे पति को छोड़ जाने की बात तक भी न सूझी, पर उसी क्षण से उसने निश्चय कर लिया कि वह श्रीमती-जैसी नहीं बनेगी। वह चाहे जैसी हो जाय, सुन्दर भी लगने लगे, पर दूसरी ही तरह से। वह कभी भी श्रीमती का अनुकरण नहीं करेगी, और

कोई उसे नकली श्रीमती बनायेगा भी तो नहीं बनेगी। उसके निश्चय में इस बार एक अपूर्व दृढ़ता थी।

पति-पत्नी के बीच तकरार होने का पहला अवसर मर जसावाल के यहां की पार्टी के दिन आया। बम्बई के सब बड़े लोग वहां एकत्रित होने वाले थे। यशोधरा नित्य की नवीन ढंग की वेश-भूषा के बदले, अपनी रुचि के अनुसार अपना शृङ्गार करने लगी। उसने जार्जेट की साड़ी के बदले बनारसी चांदी के तारों वाली काली साड़ी और वैसे ही कपड़े का सादी बांहों का ब्लाउज धारण किया, और स्लीपर पहने। बाल जरा सादे ढंग से सीधी मांग निकाल कर संवारे। धड़कता हृदय लिये वह बाहर आयी।

भगवत प्रसाद ने जरा आंख ऊंची की। "मन्दिर में जा रही है ?"

यशोधरा चकित हुई। "क्यों ?"

"तब यह भक्तों के-से कपड़े क्यों पहने हैं ?"

यशोधरा ने कुछ जवाब नहीं दिया, और गर्दन नीचे झुका ली। भगवत प्रसाद ने घड़ी देखकर कहा—"बदल आओ। अभी समय है।"

और कोई समय होता, तो यशोधरा दौड़ कर कपड़े बदल आती पर आज वह वहीं खड़ी रही। "मैं इसी तरह चलूंगी," उसने धीमे स्वर में, उसी प्रकार गर्दन झुकाये हुए कहा।

भगवत प्रसाद ने आश्चर्य से ऊपर देखा। यशोधरा ने आज पहली बार ही उसकी इच्छा के विरुद्ध बोलने की धृष्टता की थी।

"इस तरह नहीं चला जा सकता!" उसने गम्भीर स्वर में कहा।

"तब मुझे नहीं चलना है!" जैसे-तैसे साहस बटोर कर कम्पित स्वर में यशोधरा ने कहा।

"जैसी मर्जी!" उसने कहा, और उसकी ओर न तो देख कर, और न और कुछ कह कर, नौकर को गाड़ी लाने का हुक्म दिया।

यह उपेक्षा देख कर, उसका अन्तर विदीर्ण हो गया। आंसू आंखों में से निकल पड़े, इससे पहले वह चुप-चाप वहां से खिसक गई, और कमरे में जा कर दरवाजा बन्द कर खाट पर जा पड़ी।

धीरे-धीरे इस प्रकार की घटनायें होती गईं। यशोधरा ने बाहर आना-जाना लगभग बिलकुल छोड़ दिया। कभी श्रीमती मिलती, तो वह उसकी दृष्टि का उत्तर उसकी-सी ही अकड से देती।

यशोधरा मे धीरे-धीरे उसके अपने व्यक्तित्व का निर्माण होने लगा था। भगवत प्रसाद के ध्यान मे यह परिवर्तन आये बिना नहीं रहा। पहले-पहल तो उसके गर्व को यह बात अच्छी नही लगी; पर एक-दो जगह जब उसने श्रीमती और यशोधरा का दृष्टि-युद्ध देखा, तो उसे ऐसी प्रसन्नता हुई कि जैसे यह नवीन व्यक्तित्व उसने ही उसे दिया हो। उसकी छाती गर्व से फूल उठी कि श्रीमती अब देखेगी कि उस बैरोनेट की पत्नी की अपेक्षा इस व्यापारी की पत्नी अधिक महान है।

श्रीमती सुन्दर थी। उसका-सा रूप बहुत कम स्त्रियों में मिल सकता था। वह पढ़ी-लिखी थी, एक सर की लडकी थी, एक बैरोनेट की पत्नी थी। उसके रूप को देख कर लोग दीवाने हो जाते थे। उसका लावण्य बहुतों को बेहोश-सा कर देता था। जब वह कॉलेज में थी, तो लड़के उसे ही देखते रहते थे। जब वह कुमारी थी, तो उसकी जाति के बहुत-से लड़कों ने प्रण किया था कि 'विवाह करूंगा, तो उसी से करूंगा।' उसकी आंखों मे मद था। उसके शरीर में यौवन की अरुणिमा थी। उसके अंतर में गर्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। श्रीमती ने बचपन से ही अपने चारों ओर घूमने वाले परवाने देखे थे। उसके ख्याल में वे सब जल कर मर जाने के लिये ही पैदा हुए थे, नहीं तो किस लिये परमेश्वर उसे ऐसा रूप देता?

भगवत प्रसाद उसके प्रति आकर्षित था। इतने बड़े अपमान के बाद भी यदि वह कृपा की एक दृष्टि उस पर डाल देती तो भगवत प्रसाद अपने को धन्य समझता।

श्रीमती का अहंभाव भयंकर था। अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये जितना आवश्यक हो, उतना ही संबंध वह प्रत्येक व्यक्ति के साथ रखती थी। इस श्रेष्ठता को जो स्वीकार कर लेता था, उसी की ओर वह कृपा की मीठी

दृष्टि डालती थी; और जो नहीं स्वीकार करता था, उसका गर्व तोड़ने को वह सदैव तत्पर रहती थी।

उसने भगवत प्रसाद की पत्नी को जब पहले-पहल देखा, तो नाक फुला कर जरा हंसी। 'गांव की गंवार लड़की ले आया है। यही उसके योग्य भी है!' और तब से उसने उसके विषय में अधिक विचार करना भी छोड़ दिया।

पर यशोधरा का आज-कल का व्यवहार उसे कुछ रहस्यमय लगा। वह अब पहले से बिलकुल भिन्न तथा सर्वथा नये रूप मे आती थी। बात क्या थी, यह अभी तक पूर्णतया उसकी समझ मे नही आई थी। उसकी वेश-भूषा में परिवर्तन हो गया था। उसके व्यवहार मे गौरव और अडिगता आ गई थी। उसकी दृष्टि मे स्थिरता आ गई थी। अब उसे देख कर वह झंझावात से झुकने वाली बेल की तरह नही रह गई थी। और उसमें उसके जितना रूप न होने पर भी, अब लोगो का ध्यान तुरन्त उसकी ओर आकर्षित होने लगा था। श्रीमती यह बिलकुल सहन नही कर सकती थी कि जहां वह उपस्थित हो, वहां कोई और आकर्षण का केन्द्र बन जाय। उसे धीरे-धीरे यशोधरा पर गुस्सा आने लगा। स्वाभाविक वैर-भाव से वह उसे दुश्मन समझने लगी।

यशोधर के नये व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ धीरे-धीरे उसका स्थान भी निश्चित होने लगा। वह जहां जाती, उसकी ओर मुस्कान फेंकी जाती, और सब को उससे दो बातें करने की इच्छा होती। उसका रूप-माधुर्य सब को जीत लेता।

श्रीमती पीठ पीछे उसे बनाने का प्रयत्न करती, उसके रंग रूप, उसकी पसन्द तथा उसके रीति-रिवाजों में वह कोई न कोई त्रुटि निकालती। यथा-शक्ति हल्के विशेषणों वाले उसके नाम धरती। पर धीरे-धीरे उसे अपने समस्त प्रयत्न व्यर्थ दिखाई देने लगे। उसकी आकुलता का पारावार न रहा। और यह सोच कर भी उसका क्षोभ बढ़ा कि ऐसी क्षुद्र वस्तु के लिये वह परेशान हो रही है।

पर इन सब बातों का प्रभाव अनजाने में उसके व्यवहार पर पड़ता गया। पहले भगवत प्रसाद की ओर वह तिरस्कार की दृष्टि डालती थी, पर अब धीरे-धीरे उसे आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगी। भगवत प्रसाद ने इस परिवर्तन को समझा, पर उसके लिए श्रीमती का मोह इतना दुर्जेय था कि थोड़ा भी प्रयत्न किये बिना ही, वह उसके आकर्षण के वश में हो गया। वह उसकी ओर देखकर जरा हंस देती, तो उसका सारा दिन आनन्द में बीतता। वह उसके साथ दो बात कर लेती, तो उसकी आत्मा उड़ने-उड़ने-सी लगती। यशोधरा चुपचाप, एक भी शब्द न कह कर इस परिवर्तन को देखती। इससे हर बार उसके अंतर पर और गहरा आघात होता।

अब तक ये सब बातें तभी होती थीं, जब सब के सामने वे प्रकट में मिलते थे। धीरे-धीरे रहस्यमय रीति से श्रीमती ने परिचय बढ़ाना आरम्भ कर दिया। एक बार सर यादव जी हॉस्पिटल के शिलान्यास के समय दोनों दम्पति श्रीमती और उसका पति तथा भगवत प्रसाद और उसकी पत्नी, एक स्थान पर साथ-साथ हो गये। भगवत प्रसाद ने श्रीमती को नमस्कार किया, और वह तथा विमला प्रसाद भद्रोचित सभ्यता के निर्वाहार्थ बातचीत करने लगे। जरा देर में ही श्रीमती की आवाज बीच में ही आई—"विमल, तुम भगवत भाई को इतनी अच्छी तरह जानते हो, मुझे पता नहीं था। कल अपने यहां इनको 'टी' पर बुलाओ न!"

ना करना भी होता, तो भी भगवत प्रसाद के सामने ही विमला प्रसाद ना कैसे कर सकता था? और उसे अधिकतर श्रीमती के नखरों के वश में ही रहना पड़ता था।

"हां, बड़ी खुशी से!" और वह भगवत प्रसाद की ओर। मुड़ा "मि. भगवत प्रसाद, कल यदि आप मिसेज भगवत प्रसाद के साथ हमारे यहां 'टी' पर आयें, तो मुझे और मेरी पत्नी को बड़ी प्रसन्नता होगी।"

"सरदार बहादुर खंडेराव भी आने वाले हैं," श्रीमती ने कहा।

"क्यों चलोगी?" भगवत प्रसाद ने यशोधरा से प्रकट में जितने स्नेह-पूर्ण स्वर में पूछा जा सकता था, पूछा।

"जैसी आपकी मर्जी !" यशोधरा ने कृत्रिम हास्य लाने का निष्फल प्रयत्न करते हुए कहा।

भगवत प्रसाद के स्वाभिमान ने एक बार 'ना' कहने के लिये विद्रोह किया, पर उसके श्रीमती के अधीन हुए अन्तर को श्रीमती के पास जाने का एक भी अवसर चूकना अच्छा नही लगा। दोबारा आग्रह कराने के लिये ना करने के खतरे से भी वह डरा। "बड़ी खुशी से," उसने जवाब दिया।

"तो कल चार बजे !" एक मोहनास्त्र-जैसी हंसी फेंक कर श्रीमती जरा भी अधिक परवाह किये बिना, अन्य लोगों के साथ बात करने में लग गई।

रास्ते मे गाड़ी मे जाते समय बड़ी हिम्मत बटोर कर यशोधरा ने कहा—"कल मुझे लेडी कुंवर बाई के यहां स्त्रियों के सम्मेलन में जाना है, इसलिये मेरा जाना नही हो सकता।"

नाम बिना लिये हुए ही वह वाक्य श्रीमती को लक्ष्य कर के कहा गया था, यह भगवत प्रसाद तुरन्त समझ गया।

"मेरे साथ चलना है, इसलिए वहां का जाना नही होगा।" वाक्य में तो आज्ञा नहीं थी, पर स्वरों मे थी।

घर पहुंचने तक फिर कोई भी दूसरे से नहीं बोला। घर पहुंच कर यशोधरा चुपचाप कपड़े बदलने चली गई।

रात भर भगवत प्रसाद को नीद नही आई। उसे यशोधरा पर तरस तो आ रहा था पर श्रीमती को दिखाने के लिये ही तो उसने विवाह किया था, श्रीमती की स्पर्धा ने ही तो उसके इस विकास को जन्म दिया था, श्रीमती की ईर्ष्या को जगाने के लिये ही तो उसे इतना प्रगतिशील बनाया गया था। और अब जब श्रीमती पिघलने लगी थी, तो उसके स्वार्थी हृदय में यशोधरा के प्रति दयाभाव बहुत देर तक नही टिक सका। यशोधरा तो उसके लिये रामबाण-जैसी अस्त्र थी। अस्त्र पर तरस खाकर भला कोई महारथी हुआ है ?

और यशोधरा भी रात भर जाग कर, ऐसी अनेक घटनाओं का क्रम देखती रही। और प्रत्येक पर विचार करते हुए उसके प्राण काप-काप गये। उसके मन मे विद्रोह हो रहा था, पर उसमें पति का विरोध करने की हिम्मत नही थी। और साथ ही उसे यह भी डर लग रहा था कि कहीं ऐसा न हो कि यह छोटी-सी घटना महान् रूप धारण कर ले।

दूसरे दिन दोपहर को भगवत प्रसाद जरा जल्दी आ गया। यशोधरा ने सादा शृङ्गार किया। वह यह दिखाना चाहती थी कि उसके लिये श्रीमती के यहा जाना कोई असाधारण वात नहीं। बाहर से वह स्वस्थ और शात दिखाई दे रही थी।

भगवत प्रसाद ने बड़ी सावधानी के साथ कपडे पहने। रास्ते में जैसे यशोधरा अभी गाव से आई हो, इस प्रकार कैसे बोलना चाहिये, कैसे व्यवहार करना चाहिये, इत्यादि बाते बताता रहा। यशोधरा चुपचाप सब-कुछ सुनती रही।

वोर्डन रोड पर श्रीमती का बगला आते ही, यशोधरा ने जिज्ञासा से उस ओर दृष्टि डाली। दरवाजे मे घुसते ही लक्ष्मी और बहुमूल्य शौकों के चिह्न आगन्तुक की आखों को क्षण भर के लिये स्तंभित कर देते थे। बाग मे दिखाई देने वाली कला रमणीय की अपेक्षा भड़कदार अधिक थी। गाड़ी से गुजरते हुए योरप से लाये हुए सुन्दर पुतले और संगमरमर का फव्वारा तथा पहली दृष्टि मे कृत्रिम लगने वाला सुन्दर बगीचा यशोधरा को न जंचा। गाड़ी पोर्टिको मे जा खड़ी हुई। भगवत प्रसाद के मन मे भी हर्ष और खेद के विचार उत्पन्न हो गये। पर दोनों मे से किसी के पास भी अधिक सोचने का समय नही था। श्रीमती बाहर चबूतरे पर ही सत्कार करने के लिये खड़ी थी।

दोनों गाड़ी से उतरे। जैसे फूल बिखर पड़े हों, इस प्रकार हंसते हुए, श्रीमती ने आधुनिक शिष्टाचार के अनुसार दोनो से हाथ मिलाया। उसके पुष्प-पंखुड़ी जैसे हाथ के स्पर्श से भगवत प्रसाद के शरीर के सभी तार झन-झना उठे। चकाचौंध कर देने वाले प्रताप मे कृपा मिला कर उसने यशो-

धरा से भी हंस कर थोड़ी-सी बातें की। विमला प्रसाद ने भी बड़े ही व्यक्तित्व के आदमी-की-सी अस्पर्शयता से भगवत प्रसाद के साथ बात की, और दोनो को उनके बैठने का स्थान बताया।

श्रीमती की तड़क-भड़क उस दिन कुछ और ही थी। उसका सौंदर्य भयावह हो कर, द्रष्टा को आर-पार बींधे डाल रहा था। भगवत प्रसाद उसे देखते ही पराजित हो गया। यशोधर उसके सामने अल्पता का अनुभव कर, चुप हो गई थी। उसके सौभाग्य से अन्य एक-दो आदमी आ गये। उनका स्वागत करने में श्रीमती व्यस्त हो गई। इसलिये उसे बोलने की आवश्यकता ही नहीं रही।

सारा ड्राइंग-रूम बहुमूल्य और उत्तम-से-उत्तम फर्नीचर से बिलकुल नवीन ढंग से सजा हुआ था। प्रत्येक वस्तु श्रीमती की तरह ही चमक रही थी। प्रत्येक वस्तु छोटे आदमियों को और अधिक छोटाई का भास कराती थी। बहुत से मनुष्यों को वहां बैठ कर ऐसा लगता था कि जैसे वहा अदृष्ट अक्षरों में लिखा हो कि वह ड्राइंग-रूम अमुक मनुष्यो के बैठने के लिये है। यशोधरा ने बहुतों के ड्राइंग-रूम देखे थे। उसका अपना ड्राइंग-रूम भी कुछ बुरा नहीं था। पर श्रीमती के ड्राइंग-रूम के आगे उसे अन्य ड्राइंग रूमों की स्मृतियां म्लान पड़ती हुई लगीं। और इस सब का प्रभाव उसके आत्माभिमान को निर्दय रीति से कुचले डाल रहा था।

चाय पर निमंत्रित सब बड़े आदमी यशोधरा के अस्तित्व से अपरिचित थे। सब उसे कोई नगण्य, या जिससे परिचय करने के कष्ट की कोई आवश्यकता न हो, ऐसी स्त्री समझते थे। उस बेचारी का वहां कोई स्थान ही नहीं था। और वहां उसका कोई स्थान नही है, यह सत्य विशेष रूप से उसे, पता नहीं क्यों, और भी बड़े रूप में दिखाई दे रहा था।

यदि कोई और अवसर होता, तो ऐसा समूह, जिसमें उसका या उसकी स्त्री का कोई स्थान न हो, भगवत प्रसाद को बहुत बुरा लगता। पर आज उसे वह सब-कुछ देखने का अवकाश नही था। उसे तो केवल श्रीमती ही दिखाई दे रही थी। उसकी परवश आत्मा को यशोधरा की

स्थिति देखने की फुर्सत नहीं थी।

श्रीमती कभी-कभी इन दोनों के अस्तित्व को याद कर उन तक बात लाती; पर फिर उन्हें जैसे भूल गई हो, ऐसा लगता। भगवत प्रसाद स्वयं को भूल कर चुप हो रहता। यशोधरा ने बोलने की शक्ति गंवा दी थी। वह हास्य-विनोद की सरिता उससे दूर-ही दूर बह रही थी। और उन होशियार दिखाई देने वाले लोगों में वे दोनों सादे और मूर्ख-से लग रहे थे।

अन्त में वह दावत समाप्त हुई। यंत्र की भांति यशोधरा बाग में घूमती रही तथा खेल में भाग लिया। जाते-जाते उसने श्रीमती को दूर से ही नमस्कार किया। श्रीमती ने भगवत प्रसाद से दो बात हंस कर की। और उसकी पीठ फिरने पर श्रीमती बड़बड़ायी—"गंवार जैसी है, पर मिजाज कितना है!"

रास्ते में भगवत प्रसाद और यशोधरा, दोनों अपने-अपने विचारों में डूबे हुए थे। यशोधरा ने आज अपने सत्ताशाली पति को घबराते और अकुलाते हुए देखा। श्रीमती की उपस्थिति में वह भी घबरा गई थी, इसलिये भी वह चिढ़ उठी थी। उसे अपने ऊपर ही घृणा हुई, और उसे ऐसा भी लगा कि श्रीमती की महत्ता सकारण थी।

तब से उसके अन्तर में निराशा ने स्थान कर लिया। उसे ऐसा लगा कि जैसे उसके श्रीमती से अधिक सुन्दर होने के सपने टूट गये हों। इतने वर्षों की मेहनत के बाद भी आज श्रीमती के घर वह गौरवपूर्ण व्यवहार नहीं कर सकी। उसे श्रीमती को पराजित करना बिलकुल असम्भव लगने लगा।

श्रीमती के घर की आज की दावत से पति-पत्नी के बीच सौ कोस का अंतर आ गया था। यशोधरा ने घर पहुंचने तक बड़ी मुश्किल से अपने उमड़ते हुए आंसुओं को रोके रक्खा।...

उपर्युक्त घटना के बाद रविवार के दिन किसी बहाने से भगवत प्रसाद ने श्रीमती और उसके पति को अपने यहां चाय पर निमंत्रित किया। यशो-धरा ने इस अवसर को सुशोभित करने के लिये केवल चीनू, सुरेश और डोलर

तथा पांखड़ी-जैसे घर के आदमियों को ही निमंत्रित किया। उस दिन यशोधरा ने श्रीमती से पराजित न होने का दृढ़ निश्चय कर लिया था।

यशोधरा की तैयारी श्रीमती के घर की अपेक्षा बिलकुल ही भिन्न प्रकार की थी। उसकी पोशाक बाहर की होने पर भी घर की-सी ही लगे, इतनी सादी थी, और उसमें उसका लंबे कद का सुन्दर शरीर शोभायमान हो रहा था। श्रीमती से मिलते समय आज उसके व्यवहार मे न तो घबराहट थी, और न उत्साह। यदि उसमे कुछ था, तो केवल विवेक। गौरवपूर्ण अस्पर्श्यता से वह श्रीमती से मिली। इस गृह-भाव-भरे वातावरण में श्रीमती की तड़क-भड़क और चाल-ढाल बड़ी ही हल्की तथा अवसर के प्रतिकूल लग रही थी। विमला प्रसाद जैसे अपने से बड़ी ही नीची सोसाइटी में आ गया हो, इस प्रकार अपनी पत्नी के कारण गंभीर ही रहा।

श्रीमती अथवा यशोधरा, दोनो मे से कोई भी स्थान-भ्रष्ट होने पर शोभित होने वाली नही थी। श्रीमती के वातावरण में यशोधरा उद्धत, अनजान और प्राचीन युग की लगती थी; और यशोधरा के घेरे में आ कर, श्रीमती कृत्रिम, केवल अभिनय-मात्र करने वाली तथा निर्जीव-सी लगती थी। इन दोनो के बीच का यह भेद इतना स्पष्ट था कि दोनों को एक बार साथ देखने पर भी नहीं छिपता था। श्रीमती सत्ता चलाती थी। यशोधरा सत्ता फैलाती थी। दोनो के इतने भिन्न व्यक्तित्व थे कि दोनों के बीच दो मुर्गों की भांति टकराहट हुए बिना नहीं रह सकती थी।

और भगवत प्रसाद इन दोनो के बीच झूलता था। जहां पूजा मिलती थी वहां पूजा का पात्र वह नहीं था; और जहां सम्मान भी नही था, वहां वह स्वामित्व फैलाना चाहता था। इस प्रकार वह दोनों मे से एक भी सृष्टि का अधिकारी नहीं रहा था।

चाय पी गई, टेनिस खेला गया, संगीत हुआ। और जैसे बहुत आनन्द आया हो, इस प्रकार सब विदा हुए। श्रीमती ने उस दिन यशोधरा को बिलकुल कुचल डालने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

उसके बाद स्वयं पराजित हुए भगवत प्रसाद पर विजय प्राप्त करना कोई

कठिन काम नहीं था। कभी-कभी वह उसके साथ क्लब मे खेलती, या उसे अपने यहां चाय पर निमंत्रित करती। अब भगवत प्रसाद को यशोधरा को साथ ले जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी। वह पार्टियों में भी केवल श्रीमती को ही देखने जाता। यशोधरा अस्वस्थ होने का बहाना कर, अधिकतर घर पर ही रहती। यशोधरा झूठ मूठ ही अस्वस्थ होने का बहाना कर रही है, यह जानने पर भी भगवत प्रसाद उसे ठीक मानने लगता।

यशोधरा और भगवत प्रसाद के बीच का अंतर इस प्रकार बढ़ता ही गया। यशोधरा को कोई भी बात करते डर लगता। भगवत प्रसाद को लंबी बात करना अच्छा न लगता। दोनों के बीच थोड़े से प्रश्नोत्तर या सामान्य बातचीत को छोड़ कर, और कोई बातचीत न होती। भगवत प्रसाद यशोधरा के विकास की ओर जो गर्व से देखता था, अब वह बात भी जाती रही। उसे जीवन में यशोधरा की आवश्यकता थी या नहीं, यह विचार तक भी उसके मन मे कभी न आता।

पर श्रीमती को यशोधरा की अनुपस्थिति कुछ अच्छी नहीं लगी। भगवत प्रसाद की ओर उसका तिरस्कार बढ़ता जा रहा था। यशोधरा का गर्व केवल वही तोड़ सकती थी। श्रीमती में दो प्रकार का व्यक्तित्व था। उसका बाह्य व्यक्तित्व सब को आकर्षित करता था, और उसके व्यवहार को प्रतिभा के प्रकाश से चमका देता था। दूसरे प्रकार का व्यक्तित्व इस प्रकाश के बीच मे आने वाले की सावधानी से परीक्षा करता, तथा उसे नष्ट कर डालने का प्रयत्न करता। वह किसी भी व्यक्ति पर कृपा कर सकती थी, पर दया नहीं। आकाश मे जैसे एक ही सूर्य अपने प्रकाश से झलमलाता रहता है, उसी प्रकार यह भी अपने परिचितों तथा मित्रो के समूह में अकेली ही चमक सकती थी। उसके मार्ग मे आने वाले का विध्वंस हुए बिना न रहता।

यशोधरा यदि गाव की गंवारिन ही बनी रहती, या मंदिर में जाने वाली सेठानी हो जाती, तो वह उसकी ओर देखती भी नहीं। पर यशोधरा के विकास के कारण यदि भूल-चूक से कोई उसकी उससे तुलना कर देता, तो उसे असह्य

हो जाता। जैसे राख से ढका हुआ ज्वालामुखी फिर फूट पड़े, उसी प्रकार उसकी ईर्ष्याग्नि अकारण चिंगारियां बिखेरने लगी थी।

जब यशोधरा न होती, तो भगवत प्रसाद को आकर्षित करने में श्रीमती को बिलकुल ही मजा न आता। एक बार एक अंग्रेजी नाटक के प्रथम अंक के विश्राम में भगवत प्रसाद बाहर गया, और बाहर जाने पर श्रीमती को जैसे अकस्मात् देख लिया हो, इस प्रकार उससे मिलने गया।

"ओहो, तुम भी आये हो क्या!" बड़ी ही निर्दोषिता से श्रीमती ने कहा—"क्यों, तुम्हारी पत्नी साथ नही आईं क्या?" 'पत्नी' शब्द पर उसने विशेष जोर दिया।

भगवतप्रसाद ने गर्व से कहा—"आज-कल उसकी तबीयत ठीक नहीं।"

"अच्छा! मुझे पता नहीं था। बहुत खराब है क्या?" बिलकुल शांति से श्रीमती ने कहा।

"नही, नहीं। ऐसी बात नही।" भगवत प्रसाद ने जल्दी में कहा—"केवल कमजोरी ही है। और अब तो तबीयत पहले से बहुत ठीक है। आज मेरे साथ आने वाली थी, पर 'उतावली करना ठीक नही, यह समझ कर नहीं आई।"

"तब तो अब जल्दी ही अच्छी हो जायंगी। उनकी अनुपस्थिति सब जगह दिखाई देने लगती है।"—आधे गर्व और आधे मजाक में उसने कहा, और दूसरा कोई परिचित अपनी जगह बैठने जा रहा था, उसकी ओर हंस कर, गर्दन झुका ली। जब यशोधरा न होती, तो उसे भगवत प्रसाद से बहुत अधिक बात करने की आवश्यकता प्रतीत न होती।

पले हुए जानवर को जैसे कोई सेठानी मुक्त कर दे, इस प्रकार उसने भगवत प्रसाद को विदा दी। पर उसके परिणाम-स्वरूप दूसरे अवसर पर भगवत प्रसाद ने यशोधरा से एक पार्टी में चलने के लिए तैयार होने के लिये कहा।

"मेरी भाभी आज रात की ट्रेन से यहा आने वाली है," यशोधरा ने बहाना किया।

"वह गंवारिन! उसका यहां क्या काम है? नर्मदा का पानी भरते-भरते थक गई क्या?"—उसने कलेजे को चीर देने वाले व्यंगपूर्ण स्वर में कहा।

यशोधरा के मन पर गहरा आघात हुआ। "मुझसे मिलने आ रही है। बहुत वर्षों से मैंने उसे नहीं देखा। मेरे भाई की मृत्यु से उस पर असह्य आघात हुआ है, इसलिये मैंने उसे यहीं आ जाने के लिये पत्र लिख दिया था।"

"इस घर में मुझ से पूछे बिना कोई भी काम हो, यह मुझे पसन्द नहीं। इसलिये अब से किसीको भी बुलाने से पहले पूछ लिया करना।"—स्वस्थता के नीचे से क्रोध को झलकाते हुए, भगवत प्रसाद ने कहा।

यशोधरा को आज पहली बार अपनी अनाथावस्था का, तथा वह इस घर में कोई चीज नहीं, इस बात का भान हुआ। वह सन्न रह गई।

थोड़ी देर में भगवत प्रसाद ने स्वर नरम कर के कहा—"आयेगी, तो आये। घर बहुत बड़ा है। इसमें बुरा मानने की कोई बात नहीं। पर हर बार तू ऐसे बहाने निकाल लेती है, यह बहुत बुरा लगता है। मेरी इज्जत-आबरू का भी कुछ विचार है?" 'बहुत बुरा' केवल श्रीमती के आगे ही दिखाई देता था, और श्रीमती ही सब-कुछ थी।

यशोधरा ने मुंह से एक शब्द भी नहीं निकाला, और चलने को तैयार हो गई। घर पर भाभी यदि आये, तो उसको ठहराने का प्रबन्ध करती गई।

श्रीमती दरवाजे के आगे मोटर से उतर रही थी, कि ये दोनों जा पहुंचे। श्रीमती जरा रुकी। भगवत प्रसाद तथा विमला प्रसाद ने परस्पर अभिवादन किया। सब इतने साथ-साथ हो गये कि यशोधरा का श्रीमती से बात किये बिना छुटकारा ही नहीं था।

एक-दो शिष्टाचार की बातों के उपरान्त श्रीमती ने पूछा—"मैंने सुना था कि तुम बीमार थीं। अब कैसी हो?"

"विशेष कुछ नहीं था। अब ठीक हूं।"—यशोधरा ने संक्षेप में उत्तर दिया।

श्रीमती को उसकी अकड़ पर बड़ा क्रोध आया। श्रीमती उसके साथ बात कर रही थी, यह कोई यशोधरा के लिये कम सम्मान की बात नहीं थी; पर यह जिद्दी स्त्री अपने ऐसे व्यवहार से उसे उलटे और अधिक उकसा रही थी। विमला प्रसाद को भी ऐसा लगा कि जैसे उसकी पत्नी इन अभिमानी, हल्के लोगों से आवश्यकता से अधिक मिल रही हो। उसने अपनी पत्नी से इस विषय में बात करने का निश्चय किया। पल भर तक सब शान्त रहे।

भगवन प्रसाद ने कहा—"ये तो आज भी नहीं आ रही थीं। शुक्लतीर्थ से इनकी भाभी आने वाली हैं।"

"तुम शुक्लतीर्थ की हो? मुझे पता नहीं था!"—यशोधरा को चिढ़ाने के लिये, उसने व्यंग तथा तिरस्कार के भाव से कहा।

यशोधरा के मुंह पर खून उतर आया। चिढ़ में उसने अपूर्व साहस कर, बड़ी तीखी बात कही—"तुम नहीं जानती थी? मैं तो समझती थी, कि इन्होंने तुम से कह ही दिया होगा!"

ये शब्द मुंह से निकल तो गये, पर वह स्वयं अपने प्रदर्शित किये हुए साहस से काप उठी।

श्रीमती का मुंह क्रोध से लाल हो गया। उसके कोई उत्तर देने के पहले ही, विमला प्रसाद किसी बहुत बड़े आदमी को दिखा कर, उससे मिलने के बहाने, श्रीमती को वहां से ले गया।

भगवत प्रसाद ने एक अत्यन्त रोषपूर्ण दृष्टि यशोधरा पर डाली, पर किसी व्यक्ति-द्वारा बुला लिये जाने के कारण वह एक अक्षर भी नहीं बोल सका।

यशोधरा यह अवसर पा कर, किसी परिचित स्त्री से बातें करती-करती, वहां से खिसक गई। उसके जाते तुरन्त उस व्यक्ति ने आंखें मींच कर, भगवत प्रसाद की ओर देखा। "दोस्त, वह सुन्दरी कुछ पिघल गई-सी मालूम होती है!"

भगवत प्रसाद गुस्से से लाल-पीला हो गया। वह चाहे कैसा भी हो,

पर ऐसी भाषा सहन नहीं कर सकता था। आज की घटना से उसका सिर भी ज़रा फिर गया था। "फिर बोलने की हिम्मत की, तो सिर टूट जायगा।" और एक तीक्ष्ण दृष्टि से बोलने वाले की ओर देख कर, वहा से चला गया।

वह आदमी उसे पीछे से देखता रहा। 'ऐसा मिजाज़ दिखाता है कि जैसे कोई बड़ा भारी सत्ताधारी है! मै ही क्या, सारा शहर यही बात कहेगा!' और इसी से संबंधित बातें एक दूसरे आदमी से करने लगा।

उस दिन यशोधरा ने एक बार भी पीछे मुड़ कर, श्रीमती की ओर नहीं देखा। वह यथा-शक्ति लोगों में हिली-मिली; पर उसे प्रत्येक परिचित की आंखों में ऐसा दिख रहा था कि जैसे हर कोई उस पर तरस खा रहा हो। उसके अभिमानी स्वभाव को वह परिस्थिति असह्य लगने लगी, और अंत में वह एक दूर के कोने की बेंच पर जा बैठी।

उसे अपनी असहायता की तीव्र अनुभूति होने लगी। श्रीमती के प्रति उसकी ईर्ष्या उग्र रूप में उमड रही थी, पर उसे व्यक्त करने का साधन उसके पास कुछ न था। उसका कोई सगा नही था, मित्र नही था, पति उसका नहीं था, और अपने गंभीर स्वभाव के कारण, वह अपने आस-पास किसी को भी इकट्ठा नहीं कर सकी थी। केवल एक भाभी थी, पर उन दोनों के बीच भी वर्षों का अन्तर पड़ गया था। इतने वर्षों के बाद भी वह वैसी-की-वैसी ही बनी होगी, इसका भी क्या पता?

भाभी की याद आते ही, उसे घर याद आ गया, और उसे ऐसा लगा कि ट्रेन आ पहुची होगी। वह घर जाने के लिये उत्सुक हो गई। वर्षों पहले की भाभी उसे याद आई, और इस मक्कार दुनिया में जैसे वही एक उसकी हो, इस प्रकार वह उसकी सौम्य मूर्ति को देखने लगी। 'भाभी, तू वैसी-की-वैसी ही होगी न?' वह मन-ही-मन बड़बड़ाती और पति की खोज में उसने आंखें उठा कर, चारो ओर देखा। पर शुक्लतीर्थ छोड़ने के उपरान्त क्या वह स्वयं भी वैसी-की-वैसी ही है? यह प्रश्न उस समय उसे याद नहीं आया, या सूझा हो नहीं।

उसने भगवत प्रसाद को दृष्टि से खोज निकाला, और उसके पास गई। "घर चलोगे ? मेरी तबीयत आज ठीक नही।"—उसने जैसे-तैसे साहस बटोर कर कहा।

सब के बीच भगवत प्रसाद इनकार नही कर सका, पर उसका जी जरा कुढा। उसे श्रीमती को मनाने का अवसर नहीं मिला था, और ऐसा लगता था कि आज मिलेगा भी नहीं। उसने जाते-जाते एक दृष्टि श्रीमती पर डाली। श्रीमती की आखो मे अंकित तिरस्कार उसकी दृष्टि से छिपा नही।

भगवत प्रसाद को गाड़ी मे यशोधरा को अपनी स्थिति के प्रति सचेत करना ठीक लगा। उसे लगा कि यशोधरा की धृष्टता दिन-दिन बढ़ती जा रही थी। "वह गंवारिन घर आ पहुंची होगी ?" उसने बात आरम्भ की।

यशोधरा ने कुछ जवाब नहीं दिया।

"कब जाने वाली है ?" उसने फिर क्रूरता से पूछा।

यह बाण यशोधरा के कलेजे को बींध गया। वह स्वयं गृहिणी नही, बल्कि आश्रित थी, यह सत्य उसे आज और अधिक स्पष्ट दिखाई दिया। उसके एक भी आदमी के लिये उसके पति के घर मे स्थान नही था। पर अपनी इस भावना को व्यक्त करने के लिये उसके नम्र मन में न तो शब्द थे और न सामर्थ्य ही। उसने बड़ी मुश्किल से जवाब दिया—"मुझे पता नही।"

थोड़े से ही शब्दो में जैसे अपना लक्ष्य प्राप्त हो गया हो, भगवत-प्रसाद को ऐसा लगा। उसने वह बात वहीं छोड़ दी। यशोधरा की जीभ को अधिक स्वच्छन्दता देना उसे ठीक नहीं लगा। वह इस विचार में डूबा हुआ था कि अब श्रीमती को कैसे मनाये। रास्ते भर दोनो विचारों में इतने डूबे रहे कि घर कब आ गया, यह भी किसी को पता नहीं लगा।

गाड़ी का दरवाजा खुलते ही, भाभी से मिलने के लिये उत्सुक यशोधरा जल्दी-जल्दी उतर पड़ी। उसने अपने आतुर नेत्र ऊपर उठाये। चबूतरे

परो एक-दो मैली गठरियों के सहारे घूंघट में मुंह छिपाये, और काले कपड़े पहने हुए, एक स्त्री पड़ी हुई दिखाई दी। वह उसकी भाभी है, इतना सोचने से पहले ही, वह यशोधरा को देख कर खड़ी हो गई, और सामने आ कर, उसके सुन्दर वस्त्र तथा अलंकारों की परवाह किये बिना, उसके गले से लिपट गई। "यशोदा, तेरे भाई तो जाते रहे!" रुलाई-भरी आवाज में उसने कहा।

इस आकस्मिक परिस्थिति से यशोधरा का स्वास्थ्य जाता रहा। इस नाटक-जैसी घटना पर भगवत प्रसाद ने एक तिरस्कारपूर्ण दृष्टि डाली, और चुपचाप अन्दर चला गया। चबूतरे पर खड़ा हुआ दरबान और इधर-उधर खड़े नौकर-चाकर एक मैली-कुचैली स्त्री को अपनी बहूजी के गले लग कर बातचीत करते देख कर, सन्न रह गये। यशोधरा की समझ में नहीं आया कि क्या कहे। पति तथा नौकरों के आगे उत्पन्न हुई इस कुढंगी स्थिति से वह अकुला कर, शरमा गई। उसका उत्साह एक दम जाता रहा, और उसके व्यवहार में शीतलता आ गई। सूरज का भावावेश शान्त हुआ। थोड़ी देर में उसने बड़ी मुश्किल से कहा—"भाभी, दीवानखाने में चलो। वहां शान्ति से बातें करेंगे।"

सूरज अपनी बिलकुल चीथड़े-जैसी दिखाई देने वाली दो पोटलियां संभालने लगी। एक-एक हाथ में उसने एक-एक को उठा लिया। "रहने दो, भाभी। नौकर अन्दर ले जायगा।"—यशोधरा ने सकुचाते हुए कहा।

"नहीं बहिन, कहीं कुछ निकल गया तो," पोटली में बंधे हुए पंद्रह-बीस रुपयों की चिंता करते हुए, सूरज ने कहा।

यशोधरा अधिक कुछ न कह कर, आगे चली गई। सूरज उसके पीछे पीछे चल दी।

भाभी के आगे हृदय खाली कर के शान्त होने की यशोधरा की सारी हौंस जाती रही। उसने अपने घर में फैला हुआ व्यंग और तिरस्कार का वातावरण कुछ अंशों में देखा, और बाकी की कल्पना कर ली। बहुत समय से सुकुमार बनी हुई उसकी दृष्टि को उसकी भाभी का शरीर

और, कपड़े गंदे लगे बिना नहीं रहे। उसकी सारी वृत्तियां मर-सी गईं। दुःख की तीव्र अनुभूति तथा संकोच ही उसके अंतर में शेष रह गये।

दीवानखाने में जा कर, वह कोच पर बैठ गई, और भाभी को पास की कुरसी पर बैठने के लिये कहा। "भाभी, शान्ति से बैठ कर बात कर।"

सूरज पोटलियां कोच के पास जमीन पर रख कर, उसके आगे ही बैठ गई। इन दस वर्षों में उसके मुख और शरीर पर बुढ़ापे की छाया पड़ने लगी थी। उसके मुख पर झुर्रियां पड़ रही थीं। मुड़ाये हुए सिर की थोड़ी-थोड़ी उभरी हुई श्वेत लकीरें माथे के आगे से जरा ऊपर को उठे हुए पल्ले के भीतर से दिखाई दे रही थीं। केवल उसकी आंखों का सौम्य तेज ज्यों-का-त्यों था।

वह यशोधरा का रूप और शृङ्गार देख कर, बड़ी खुश हुई। उसने उसके मुह की ओर बार-बार स्थिर दृष्टि से देखा, और घड़ी भर के लिये अपने दुःख की बात भी भूल गई। "यशोदा, तेरा मुख देख कर मेरा जी ठंडा हो गया! भगवान तेरा रूप और सौभाग्य अखंड रक्खे! तू हमारे घर लक्ष्मी ही पैदा हुई थी।" फिर थोड़ी देर चुप रह कर, जैसे कुछ याद आ गया हो, इस प्रकार उसने बात आगे चलाई—"एक दिन तो, तुझे याद होगा, एक अच्छी ओढ़नी के भी लाले थे। जब वह नई ओढ़नी तूने पहनने के लिये निकाली थी, तो तेरे भाई कितना लड़े थे। अब वे लड़ने वाले भी नहीं रहे। आज वे होते तो तुझे देख कर कितने सुखी होते!" यह कहते-कहते उसकी आंखें सजल हो गईं।

बचपन का छाया-चित्र आंखों के सामने आते ही, थोड़ी देर के लिये यशोधरा सब-कुछ भूल गई। उसकी आंखों में आंसू आ गये। सूरज ने उसे देखा, और फिर उसके गले से लिपट पड़ी। वर्षों की स्थिति का अंतर भुलाकर, दोनों दुखी स्त्रियों के आंसू एक-दूसरे में मिल गये। जीवन और अंतर के समस्त कलुष को धो डालने वाली शक्ति इन आंसुओं में थी।

इस समाधि से शकु की आवाज ने दोनों को जगा दिया। "बहू जी, सेठ कह गये हैं कि खाने के लिए उनकी बाट मत देखना," गंभीर आखों में

उभरी हुई मनोरजन के भाव को ढांकने का प्रयत्न करते हुए, वह बोली।

उसे देख कर, फिर यशोधरा वस्तुस्थित की ओर से सचेत हो गई। "भाभी, तू हाथ-मुंह धो कर कपड़े बदल डाल। फिर भोजन कर लेना। मुझे तो आज खाना नही है।"

"मेरा तो आज उपवास है। और कपड़े तो मैंने नाव में ही बदल लिये थे," सूरज ने कहा।

"तब तू जरा आराम कर ले। सुबह को फिर बातें करेंगे।"

"बहिन, मुझे तो जरा भी थकान नहीं है। तुझे देखकर मेरी सारी थकान उतर गई। मुझे कोई जल्दी नहीं।" बहुत वर्षों बाद मिली हुई यशोदा को छोड़ने को सूरज का जी बिलकुल नहीं कर रहा था।

"नहीं-नहीं, भाभी। मुझे अभी कपड़े बदलने हैं। तू जा! हम सुबह बातें करेंगे। शकु, ऊपर पिछले हिस्से में जिधर खिड़की पड़ती है न, उस कमरे में इन्हें ले जा।"

सूरज हाथ में पोटलियां लेकर खड़ी हो गई। शकु ने उन्हें लेने के लिए हाथ नहीं फैलाया। और कहीं जैसा चबूतरे पर हुआ था, वैसा ही 'फार्स' फिर न हो जाय, इस डर से यशोधरा ने कुछ भी नहीं कहा। जब दोनों वहा से चली गई, तो यशोधरा ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ी, और कोच पर पड़ गई। बहुत समय से बंधा हुआ संयम का बांध टूट गया, और अश्रु-धारा उसके कपोलों पर बह-बह कर तकियों को भिगोने लगी। इतने बड़े संसार मे अपनी असहाय और एकाकी अवस्था देखकर वह कांप उठी। भाभी से आश्वासन पाने की एक बची हुई आशा भी अब टूट गई थी। बहुत देर बाद जब उसका अस्वस्थ मस्तिष्क थक गया, तो वह वहीं पड़े-पड़े सो गई।

बाल-रवि के मृदु-स्पर्श से यशोधरा सहसा जाग पड़ी। रात भर उसे स्वप्न दिखते रहे थे। श्रीमती ने रात भर उसे विचित्र-विचित्र रूप धारण करके डराया। उसका पति दूर खड़ा अट्टहास कर रहा था। जैसे कुछ समझ न आ रहा हो, इस

प्रकार इधर-से-उधर भयभीत दृष्टिसे सूरज देख रही थी। और वह यह सब देख कर केवल रो रही थी। स्वप्नों में आये हुए आंसुओं से तकिया भीग गया था।

भगवत प्रसाद के सामने जब वह चाय पीने बैठी, तो उसका चित्त भी ठिकाने नहीं था। रात मे क्लब, सिनेमा और अंत मे एक नाटक के अंतिम अंक में टक्करें मार कर वह बड़ी रात गये घर आया था। उसने यशोधरा को ड्राइंग-रूम में पड़े हुए देखा था, पर उसे उठाने की भी परवाह नही की थी। चाय पीते समय एक अक्षर भी दोनों एक-दूसरे से नहीं बोले। भगवत प्रसाद अपना प्याला यशोधरा से पहले ही समाप्त करके, वहां से उठ गया। यशोधरा चाय अधूरी छोड़ कर, सूरज के पास गई।

उसने सूरज के लिये उसके कमरे में ही चाय भिजवा दी थी। पति के सामने उसे बुलाने की अथवा अपनी दोनो की दशा का भाभी को साक्षी बनाने का न तो उसमे साहस ही था, और न इच्छा ही थी। वह जब सूरज के पास पहुँची, तो वह शकु के साथ गप्पे लड़ा रही थी। चाय का प्याला उसके सामने ही रक्खा था। शकु खड़ी-खड़ी कमर पर हाथ रक्खे, जैसे बातों में रस भी ले रही हो, और सूरज को बना भी रही हो, इस प्रकार सब बातें सुन रही थी। यशोधरा को यह अच्छा नहीं लगा। शकु भी उसे देख कर सहम गई, और वहां से चल दी।

"भाभी, चाय पी ली ?" उसने सूरजके पास जा कर, बैठते हुए कहा।

"हां, यशोदा बहिन।" सूरज ने कापती हुई जीभ से 'यशोधरा' शब्द उच्चारण करने का प्रयत्न किया, और खड़ी हो गई। यह शब्द शकु की शिक्षा का परिणाम था। उसकी बहू जी कितनी बड़ी सेठानी हैं, तथा उसके साथ कैसे बोलना-चालना चाहिये, उसने इस बात के पाठ कल रात से ही पढ़ने आरम्भ कर दिये थे। बंबई के शिष्टाचार से अनभिज्ञ सूरज को ये सब बातें ठीक लगीं, और अपनी मूर्खता का अधिक प्रदर्शन न हो, इसलिये वह शकु से पूछ कर, यथाशक्ति सूचनायें प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगी। अनभिज्ञ यशोधरा इन नवीन प्रयोगों का कुढंगापन देख कर, जरा चिढ़ी।

उसने खड़ी होती हुई सूरज का हाथ पकड़ कर, खड़े होने से रोक दिया। "बैठी रह, भाभी !"

धीरे-धीरे वह भाभी पर चढ़े हुए नये आवरण को भेदने का प्रयत्न करने लगी। बारी-बारी से वह शुक्लतीर्थ की सारी बातें पूछने लगी। "भाई की पाठशाला को अब कौन चलाता है ?" उसने बातों में रस लाने के लिये पूछा।

"जंबूसर से कोई नये महताजी आये हैं। बेचारे बहुत अच्छे आदमी हैं। कभी-कभी आ कर मेरी खबर पूछ जाते हैं। पर भाई-जैसी उनकी धाक तो है नहीं।" सूरज के पति-भक्त हृदय को रामलाल की सर्वोपरिता याद आ गई। बातो के रस में डूबते-डूबते तो 'तुम' ' तू ' भी हो गया। "यशोदा, तुझे अंबो बुआ बहुत याद कर रही थी।"

"अभी अंबा बुआ जीती हैं ?" यशोधरा ने बड़ी उत्सुकता के साथ कहा—"मैं उन्हें कितना परेशान करती थी। उनकी पानों वाली डिबिया के पान बिखेर देती थी। वे मुझे मारने दौड़ती थी, और तब मैं भाग जाती थी। अब तो बहुत बूढ़ी हो गई होंगी ?"

यशोधरा पुरानी बाते याद करने लगी और उसके चित्र देखती हुई, थोड़ी देर के लिये अपनी वर्तमान स्थिति भूल गई। शकु कोने में खड़ी हुई तमाशा देख रही थी। उसे वहां से हटाने के उद्देश्य से, उसने उसकी ओर मुड़ कर कहा—"शकु, यह चाय का प्याला ले जा।"

शकु के आने से पहले ही, सूरज ने जल्दी-जल्दी चाय का प्याला उठा कर, नीचे पड़ी हुई चाय की बूंदों को हाथ से पोंछ डाला।

यशोधरा की भौंहे सिकुड़ गईं। "शकु, भाभी के हाथ धुला !"

"नहीं, नहीं यशोधरा बहिन। मैं धोये लेती हू। शकु बाई, यह प्याली ले जाओ।"

"भाभी, तुझे यशोदा कहना चाहिये। यशोधरा बहिन कहने वाले यहां बहुत हैं।" उसने अपने संकोच को छिपा कर, हंसने का अभिनय करते हुए कहा—"शकु, जो कहा-वह सुना नहीं ? खड़ी-खड़ी देख क्या रही है ?"

शकु के अंगों में एक दम बिजली दौड़ गई। सूरज के हाथ से प्याला लेकर, सेठानी जी की भाभी के विषय में रसीली बात करने के लिये, वह नौकरों के बीच रसोई में जा बैठी।

सूरज यशोधरा का रोब देखकर घबरा-सी गई।

"भाभी, वह लक्ष्मी काकी और वे शंकर काका जीवित हैं क्या?" यशोधरा ने बात की टूटी हुई कड़ी फिर जोड़ने का प्रयत्न किया।

सूरज ने उत्तर में हां करने के लिये गर्दन हिला दी। उसके मन में खड़े हुए सम्मान के भूत ने उसके स्वाभाविक व्यवहार को भी विकृत कर दिया।

यशोधरा खिन्न हृदय लिये, उसमें हुए परिवर्तन को देखती रही। यदि उसका पति यह सब देखेगा, तो उसके प्रति उसका तिरस्कार प्रकट होगा, इसकी भी उसने कल्पना कर ली। पर सूरज को सुधारने का प्रयत्न करना भी निरर्थक था, यह भी वह देख रही थी। अंत मे वह उठ खड़ी हुई।

"भाभी, तू नहा-धो कर निबट ले। मैं फिर आऊंगी।"—कह कर वह चली गई।

आकुल यशोधरा अपने कमरे में एक खिड़की के पास जा कर, नीचे की ओर देखने लगी। बहुत देर तक तो उसकी समस्त वृत्तिया आकुलता के भार के नीचे दबी रही, और एक घोर एकाकीपन की तीव्र अनुभूति ही उसके चित्त को विकल करती रही। और इस आकुलता के भीतर से ही जैसे उनका जन्म हुआ हो, इस प्रकार अश्रु-बिन्दु उसके कपोलों पर बह निकले। पर धीरे-धीरे सूर्य के प्रकाश में इंद्रधनुष-से बिखरते हुए फौव्वारे तथा दूर तक फैले हुए बाग को देख कर, उसके तप्त मस्तिष्क को जरा शान्ति मिली। वह जीवन मे कभी-कभी ही उठने वाले गंभीर विचारों मे डूब गई।

जो कभी भी नही आये थे, ऐसे-ऐसे विचार दुःख के प्रत्याघात की उस अवस्था में उसके मन में आये। वह वास्तव में दुखी थी, या यह सारा दुःख उसी के मन का खड़ा किया हुआ था? उसका पति उसके साथ बहुत स्वच्छन्दता का बर्ताव नहीं करता था, उसकी आवश्यकताओं के प्रति उसने कभी लापरवाही भी नही दिखाई थी। क्या पता, कि श्रीमती

से मिलने के अवसर वह जान-बूझ कर निकालता था ? समाज में घूमते-फिरते हुए उससे मिलना पड़े, तो उसमें भगवत प्रसाद का क्या दोष ? मान लिया कि श्रीमती से कभी वह प्रेम करता था, पर इस कारण जब कभी भी वह उससे मिले, तो उसे दोष निकालने की दृष्टि से क्यों देखा जाय ? दोष उसके अपने ही मन का था, कि ऐसे-ऐसे मन के भूत खड़े कर रही थी। श्रीमती चाहे जितनी खराब क्यों न हो, और अभिमानी भी क्यों न हो, उससे उसका क्या बनता-बिगड़ता है ? वह तो सदा से ऐसी ही थी। सारी दुनिया कहीं किसी के इच्छानुसार चल सकती है ?

भाभी का भी कुछ दोष नहीं था। वह वैसी-की-वैसी ही स्नेहशील थी। यशोधरा पर जब उसका प्यार उमड़ता था, तो वह पहले की तरह ही गद्‌गद् हो जाती थी। ऐसे कृत्रिम वातावरण मे यदि उसमें भी कृत्रिमता आ जाय, तो इसमे उसका कुछ दोष नहीं।

इस प्रकार के विचारों के परिणाम-स्वरूप उसने अपने को ही सुधारने का, भगवत प्रसाद के साथ जैसे कुछ न हुआ हो, इस प्रकार का व्यवहार करने का, और सूरज को बदली हुई यशोदा की झाकी न मिले, इस प्रकार व्यवहार करने का निश्चय, धार्मिक-सा निश्चय, कर लिया।

उसने सदैव की-सी प्रफुल्लता से वह सारा दिन बिता दिया। भगवत प्रसाद की अकड़ से अथवा सूरज के अस्वाभाविक व्यवहार से वह बिलकुल नहीं चिढ़ी। शान्ति से उसने भगवत प्रसाद के साथ पहले की तरह बर्ताव किया। पर यह प्रयत्न एकांगी था। भगवत प्रसाद न तो उससे प्रसन्न ही हुआ, और न अप्रसन्न ही। सूरज को अपनी यशोदा परम-सुखी लगी, और उसे देख कर उसकी बूढ़ी आत्मा ने अनेक मूक आशीर्वाद उन वर-वधू पर बरसाये।

उस दिन की चिनचिनाहट श्रीमती के अंतर में बहुत दिनों तक रही। यशोधरा के शब्दों की अपेक्षा उनकी व्यंजना से तथा विमला प्रसाद के सामने हुए अपने काल्पनिक अपमान से वह जली जा रही थी। उसके मन

में उस चार अंगुल की लड़की के प्रति अत्यधिक द्वेष उमड़ रहा था। उसके कारण ही विमला प्रसाद ने उसकी दुर्बलता को देखा था।

विमला प्रसाद सादा आदमी था, पर खूब धनिक होने के कारण, धन का स्वाभाविक गर्व उसे अवश्य था। श्रीमती किसी भी प्रकार के आदमियो में बैठे, उसे यह बिलकुल पसन्द नहीं था। सौभाग्य से वह भगवत प्रसाद तथा श्रीमती की पिछली कहानी नही जानता था। पर उस दिन की घटना के बाद से उसने ऐसे व्यक्तियों से मिलने के विषय में अस्वीकृति ही प्रकट की थी। साधारणतया इससे अधिक लंबा तथा विवादास्पद विवेचन करने की प्रथा इस प्रकार के धनिकों में नहीं थी।

जीवन में पहली बार पराजय स्वीकार कर के, श्रीमती का अंतर अत्यन्त उद्वेलित हो उठा था। उसे पहले कभी किसी के साथ स्पर्धा में नहीं उतरना पड़ा था, और उतरना पड़ा, तो उपेक्षित भगवत प्रसाद के द्वारा। यह बात उसे बुरी तरह खल रही थी। उसे ऐसा लग रहा था कि यदि एक बार भी वह यशोधरा की बात का कठोर उत्तर दे सके, तो उसकी आकुलता शान्त हो जाय।

श्रीमती का अपने इस खेल में रस समाप्त हो गया; फिर भी वह तभी इस खेल को छोड़ने के लिये तैयार थी, जब यशोधरा रोती-रोती उसके चरणों पर आ गिरे। उसको भगवत प्रसाद के प्रति भी अरुचि दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही थी। इस द्वेष की आंधी में पता नहीं उसकी मानवता कहा छिप गई।

यह विचार उसके मस्तिष्क में प्रति दिन चक्कर काटता रहा, और कांटे की तरह उसका शल्य दिन-प्रति-दिन गहरा ही उतरता गया। भगवत-प्रसाद का उसके पीछे किस प्रकार पागलपन बढ़ता जा रहा था, यह भी वह जानती थी। किसी तरह भी इस बात का लाभ उठा कर, उसने एक अंतिम कठोर प्रहार करने का निश्चय कर लिया। पर यह प्रकट किस प्रकार किया जाय, यह उसे बिलकुल नहीं सूझ रहा था।

अंत में यह विचार उसके मस्तिष्क में आया कि वह अंतिम बार दोनों

को अपने घर निमंत्रित कर कुछ ऐसा कह दे, जो उन्हे जन्म भर याद रहे, और इतने लोगो के सामने कह दे कि उनके उस फजीते की बात चारो ओर फैले बिना न रहे।

श्रीमती जो भी निश्चय एक बार कर लेती थी, उसे पूरा किये बिना न रहती थी। उसकी योजना निष्फल न चली जाय, इसलिये वह दिखाने के लिये दिन-दिन पिघलती जा रही थी। उसने एक-दो अवसरो पर भगवत प्रसाद की नयन-पूजा भी स्वीकार कर ली। उसे विश्वास था कि भगवत प्रसाद मे उसका निमंत्रण अस्वीकृत कर देने की शक्ति न थी।...

भगवत प्रसाद मूर्ख नही था, और मानवता भी उसमे थी; पर मोहान्धता ने उसकी मानवता और बुद्धि दोनो को ही ढक लिया था।

उसमे विद्या थी, ज्ञान था, और सब बातों मे सार-असार का विचार करने की शक्ति थी। केवल कुछ वर्षों से, जब से श्रीमती-रूपी रोग ने उसके अतर मे घर कर लिया था, उसकी समस्त शक्तिया कुण्ठित-सी हो गई थीं। रात-दिन उसे श्रीमती के सिवाय और कुछ नहीं सूझता था।

श्रीमती जो इतने निकट आ कर यशोधरा की भूल से फिर दूर चली गई थी, इससे उसकी मनोवेदना और भी बढ़ गई थी। वह विमला प्रसाद के अभिमानी स्वभाव को जानता था। उसके व्यवहार मे एकदम आई हुई अस्पर्श्यता से वह अनभिज्ञ न था। इस अस्पर्श्यता के दुर्गम कोट को भेदे बिना श्रीमती के पास पहुंचना असंभव था।

उसे सब से अधिक क्रोध यशोधरा पर आया। यह कितना अकारण था, यह वह समझता था, फिर भी इससे उसकी अंतर्ज्वाला नहीं बुझती थी। उसने यशोधरा मे भावनाये अनुभव करने की शक्ति की कल्पना ही नहीं की थी; बस उसकी स्वाभाविक वृत्तिया संतुष्ट हो जाय, इसी मे वह उसके प्रति अपने कर्तव्य की पूर्ति मान लेता था। उसे ऐसा लगता था कि जैसे उसका जीवन एक महाभावना को समर्पित हो गया हो। उसे अन्य छोटी-छोटी बातों का विचार करने का समय ही कहा मिला था?

पहले की निराशा की अपेक्षा उसे इस समय की निराशा अधिक कठोर

लगी। पहले की निराशा में कभी भी आशा के रंगीन प्रकाश की छाया नहीं पड़ी थी; इसलिये वह तो रंगहीन अंधकार-ही-अंधकार था। इस बार श्रीमती की स्मित-किरणों ने पहले उष्मा अर्पित कर दी थी, और फिर निराशा आ जाने के कारण उसके अंगों में हिम-सदृश शीत का संचार हो गया था। उसके मुग्ध मस्तिष्क को यह विश्वास हो गया था कि श्रीमती उसकी ओर कुछ अधिक ध्यान देने लगी थी। उस-जैसी स्त्री अकारण ही ऐसा क्यों करने लगी? बैरोनेट की अपेक्षा भगवत प्रसाद के सच्चे हृदय की तथा वर्षों की कसौटी पर खरी उतरी हुई भक्ति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई होगी। वह यह भी देखता था कि दूर-दूर से वह उसकी पूजा भी स्वीकार कर लेती थी। यदि इस समाज के बंधन न होते, तो उसने कभी इन समस्त अंतरों को भेद डाला होता। यह सब सोचते-सोचते भगवत प्रसाद की नींद और भूख उड़ गई। उसकी विचार करने की शक्ति कुण्ठित हो गई। रात-दिन सुलगती हुई ज्वाला उसके अंतर को जलाने लगी।

एक दिन उसने सुना कि श्रीमती एक बड़ी पार्टी देने की तैयारी कर रही है। सारा नगर उसके सौंदर्य को देखेगा, और उसके मधुर आतिथ्य का आस्वादन करेगा, और वह अभागा टापता रह जायेगा। इस विचार ने उसके हृदय को विदीर्ण कर डाला। उसका यशोधरा पर ठंडा पड़ा हुआ क्रोध घड़ी भर के लिये फिर भड़क उठा। पर दूसरे ही दिन उसे एक चिट्ठी मिली। उस पर श्रीमती के सुन्दर हस्ताक्षर थे।

"भाई भगवत प्रसाद,

इस महीने की १५ तारीख को मेरे यहां पार्टी है। उसमें आप अपनी पत्नी-सहित आने की कृपा कीजिये।

भवदीया
श्रीमती"

एक पल के लिये भगवत प्रसाद चकित रह गया। उसने उस पत्र को बार-बार जैसे विश्वास न हो रहा हो, इस प्रकार पढ़ा। साथ में शिष्टाचार के अनुसार निमंत्रण का छपा हुआ कार्ड नहीं था, इस पर उसे कुछ आश्चर्य

हुआ। पर उसने सोचा कि लापरवाही के कारण अथवा निमंत्रण देने की आतुरता मे श्रीमती कार्ड रखना भूल गई होगी।

वह जाय या न जाय, इस विषय मे उसके मस्तिष्क मे वाद-विवाद होने लगा। पर अन्त मे उसके अन्तर ने उसके विवेक पर विजय प्राप्त कर उससे जाने की स्वीकृति करा ली।

यशोधरा को साथ ले जाय या न ले जाय, इस विषय में वह कुछ भी निश्चय नहीं कर पाया था। पर इस समय तुरन्त उससे कुछ कहने की आवश्यकता उसे प्रतीत नहीं हुई। आनन्दमग्न हृदय से वह अपने कार्यों मे व्यस्त हो गया।...

सूरज इस महल मे रह कर हैरान हो गई थी। वहा के आदमी, रीति-रिवाज और बोल-चाल, सभी भिन्न। उसकी यशोदा भी, जिसे ग्यारह वर्ष पहले उसने विदा किया था, वह यशोदा नहीं रह गई थी। उसका स्वभाव प्रत्येक बात मे सावधानी बरतने का था, पर उससे भूल हो ही जाती थी। उसका इस घर मे आना यशोदा के सिवाय किसी को अच्छा नहीं लगा। उसे किसी प्रकार कुछ बुरा न लगे, यशोधरा इसका यथा-शक्ति प्रयत्न करती थी। एक-दो बार उसने सूरज को बाहर ले जाने का आग्रह भी किया था, पर शोक मे होने के कारण, वह राजी नहीं हुई। यशोदा को एक बार देख कर अपनी आंखे शीतल करने की उसकी इच्छा पूरी हो गई थी। अब उसे फिर रेवा का किनारा और अपना घर याद आने लगा।

उसे केवल एक ही बात का असंतोष था। उसे लग रहा था कि यशोदा पूर्णतया सुखी दिखाई नहीं देती थी। ऊपर से देखने मे यशोदा को सब प्रकार का सुख था। वह एक बड़े महल मे रहती थी; उसकी आज्ञाओ का पालन करने के लिये नौकरो की एक पूरी फौज थी; उसके घूमने-फिरने के लिये ढेरो सवारियां थी, वस्त्रो और अलंकारों से उसकी आलमारियां खचाखच भरी हुई थीं। यशोदा का यह ठाट-बाट देख कर, सूरज की आत्मा प्रसन्न होती। भगवत प्रसाद की ऊपरी अकड़ उसे मिजाज-दारी के अतिरिक्त और कुछ नहीं लगती थी। पुरुष स्त्रियों पर हुक्म चलाये,

इसमे उसकी समझ में कुछ अस्वाभाविक नही था। पर उसकी समझ मे नहीं आता था कि यशोदा इस प्रकार खिन्न क्यों दिखाई देती थी। यशोधरा ने आज तक एक भी शब्द अपने दुखी होने के सम्बन्ध मे मुह से नही निकाला था, बल्कि सदैव यह दिखाने का प्रयत्न करती थी कि वह बहुत सुखी है। इसलिये सूरज को अपने मन की शंका अकारण ही जबान पर लाना ठीक नही लगा। वह जब बबई आई थी, तो कुछ दिनों के लिये यशोधरा को साथ ले जाने का उसका विचार था; पर यशोधरा के आस-पास का वातावरण और उसके परिवर्तित जीवन को देख कर उसे इस विषय मे बात चलाना भी अच्छा नही लगा। पाच-सात दिन मे ही इस घर मे अनुभव की हुई परवशता से वह ऊब गई।

उसने एक दिन यशोधरा से कहा—"जसु, अब मुझे जाने दे। मैं यहां काफी दिन रह चुकी।" कभी-कभी उसके मुह से 'जसु' निकल जाता था। 'यशोधरा बहिन' विशेष रूप से याद रखने पर भी कभी-कभी वह भूल जाती थी।

यशोधरा हसी। "अभी ही ऊब गई ? इतने वर्षों मे मिलने आई, तो थोड़े दिन तो और रहती।"

"ना बहिन ! मुझ गाव की स्त्री को यहा अच्छा नहीं लग सकता। मुझे तो रेवा जी का किनारा और महादेव जी का मंदिर चाहिये।" झुर्रियां पड़े हुए हाथ से उसने जरा सुघनी सूघी।

"अच्छा, चली जाना। पर अभी दो दिन और रुक जा। मुझे सब के लिये थोड़ा-बहुत भेजना है।"

भाभी की बात में निहित सत्य यशोधरा ने देखा। अंतिम दस दिनों मे उसका जीवन बड़ी तेजी से बदलता जा रहा था। श्रीमती के पीछे पागल हो कर भगवत प्रसाद बहुधा भटकता रहता। यशोधरा की मनोव्यथा की भी कोई सीमा नहीं थी। उसने शुभ निश्चय कर लिये थे, पर उन्हे कार्य-रूप मे परिणत करने में वह हिम्मत हार जाती थी। सूरज के सामने वह बिलकुल स्वस्थ रहती थी पर इन परिस्थितियो में यदि वह वहां कुछ दिन और रही,

तो यह परिवर्तन भी उसकी दृष्टि में आये बिना न रहेगा। यदि यही विश्वास ले कर लौटे कि यशोदा बहुत सुखी है, तो उसके एकाकी जीवन में इसी से थोड़ी-बहुत शान्ति मिलती रहेगी।

यशोधरा बचपन के परिचितों को याद कर के, सब के लिये चीजें इकट्ठी करने लगी। अंबा बुआ के लिये साड़ी और कमला काकी के लिये आसनी; दया काका के लिये गौमुखी और प्राण मामा के लिये पीताम्बर, और अपनी सहेलियों के लिये इसी प्रकार की विभिन्न वस्तुये उसने इकट्ठी कीं। उनके बच्चों के नाम सूरज से पूछ पूछ कर उनके लिये थोड़े-से सुन्दर खिलौने भी खरीदे। सूरज इन सब वस्तुओं को आश्चर्य और प्रशंसा की दृष्टि से देखती, और यशोधरा की उदारता तथा स्नेहशीलता देख कर, उसका मन आनन्द-विभोर हो जाता। यशोधरा के कमरे में संदूक भर जाने लायक सामान इकट्ठा हो गया।

यशोधरा अकेले बैठ कर इन सब वस्तुओं को अपने हाथों से संभाल कर रखने लगी। बहुत दिनों से विस्मृत सब सपने एकाएक उसके अंतर में फिर ताजे हो गये। प्रत्येक का नाम याद करके, उसकी चीज रखते हुए, उसका सारा बचपन उसके सामने आ खड़ा हुआ। साथ खेली हुई सहेलियां तथा रेवा जी का विशाल तट-प्रदेश उसे याद आया। भाई की पाठशाला, छोटा-सा बाजार और जहां बड़ी हुई थी, वह घर उसे याद आया। चबूतरे पर दरवाजे के आगे की आधी जाली के आगे खड़ी हो कर वह बहुधा अपने भाई की प्रतीक्षा किया करती थी। वहां खड़ी-खड़ी आती-जाती गांव की स्त्रियों तथा सहेलियों से एक-दो बातें कर लेती। सब उससे बात करने के लिये बड़े प्रेम से खड़ी हो जातीं। अंबा बुआ और कमला काकी के घर जा कर, जब वह काम में उनका हाथ बंटाती, तो बड़े-बूढ़ों की पुरानी बातें सुनने में उसे खूब मजा आता, और पूछ-पूछ कर उनके पास से सब पुरानी बातें निकलवा लेती। वह उन्हें कभी-कभी परेशान भी करती थी, पर जब वापस लौटती, तो मुट्ठी भर चने, धान की खील या दूसरी कुछ खाने की चीज से उसकी ओढ़नी का पल्ला भर जाता, और रास्ते में खाते-खाते चलने में बड़ा मजा आता।

ऐसे-ऐसे कितने ही चित्र उसकी आंखों के आगे तैरने लगे। बीजू काका जब भी उसे देखते, तो सिर में टीप मारे बिना और 'जसोदा कुंवर' के मटकने की नकल उतारे बिना न रहते। रेवा जी में कूद कर तैरने में वह हमेशा सब से आगे रहती। नदी की रेत में कूदने-फिरने में तथा सहेलियों के साथ अचका-मचका खेलने में उसे कितनी देर हो जाती, इसका उसे तब पता लगता, जब सूरज उसे बुलाने आती। कितने सुख के थे वे दिन! उन दिनों उस पर कृत्रिमता अथवा बड़प्पन की परछाई नहीं पड़ी थी। वह तो उन दिनों केवल रेवा मां की और गाव की लाड़ली बेटी यशोदा थी। नवरात्रि में, अथवा दूसरे पर्वों पर सब उसकी सरदारी के नीचे रहने में आनन्द का अनुभव करते। शुक्लतीर्थ छोड़ने के उपरान्त कभी ही किसी ने उसके प्रति ऐसी श्रद्धा नहीं दिखाई थी!

इन सब बातों पर दस वर्ष का पर्दा पड़ गया था। यह याद आते ही, उसने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा। रेवा जी की रेती में एक झीना-सा पर्त पड़ गया होगा। उसकी सहेलिया बड़ी हो कर, चतुर गृहिणियां बन कर घूमती होंगी, और दो-चार बच्चों की मां हो कर, सारा बचपन भूल गई होगी। उसके यदि अपने बच्चे भी होते, तो जीवन कुछ और ही प्रकार का होता। उसे आज पहली बार याद आया कि उसके अपने बच्चे नहीं थे। यदि होते, तो...उसने फिर एक गम्भीर निःश्वास छोड़ा। उसकी आंखों से दो अश्रु-बिन्दु ढुलक कर गोद में गिर पड़े।

ये सब बातें याद करने में चीजें तो यथा-स्थान रक्खी गईं, पर अन्तर-चक्षुओं के सामने उभरते हुए दूसरे चित्रों के देखने के आनन्द में वह उन खुली पेटियों पर ही अपनी शून्य दृष्टि गड़ाये बैठी रह गई! उसे अपने अतीत की घटनाओं को ताजा करने में एक प्रकार का आनन्द आ रहा था।

उसे डोलर, पांखड़ी, आदि की पहली मुलाकात याद आई। जब तक उसने उन्हें नहीं देखा था, उसका जीवन बिलकुल सरल और सीधा-सादा था। तदुपरान्त उसे उन-जैसी होने की धुन सवार हो गई। कितनी अधिक आतुरता से वह अपने को उन-जैसी बनाने लगी थी। सास जी को देख कर

उसकी आतुरता और भी बढ़ गई थी। वे कितनी गौरवशील और प्रतापी लगती थीं! डौलर, पाखड़ी की तड़क-भड़क की अपेक्षा उनका प्रताप अधिक था। और उस समय वह स्वयं बिलकुल निरक्षर और गंवार थी।

पति को देख कर उसका हृदय खिल उठता। उसकी प्रत्येक इच्छा पूरी करने तथा अपने को उसके योग्य बनाने के लिये वह यथा-शक्ति परिश्रम करती। उसकी प्रशंसा पाने के लिये उसने कितना परिश्रम किया था। पर सासु जी की अथवा उसकी दृष्टि में वह कभी भी नहीं चढ़ सकी। उनके लिये वह अंत तक शुक्लतीर्थ की यशोदा ही रही।

फिर भी उन दिनो वह दुखी नहीं थी। उस समय उमड़ती हुई आशा और उभरता हुआ उत्साह, दोनों उसमे थे। उसे विश्वास था कि किसी दिन अवश्य भगवत प्रसाद उसके प्रयत्नों की ओर देखेगा। ओह, पति की प्रसन्नता के लिये उन दिनो उसने क्या-क्या नहीं किया था! जैसे वे देवता से भी अधिक हो, ऐसी श्रद्धा और भक्ति से उसने अपने पति की आराधना की। और यदि बीच में उसकी श्रद्धा टूट न गई होती, तो वह जीवन-भर वैसे ही उसकी आराधना किये जाती। पर श्रीमती के बीच में आने पर उसकी आशा नष्ट हो गई, उसकी एकाग्रता भंग हो गई, और उसकी भक्ति अधूरी रह गई। इसमें श्रीमती का भी दोष नहीं था, दोष तो एकमात्र विधाता का था, कि उसने उसके पति के हृदय मे उसके लिये, जरा-सा भी स्थान नहीं रखा था।

पर सबसे अधिक भयंकर तो जीवन भर के लिये सामने खड़ा हुआ शून्य था, असहायता थी। एक-दो दिन मे भाभी चली जायगी। कदाचित जीवन मे फिर कभी उससे मिलना न हो। और उसके जाने के उपरान्त इस इतने बड़े महल में, इस विशाल नगर मे उसकी वेदना को समझने वाला अथवा उसे घड़ी-दो-घड़ी शांति देने वाला कोई न रहेगा। दुनिया के लिये उसका जीना-मरना एक-सा ही था। जैसे वह एक चलती-फिरती पुतली हो। किसी को भी उसके सुख-दुख की चिंता नही थी। भगवत प्रसाद की शोभा वाली पत्नी को सब आदर-सम्मान देते थे, पर उसकी अनुपस्थिति के अभाव को

उसे छोड कर, और कोई अनुभव नही करता था। कभी ही शायद किसी ने विचार किया हो कि उसके हृदय में भी सब के-जैसा ही रक्त संचारित होता है, और वह भी सब की-सी ही भावनाओ से आंदोलित होती है। ऐसी बेपरवाह दुनिया मे उसे अपना जीवन इस प्रकार क्यों बिताना है जैसे वह किसी उजाड़ द्वीप मे रह रही हो। इस विचार से यशोधरा की हिम्मत टूट गई। बड़े आवेग के साथ उसके रुंधे हुए गले से सुबकियों-पर-सुबकियां निकलने लगीं। इस प्रकार कितना समय बीत गया, इसका भी उसे कुछ ध्यान नही रहा। रो-रो कर जैसे मूर्च्छा आ गई हो, इस प्रकार वह मूढ की तरह वही-की-वही पड़ रही। बड़ी देर बाद बन्द द्वार खड़का, और सूरज की आतुर तथा स्नेहसिक्त आवाज उसके कानों में पड़ी।

"जसो! यशोधरा बहिन! अभी तक संदूक भरे नही गये क्या ?"

यशोधरा सहसा चौंक उठी। उसने अपनी आंखो से रहे-सहे आंसू पोछ डाले, कपड़े ठीक किये, और दरवाजा खोला।

"क्या है, भाभी?"

"यह शुक्लतीर्थ से चिट्ठी आई है। इसे पढ़वाने के लिये आई हू। पाण्डु मामा की होगी।"—कहते-कहते, उसकी दृष्टि यशोधरा की लाल आखो तथा उसके निस्तेज मुख पर पड़ी। उसका स्वर बदल गया। उसने चिंता से पूछा—"क्यों, बहिन, कुछ तकलीफ है क्या ?"

"नही, नही। मेरा सिर दुःख रहा है। कभी-कभी मेरा सिर बड़े जोर से दुखने लगता है। उस दिन मेरा सारा दिन खराब हो जाता है।"—कह कर यशोधरा ने बात उड़ा दी।

"बहिन, जरा-सी सोंठ और पीपल चुपड़ दूं? तुरन्त आराम हो जायगा।" अभी तक उसकी आंखो से चिंता नही गई थी।

"नहीं रे। मेरे पास दवाई है। वह अच्छी है। उसे लगाये लेती हूं। तुरन्त आराम हो जायगा।" उसने एक डिब्बी में से दवाई निकाल कर माथे पर घिसते हुए कहा—"ला, देखूं किसकी चिट्ठी है।"

चिट्ठी पाण्डु मामा की थी। उसकी पत्नी मृत्यु-शय्या पर पड़ी थी।

इसलिये उसने सूरज को उसकी सेवा करने के लिये तुरन्त लौट आने को लिखा था। चिट्ठी पूरी होते ही सूरज ने तुरन्त कहा—"जसु, मुझे जाना पड़ेगा।"

"क्या आज ही ?" यशोधरा ने आशंका में पूछा।

"अब भला कैसे अधिक रुका जा सकता है ?"

दोनों थोड़ी देर चुप रहीं।

"बहिन, तू थोड़े दिनों के लिये हमरे गाव नहीं आयेगी ?" सूरज ने एकाएक पूछा। फिर दो क्षण बाद उसने कहा—"देख न, तेरा शरीर कितना दुर्बल हो गया है। थोड़े दिन वहां रहेगी, तो गाव के पानी से तुरन्त फायदा होगा। तुझे देख कर सब खुश भी कितने होंगे।"

एक पल के लिये यशोधरा का हृदय उछल पड़ा; पर भगवत प्रसाद उसे आज्ञा नहीं देंगे, इस विश्वास से दूसरे ही पल वह क्षुब्ध हो उठी। उसने धीरे से शोक से गर्दन हिलायी, और कहा—"नहीं, भाभी, मुझसे घर कैसे छोड़ा जा सकता है ?"

"बहिन, घर तो रोज का है। तू कुशल से रहेगी, तो घर कहीं चला नहीं जायगा। वहां अच्छा न लगे, तो थोड़े दिनों में ही वापस आ जाना।" —सूरज ने आग्रह किया।

थोड़ी देर यशोधरा अनुत्तर रही। फिर उसने शोकपूर्ण स्वर में कहा—"नहीं, भाभी, अभी नहीं। मैं थोड़े दिनों के बाद आऊंगी।"

सूरज ने देखा, कि अधिक आग्रह करना निरर्थक है। वह रात को गाड़ी से जाने की तैयारी करने लगी।

यशोधरा ने बाकी दिन सूरज से बातें करने में बिताया। सूरज को रात के साढ़े-आठ की गाड़ी से जाना था।

गांव के लोगों को गाड़ी छूट जाने का बड़ा ही भय रहता है। साढ़े-आठ की गाड़ी से जाना था, पर सूरज पांच बजे ही तैयार हो कर बैठ गई, और हर पांच मिनट बाद यशोधरा से पूछने लगी कि चलने में कितनी देर है। परिणाम-स्वरूप यशोधरा उसके मन का समाधान करने के लिये ठीक

साढ़े पाच बजे तक तैयार हो गई। वह सूरज को स्टेशन पर विदा करने जाने वाली थी।

सूरज की उतावली के परिणाम-स्वरूप अंत मे छः बजे तो उसने गाड़ी जुतवा मगाई। दोनों चबूतरे पर से गाडी मे बैठने की तैयारी कर रही थीं कि उसी समय भगवत प्रसाद बाहर से आया। उसके घर से बाहर चले जाने पर सूरज के जाने का निश्चय हुआ था, इसलिये भगवत प्रसाद को कुछ पता नहीं था। जैसे वह कोई चीज ही नहीं है, इस प्रकार उससे बिना पूछे ही हुई तैयारी को देख कर, उसका मिजाज बिगड़ गया। गाड़ी में रखे हुए ट्रंकों पर भी उसकी दृष्टि गई। उसने सत्ता-सूचक शब्दों में यशोधरा से पूछा—"कहां जा रही है ?"

"भाभी को स्टेशन तक पहुचाने जा रही हूं। यह आज शुक्लतीर्थ जा रही है।"—उसने नम्रता से कहा।

"तुझे जाने की कोई जरूरत नहीं। मुनीम जी पहुचा आयेंगे।" फिर उसने मुनीम जी की ओर देख कर आज्ञा-सूचक स्वर मे कहा—"चुन्नी लाल, इनको स्टेशन पहुंचा आओ!"

यशोधरा का गला रुँध गया। सूरज भयभीत-सी भगवत प्रसाद के शब्द सुनती रही।

भगवत प्रसाद आज्ञा दे कर चला गया।

"बहिन, तेरे चलने की कोई आवश्यकता नही। मुझे मुनीम जी गाड़ी मे बैठा देंगे, इतना ही बहुत है। जसु बहिन, आना जरूर! चिट्ठी लिखना!"—कहते-कहते, वह सब-कुछ भूल कर, यशोधरा के गले से लिपट गई।

"हां, भाभी, आऊंगी!" यशोधरा ने अपनी भाभी के हाथों से अलग हो कर, उसे गाड़ी मे बैठा दिया।

गाड़ी चली। फिर एक बार भी उस ओर मुड़ कर देखे बिना यशोधरा वहां से खिसक गई। सूरज पोछे मुड़कर, जब तक दिखाई दिया, देखती रही। उसकी आँखों से अब तक रोके हुए आंसू अविरल धाराओं मे फूट पड़े।

यशोधरा ड्राइंग-रूम मे गई। भगवत प्रसाद बहुत देर से वहा बैठा-बैठा

उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। उसे यशोधरा पर गुस्सा आ रहा था। आज उसे अपने आग उगलने वाले ज्वालामुखी-जैसे क्रोध का प्रदर्शन करना आवश्यक लगा।

यशोधरा आ कर जरा सहमी। फिर उसने पूछा—"कॉफी मंगाऊं?"

"कोई जरूरत नहीं?" जवाब मिला।

यशोधरा वहा और अधिक नहीं खडी रह सकती थी। वह वहां से चल दी। इतने मे पीछे से जलते हुए व्यंग मे भरी हुई आवाज आई—"कितना माल भेज दिया?"

यशोधरा चौंक कर खड़ी हो गई। उसकी समझ में कुछ नहीं आया।

"दो-चार संदूक और भर दिये होते, तो आराम से दो-चार वर्ष और बीत जाते।"—कलेजे के आर-पार हो जाय, ऐसी शीतलता से उसने कहा।

यशोधरा की समझ मे कुछ नहीं आया। वह विमूढ़-सी खड़ी रही। आरभ मे लाई हुई वस्तुयें उसने एक-दो बार भगवत प्रसाद को दिखाने का प्रयत्न किया था; पर उन पर एक उचटती हुई दृष्टि डालने के अतिरिक्त, उसने कुछ नहीं किया था। वह जहा खड़ी थी, वहीं खड़ी-की-खड़ी रह गई।

यशोधरा कहीं कुछ भेजे, भगवत प्रसाद को इसमे कोई आपत्ति नहीं थी। पर इस समय उसे केवल तकरार करनी थी। बहुत दिनों से उसको यशोधरा की गौरवपूर्ण शान्ति खल रही थी, और फिर श्रीमती के साथ होने वाली अंतिम घटना के बाद से उसका दिमाग और अधिक बिगड़ गया था। हर समय वह जिस स्वस्थता के साथ यशोधरा से बातें करता था, वह स्वस्थता भी अब विलीन होने लगी थी।

थोड़ी देर तक दोनों के बीच एक प्रकार की शान्ति रही। उमड़ते हुए आंसुओं को रोकने के लिये यशोधरा ने एक महाप्रयत्न किया। फिर थोड़ी देर मे उसने बड़ी मुश्किल से पूछा—"मैं जाऊं?"

भगवत प्रसाद का दबा हुआ रोष फिर उछल पड़ा। "क्यो, मैं खाये जा रहा हू क्या? मेरे ही घर में रहना, मेरे ही पैसे से मौज उड़ाना, और पाच

मिनट मेरे पास खड़े रहने मे भी मौत आ जाती है ! शुक्लतीर्थ मे पंडितानी बनी होती, तो...''—वह कहते-कहते, रुक गया। इस प्रकार हल्के ढंग से तकरार करने का यह पहला ही अवसर था, इसलिये शब्द गले से बाहर नहीं निकल रहे थे।

''मुझ से कुछ अपराध हो गया है ?'' यशोधरा ने रुंधी हुई आवाज मे पूछा।

''अपराध !'' भगवत प्रसाद का खून खौल उठा। ''तुझसे क्या अपराध नहीं हुआ, यह पूछ ! तूने मेरा सारा जीवन बर्बाद कर डाला ! मां-बाप ने एक चुड़ैल मेरे पीछे लगा दी ! न तो तू व्यवहार-कुशल ही है, और न तुझे और ही कुछ आता है। न तो तुझे बोलना आता, और न चार भले आदमियों मे बैठना। जहा ले जाओ, वहां मुह फुला कर बैठ जाती है। लोग समझते है कि मैं तुझे मारता हूं, और दुख देता हूं,।''

यशोधरा चुपचाप, जैसे समझ न रही हो, इस प्रकार सुनती रही। भगवत प्रसाद थोड़ी देर चुप रहा। पर थोड़ी देर में जैसे सब-कुछ आज ही कह डालने का निश्चय हो, इस प्रकार वह फिर कहने लगा—''सच कहता हूं,मैं तुझसे, इस जिन्दगी से, सब-सुख से ऊब गया हू। यह घुटन अब मुझसे बिलकुल सहन नहीं होती। अपने ही घर में मैं पराया-सा हो गया हूं। मेरी आज्ञा की उपेक्षा होती है, मेरे मित्रो का अपमान होता है, मेरी आज्ञा की किसी को भी परवाह नही होती। किसलिये मुझे इस घर मे रहना चाहिये, यह मुझे कोई बताये ? तुझे देखता हूं, तो मेरे सामने ये सब चीजे आ खड़ी होती हैं। इससे तो घर छोड़ कर सन्यासी हो जाना कहीं अच्छा होगा।''

इतने सब प्रहार उसपर एकदम क्यो हुए, यशोधरा के पास इतना सोचने का भी समय नही था। उसका पति उसके कारण इतना अधिक दुखी था, उसने इसकी कभी कल्पना भी नही की थी। जीवन में जैसे पहली ही बार अंधकार दूर हो कर, आंख खुल गई हो, उसे ऐसा लगा। कुछ भी विचार किये बिना, आवेश में उसके मुंह से निकल गया—''तुम क्यो

सन्यासी होओगे ? मैं ही यहां से चली जाऊं, तो क्या बुरा होगा ?''

भगवत प्रसाद क्रूरता से हंसा। ''जाना हो, तो रास्ता खुला है। पर देखना, कहीं दो दिन बाद वापस न लौटना पड़े। मेरे ऐसे भाग्य कहां कि थोड़े दिन शान्ति मिले !'' उसने 'तू' के बजाय 'तुम' का प्रयोग कर, शब्दों का जहर बढ़ा दिया। थोड़ी देर में उसे लगा कि इतना क्रोध कर लेने के बाद, अब उसका रोष शांत होने को हो रहा था। बहुत देर में उसने घड़ी देख कर, खड़े होते हुए, कहा—''आज रात को मैं चीन के यहां अंधेरी में रहूंगा। वहां से कल दोपहर को लौटूंगा। संध्या को सर विमला प्रसाद की पार्टी में हम दोनों को जाना है। तुम तैयार रहना। आज के दिन तुम्हें अकेले मौज उड़ाने की स्वतन्त्रता है !'' कहता-कहता, वह विमूढ़ बनी हुई यशोधरा की ओर देखे बिना ही बाहर चला गया।

जब मोटर का हार्न बजा, तो अचेतन-सी यशोधरा चौंक कर जाग पड़ी। तब उसे पता लगा, कि भगवत प्रसाद वास्तव में चला गया था।

यशोधरा को इस प्रहार ने बहुत चोट पहुंचाई। उसे पता नहीं था कि भगवत प्रसाद उससे इतना ऊब गया था। उसके कारण उसे घर बुरा लगने लगे, सन्यासी होने का विचार आये, इस विचार से ही भोली यशोधरा को रोमांच हो आया। भगवत प्रसाद चाहे जैसा भी हो, उसके लिये वह देवता था। अपने देवता को वह दुख कैसे दे सकती थी ? यशोधरा को अब तक के जीवन का ध्येय केवल भगवत प्रसाद को प्रसन्न करना था। उसको सुख पहुंचा सके, बस इसी एक सूत्र पर उसने अपने पूरे जीवन का निर्माण किया था। आज उसने देखा कि वह सब व्यर्थ चला गया। उसका प्रभु उसके प्रयत्नों से प्रसन्न होने के बदले, उससे दूर भागना चाहता है। उसके मार्ग में जब वह एक बाधा के रूप में थी, तो फिर उसके जीवन का प्रयोजन ही क्या ?

यशोधरा की आंखों के सामने अंधेरा छा गया। वह एक कुर्सी पर आंखें मीच कर बैठ गई। नौकर बिजली जलाने आया। उसे सेठानी की यह दशा कुछ विचित्र-सी लगी। पर सेठ के साथ उसकी कुछ कलह हो गई

थी, यह तो सब नौकरों ने कभी जान लिया था ।

सहसा यशोधरा को याद आया कि कल दोपहर को वे विमला प्रसाद की पार्टी में जाने के लिये कह गये हैं । विमला प्रसाद अर्थात् श्रीमती की पार्टी में जाना होगा । श्रीमती कदाचित जानती भी होगी कि भगवत प्रसाद ने उसे छोड़ दिया है । कल वह उसके सामने गर्व से जग जीत लेने की खुशी में हसेगी । ऐसी परिस्थिति में श्रीमती के सामने जाने से जहन्नुम में जाना अच्छा है । उसे जीवन भर की तपस्या में जो नहीं मिला था, उसे श्रीमती पैर की ठोकर से उड़ा रही थी । उसके आगे क्या वह एक भिखारिन बन कर जाय ?

उसके मस्तिष्क में सारा चित्र आ गया, एक नहीं अनेक चित्रों की शृङ्खला दौड़ गई । उसका सिर चकरा गया । उसके गले से दुःख की एक आवाज निकल गई । कुछ भी विचार किये बिना, वह कुर्सी का डंडा पकड़ कर, खड़ी हो गई । किसी भूत को जैसे दूर धकेल रही हो, इस प्रकार उसने "ना, ना" कह कर, हवा में हाथ घुमाये, और तेजी में चलती हुई, लग-भग दौड़ती हुई, चबूतरे पर आ गई, और पैड़िया उतर कर दरवाजे की ओर चली । बहू जी का ऐसा विचित्र व्यवहार देख कर दरबान घबराया । पर सेठ ने कलह की थी, यह पता होने के कारण उसने अधिक विचार नहीं किया, और सोच लिया कि बहू जी बाग में घूम रही होंगी ।

भोली यशोधरा के अंतःकरण ने उससे अनजाने मे छल करा लिया । उसने बाग का एक चक्कर काटा, और पीछे के दरवाजे से बाहर सड़क पर आई । पास ही एक विक्टोरिया जा रही थी । उसे बुला कर और उस पर बैठ कर उसने ड्राईवर को ग्रांट रोड की ओर चलने के लिये कहा ।

जब वह स्टेशन पर पहुँची, तो गाड़ी छूटने में पांच मिनट की ही देर थी । उसने गाड़ी वाले को कब पैसे दिये और कब टिकट लिया उसे, कुछ भी पता न लगा । गाड़ी छूटने ही वाली थी कि वह स्त्रियों के थर्ड क्लास के डिब्बे के आगे जा पहुंची । सूरज एक खिड़की से लगी बैठी थी । यशोधरा दरवाजा खोल कर अंदर आ गई ।

"यशोदा ! तू !"—आश्चर्य से सूरज चिल्ला उठी।

"हां, भाभी मैं तेरे साथ चल रही हू !"

यशोधरा का जवाब समाप्त होने से पहले ही गाड़ी ने प्लेटफार्म छोड़ दिया।

भगवत प्रसाद कह गया था कि रात को न लौटेगा; पर ग्यारह बजे के लगभग वह घर लौट आया। उसने अब से यशोधरा को ठीक तरह अपनी सीमाओं के भीतर रखने का निश्चय कर लिया था। अपना गुस्सा निकाल लेने से अब उसे थोड़ा आत्म-सन्तोष भी हो गया था।

वह जब घर आया, तो सब नौकर एक टोली बनाये, चबूतरे पर बैठे थे। सब के मुख पर ऐसी घबराहट के चिह्न थे कि जैसे कोई असाधारण घटना हो गई हो, और किसी को भी कुछ न सूझ रहा हो। भगवत प्रसाद को देखते ही, सब दुम दबा कर, आगे-पीछे खिसक गये।

भगवत प्रसाद भाप गया कि कोई असाधारण घटना हो गई है। "क्यो क्या बात है ?" जैसे सब से पूछ रहा हो, इस प्रकार उसने कठोर स्वर मे पूछा।

किसी को भी बोलने की हिम्मत नहीं हुई।

अधीरता से उसने फिर वही प्रश्न किया—"क्यो, क्या है ?"

एक मुनीम-जैसे लगने वाले आदमी ने जरा आगे आ कर, कहा—"सेठ बहू जी..."

भगवत प्रसाद का मन आशंका से हिल गया। उसने बीच मे ही कहा—"क्यो, बहू जी को क्या हो गया ?"

"बहूजी घर मे कही दिखाई नहीं दे रही हैं !" उसने जरा हिम्मत बटोर कर, कहा—"दरबान ने उनको बाग मे जाते देखा था। उसने सोचा, कि बाग मे घूम रही होगी। पर बहू जी की भाबी को, जो मुनीम जी स्टेशन छोड़ने गये थे, वे कहते हैं कि जब वे उन्हे गाड़ी में बैठाकर लौट रहे थे, तो उन्हें बहू जी-जैसी किसी को किराये की गाड़ी पर स्टेशन की ओर जाते देखा था।"

क्षण भर के लिये भगवत प्रसाद अवाक् रह गया, और फिर जैसे कोई असाधारण बात हुई हो, इस प्रकार विमूढ़-से बने हुए नौकरों को वही विस्मय मे डूबे छोड़ कर, अपने कमरे मे चला गया। थोड़ी देर मे नीचे की निस्तब्धता मे उसके भावहीन शब्द सुनाई दिये—"माधु, बूट निकाल।"

ये शब्द सुनने के उपरान्त, खड़े रहना अनावश्यक है, यह समझ कर धीरे-धीरे सब इधर-उधर खिसक गये।

थके-हारे भगवत प्रसाद के मन में उस दिन रात को यशोधरा के प्रति रोष को छोड़ कर, और कोई भाव नहीं था। उसके क्रोधग्रस्त अंतर मे यशोधरा की कुशल-क्षेम की चिंता करने के लिये अवकाश नहीं था। इस काम मे उसे उसकी आज्ञा का अनादर करने की नीयत स्पष्ट दिखाई दी, और उसे आवश्यक लगा कि यशोधरा से इसके लिये जीवन भर प्रयश्चित्त कराया जाय। जब वह नर्पों नर्मदा का पानी भरते-भरते, हाथ, सिर और पैर घिस कर प्रायश्चित्त कर लेगी, तभी उसे खोये हुए राज-वैभव का पता लगेगा, और तभी उस मिजाज वाली गॅवारिन का गर्व चूर होगा। भगवत प्रसाद इसी प्रकार सोचता रहा।

फिर श्रीमती से मिलने का मार्ग भी अब निष्कंटक हो गया था। इस विषय मे विचार करते-करते, उस रातको उसे अनेक स्वपनो के इन्द्रजालों से भरी नींद आई। एक ही रात मे उसने सुख-दुख का अनेक प्रकार से अनुभव किया। सबेरे उठने पर, उसका सिर खूब दुख रहा था।

पर रात में वह जिस शान्ति का अनुभव कर रहा था, वह सुबह अदृश्य होती हुई दिखाई दी। जब सुबह नौकर चुपचाप चाय की 'ट्रे' रख गया, तो उसे कुछ-कुछ ऐसा आभास हुआ कि जैसे वह किसी गूँगों के प्रदेश मे, किसी निर्जन स्थान पर आ गया हो। यशोधरा की खाली कुर्सी सजीव हो गई, और उसे लगा कि जैसे वह उसकी ओर ऑखे निकालकर देख रही हो। उसने अपना मुख उस ओर से फेर लिया।

उसने जल्दी-जल्दी कपड़े पहने, और कल्पना तथा विचार के भूतो से मुक्ति पाने के लिये बाहर निकला। जितनी देर तक हो सका, अपने परिचितो

और मित्रों के यहां मिलने के बहाने घूमता रहा। घर से बाहर इस प्रकार घूमते-घूमते धीरे-धीरे उसका उत्साह भी वापस आता गया, और संध्या को श्रीमती से मिलने के विचार से उसकी घुटन भी दूर होने लगी। यशोधरा के चले जाने पर, अब वह श्रीमती को सहज में ही जीत सकेगा, इस विचार के काल्पनिक आनन्द ने उसके मन को सतेज कर दिया। और इन सब भावनाओं का आवेश लिये हुए, जब वह घर आया, तब तक यशोधरा की अनुपस्थिति लगभग भूल गया था।

उसने भोजन किया, दोपहर भर सोया, और फिर चाय पी। संध्या के चार बजे आफिस गया, और घूम-फिर कर साढ़े पांच बजते-बजते घर वापस आ गया। श्रीमती की पार्टी में जाने का समय हो गया था। वह धीरे-धीरे बड़ी सावधानी से कपड़े पहनने लगा। पर पता नहीं क्यों, एक प्रकार की घुटन और अरुचि की भावना उसे घेरने लगी। विमला प्रसाद के निमंत्रण के बिना ही, उसके घर श्रीमती की चिट्ठी, जिसके अस्तित्व के विषय में किसी से कुछ नहीं कहा जा सकता था, के आधार पर वह जा रहा था, यह बात जैसे पहली बार ही उसके ध्यान में आई। वह रुक गया, और इस विचार से डावाडोल होते हुए मन के कारण देरी से, साढ़े सात बजे घर से बाहर निकला। जब वह श्रीमती के यहां पहुंचा, तो यह समझ कर कि सब मेहमान आ गये, विमला प्रसाद और श्रीमती अतिथियों से अलग-अलग बातें करने में व्यस्त हो गये थे।

भगवत प्रसाद चुपचाप आ कर, बाग में एक कोने की सीट खोज कर बैठ गया ताकि बहुत कम लोगों की दृष्टि पड़े। उसका दिल इस प्रकार धड़क रहा था कि जैसे आज के दिन पर ही उसका सारा भविष्य निर्भर हो, जैसे वह पागल हो गया हो, उसका सिर इस प्रकार घूम रहा था। इतने आदमियों के बीच इस प्रकार चुपचाप आ कर बैठ जाने से श्रीमती से कुछ देर बाद भेंट होने की कम सम्भावना थी, यह भी उस समय उसे नहीं सूझा। श्रीमती के पीछे उसने अपनी देखने अथवा जानने की सब शक्ति गंवा दी।

बाग में चारो ओर बैंड के स्वर फैल रहे थे। बिजली के पेड़ पर टंगे हुए रंगीन लट्टुओं से चारों ओर बहुरंगी प्रकाश पड़ रहा था। चालाक श्रीमती की आखें पेड़ की ओट में आधे छिपे हुए भगवत प्रसाद को देखे बिना न रही।

'तो वह बड़े मिजाज वाली लड़की नही आई!' श्रीमती ने सोचा, और निश्चय किया कि आज किसी तरह वह अवश्य ही भगवत प्रसाद को जीत कर, उस गर्वीली का गर्व चूर-चूर कर देने को प्रेरित करेगी। उन दोनों पति-पत्नी को अपमानित कर के पार्टी से निकाल देने की उसकी योजना धूल मे ही मिल गई। धीरे-धीरे अतिथियो से बात करते-करते, वह भगवत प्रसाद की ओर बढ़ी। पर उसकी किसी हरकत से यह पता नही लग रहा था कि उसे भगवत प्रसाद के आने का पता हो।

जैसे मंत्र-मुग्ध हो गया हो, इस प्रकार भगवत प्रसाद उसके प्रत्येक अंग-सन्चालन और गति को देख रहा था और जैसे उसके अंग-प्रत्यंग से झरते हुए लावण्य को आंखो से पी रहा हो, इस प्रकार वह उसकी ओर एक टक देख रहा था। उसको न देखती हुई दिखाई देने वाली श्रीमती ने दूर से ही उसकी मोहवशता को भी भाप लिया था।

मोहकता की वर्षा करती, मुस्कराती हुई, श्रीमती भगवत प्रसाद के पास आ खड़ी हुई। सुगंध और प्रकाश मे उसके अंगो की सहस्रगुनी अधिक उज्ज्वल लगने वाली कान्ति से भगवत प्रसाद बिलकुल परवश हो गया।

अत्यन्त मृदु स्वर में श्रीमती ने पूछा—"क्यों, तुम्हारी पत्नी नही आई?"

कितने ही दिनों से जिस क्षण की प्रतीक्षा थी, वह कहीं ऐसे ही न चला जाय, इस भय से आत्म-विस्मृत भगवत प्रसाद ने या तो वे शब्द सुने नहीं, या सुने तो समझे नहीं। उस समय उसका चित्त ठिकाने नहीं था। समय और स्थल को भूल कर, उसने श्रीमती का हाथ पकड़ लिया।

"श्रीमती!" उसकी आवाज कांप रही थी।

"पागल हो गया क्या?" क्रोध दबाकर, श्रीमती ने हाथ खींच लिया, और यह देखने के लिये चारों ओर देखा कि किसी ने देख तो नहीं लिया। वह लौटने के लिये पीछे मुड़ी।

"श्रीमती, एक मिनट रुको !" पागल की तरह भगवत प्रसाद बोला—"मेरा जीवन और मरण अब तुम्हारे हाथ में है । श्रीमती,...एक बात कहने आया हूं । सुनोगी ?"

श्रीमती के मन मे आया कि उस अत्यन्त तुच्छ लगने वाले मानव-कीट को पैरों के नीचे कुचल दे । पर यशोधरा की मूर्ति उसकी आँखो के आगे आ खड़ी हुई । फिर भी भगवत प्रसाद के इस कुसमय के पागलपन से ऊब कर कठोरता में बोली—"यह कैसा नाटक है ? क्या कहना चाहते हो ?"

"श्रीमती, मैं आज अपनी दुनिया को जला कर आया हूं ! तेरी ईर्ष्या मे मेरी पत्नी मुझे छोड कर चली गई !" 'तुम' से 'तू' पर आते हुए, उसने कहा—"अब तो तू दया कर !"

एक पल के लिये श्रीमती की समझ मे कुछ भी नही आया । उसके माथे पर सलवटें पड़ गईं, और वह आँखें फाड़ कर उसे देखती रही । पर दूसरे ही क्षण यह बाते उसके मस्तिष्क मे स्पष्ट हो गईं कि यशोधरा भगवत प्रसाद को छोड़कर भाग गई है । उसके मस्तिष्क के उलझन और उदासी के बादल फट गये । कुछ किये बिना ही, अपने-आप यह सुखद परिणाम हो गया । उसके आनन्द की सीमा नहीं रही । जैसे उसकी सब इच्छायें पूर्ण हो गई हों । उसकी खुली हुई आँखें अमानुषिक आनन्द से नाच उठीं ।

"मूर्ख ! कायर ! तू इसी योग्य है ! " उसकी विजय से उन्मत्त दृष्टि में अपूर्व आत्म-संतोष लहरा रहा था । "तुझे श्रीमती चाहिये ? सात जन्म तो क्या, यदि सात सौ जन्म भी तू तप करे, तो भी तुझे श्रीमती नहीं मिल सकती !" जैसे गुलाम को क़त्ल करने की आज्ञा दे रही हो, इस तरह श्रीमती ने यह सब कहा । फिर उसने शान से पीठ फेर ली ।

अत्यधिक निराशा के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होनेवाली धृष्टता के कारण भगवत प्रसाद भी सब-कुछ भूल गया । उसे स्थान और समय के बंधनों का ज़रा भी ध्यान नहीं रहा । श्रीमती के आगे बढ़ने से पहले ही उसने बड़ी मज़बूती से उसकी कलाई पकड़ ली । उसकी आँखों से अंगारे बरस रहे थे।

"हंसी ! मेरी दुनिया को धूल में मिला कर, अब मुझ से हंसी करती है ! ...इसी क्षण मेरी होने की स्वीकृति दे दे, नहीं तो तेरा खून कर डालूंगा !" बहुत दिनों की रोगग्रस्त मनोदशा के बाद, अब जैसे उसमें सच-मुच पागलपन आ गया हो।

एक क्षण के लिये श्रीमती की आँखें भय से काप उठीं। जैसे सहायता की याचना कर रही हो, इस प्रकार भय से उसने चारों ओर देखा। दूसरे ही क्षण पेड़ के पास आ खड़े हुए विमला प्रसाद पर उसकी दृष्टि पड़ी। उसके मुख से भय का भार उड़ गया, और उसके बदले उद्धतपन और मजाक के भाव झलक उठे। "विमल, इस पागल से मुझे छुड़ा। हजरत बिना निमंत्रण के ही घुस आने की बहादुरी दिखा कर अब मेरे प्रेम की भीख मागने का प्रयोग कर रहे है !"

विमला प्रसाद एक भी अक्षर न बोल कर, आगे आया। उसके साथ दो सेवक भी थे। उसने आज्ञा-सूचक स्वर में कहा—"इस पागल को बाहर निकाल दो !"

इसके पहले हो भगवत प्रसाद समझ सके कि क्या हो गया और कुछ कहे, यह सोचे; कि नौकरों ने धक्के दे कर, उसे फाटक से बाहर निकाल दिया।...

जब भगवत प्रसाद को होश आया, तो उसने अपने को अपने शयना-गार मे खाट पर करवटें बदलते पाया। अंधकारपूर्ण भवन के सुनसान वाता-वरण मे दो स्त्रियो की आँखें उसे दिखाई दीं। दो आँखें उसे गर्व-भरे तिरस्कार की ज्वाला से जला रही थीं; और दो अन्य आँखें जैसे व्यंग तथा अवहेलना की उस पर वर्षा कर रही थीं।

वह पागल की तरह एक दम उठा, और बिजली जलायी। घड़ी में साढ़े-नौ बजे थे। शुक्लतीर्थ पहुंचने के लिये अंकलेश्वर जाने वाली अंतिम गाड़ी पौने दस बजे ग्रांट रोड से जाती थी।

घर का पहरेदार—रमोशी भैया ने टोपी भी न पहने हुए सेठ को घर से बाहर जाते हुए देखा, और देखता रह गया। वह एक टैक्सी में बैठ गया।

टैक्सी तेजी से चली गई। भैया कुछ समझ न सका। कल सेठानी, और आज सेठ! इस घर में यह सब क्या हो रहा है? वह चबूतरे पर लालटेन के आगे रक्खी हुई रामायण के सामने बैठ गया, और पढ़ने लगा—

'तुलसी या संसार में,
भाँति-भाँति के लोग।'

स्नेह का बन्धन

अंधेरी में गोडबंदर रोड पर बस्ती के नाके के पास एक छोटा बंगला था। उसमें साधुराम तीन-चार वर्ष से अकेले रहता था। वह स्वभाव से गंभीर और नीरस था। दिन भर वह अपने काम से बंबई में रहता, और रात को आठ बजे घर वापस आता। उससे मिलने शायद ही कभी कोई आता हो। बंगाल से आने वालों में एक स्त्री थी, जो उसका प्रतिदिन का काम दो बार आ कर कर जाती थी। साधुराम का एक पुराना आदमी रसोई बनाता था और दोपहर को चला जाता था। उसका भी अपने सेठ की तरह बस्ती में और किसी से परिचय नहीं था।

साधुराम की उम्र सैंतालीस वर्ष के करीब थी। उसके चेहरे से ऐसा लगता था, कि जैसे उसने दुनिया में बहुत ऊंच-नीच देखा हो। उसके मुख पर सौजन्य था अनुभवजनित शांति थी और दुनिया को बहुत-कुछ देख लेने के कारण निर्वेद था। इच्छा, लालसा, अथवा क्षोभ, किसी के भी चिह्न उसके मुख पर शेष नहीं थे।

उसके एकान्त-प्रिय स्वभाव के कारण लोग बराबर उसकी टीका-टिप्पणी करते थे। लोग उसे कोई रहस्यमय मनुष्य समझते थे, और उसके जीवन के विषय में तर्क-वितर्क करते। कोई उसे चोर समझता था, तो कोई लुटेरा। किसी के लिये वह साधु पुरुष था, और कोई कहता था कि वह या तो अपना दिवाला निकाल कर या किसी का खून करके इस प्रकार छिपे वेष में नाम बदल कर रह रहा है। कुछ उसे साधना-रत परोपकारी पुरुष भी समझते

थे। पर इनमें से सत्य कुछ भी नही था। वह केवल एक साधारण मनुष्य था, दुनिया से ऊबा हुआ, कुटुंबियो की मृत्यु से एकाकी बना हुआ और अब अपने जीवन के उत्तर काल मे शान्ति की खोज करने वाला।

बंबई जा कर वह दिन भर पुस्तकालयों में पढ़ता रहता। कभी-कभी पुराने परिचितों के यहां मिलने जाता। कभी उमंग उठ जाती, तो छोटे लोगों के मुहल्लों मे जा कर लोगों को सुधारने का प्रयत्न करता। पैसा होने पर भी समय काटने के लिये कुछ ट्यूशन कर रक्खे थे। सो वहां पढ़ाने भी जाता था। रात होने से पहले वह शायद ही घर वापस आता हो।

साधुराम की इस जीवन-चर्या में वर्षों से कोई फर्क नहीं आया था, और यह भी नही लगता था कि यह स्वयं भी कोई परिवर्तन करना चाहता हो।

साधुराम एक दिन प्रतिदिन के अनुसार ६ बज कर ४५ मिनट वाली ट्रेन से रवाना हुआ। यथा-संभव वह अपने लिये किसी कोने में सीट खोज लेता था।

पचीस वर्ष का एक युवक उसकी सीट के सामने अभी एक मिनट पहले ही आ कर बैठा था। गाड़ी चल दी। साधुराम खिड़की के बाहर मुंह निकाल कर बैठ गया। क्षण भर बाद उसके कानो से एक आवाज टकराई और वह चौंक पड़ा। "काका, तुम रोज इसी ट्रेन से बंबई जाते हो? मैं तुम्हें रोज देखता हू।"

साधुराम चौंक कर उस ओर मुड़ा। सामने बैठा हुआ युवक हंसती हुई भावपूर्ण आखों से उसकी ओर देख रहा था। उन आंखों की उपेक्षा कर चुप बैठे रहना अत्यन्त कठिन था।

"हां, भाई," उसने गंभीरता से संक्षिप्त उत्तर दिया—"तुम बम्बई जा रहे हो न?"

उस युवक की तो बात करने की इच्छा प्रबल थी ही और इसीलिये उसने वह प्रश्न भी पूछा था। वह बोला—"हा, काका, मैं भी प्रतिदिन इसी गाड़ी से जाता हूं। पर अब दूसरे काम से जाता हूं। पहले नौकरी की खोज में जाता था, और अब चार दिन से नौकरी पर जाता हूं।" यौवन सुलभ आशा से उसकी आखें चमकीं। "इस समय मैंने यहीं घर बना लिया

है," शरमा कर उसने कहा।

उसकी छोड़ी हुई दुनिया की मूर्खता जरा भी कम नहीं हुई, इस विचार से साधुराम के मुंह पर हल्की मुस्कराहट आ गई। वह उस युवक के साथ और अधिक सहानुभूति से बातें करने लगा।

ग्रांट रोड स्टेशन आने के बहुत पहले ही उस युवक ने अपनी जीवन-कहानी समाप्त कर दी थी। उस युवक का नाम विमल था। दो वर्ष पहले वह ग्रेज्युएट हुआ था। अब एक छोटी-सी सुकुमार, अत्यन्त सुन्दर, अत्यन्त स्नेहशील पत्नी को ले कर बंबई में घर बसाने आया था। बंबई के कबूतर-खाने-जैसे घरों की अपेक्षा पत्नी को भीखाशा बाग वाली अंधेरी की कोठरियां ज्यादा पसन्द आयी थीं, इसलिये इस समय वे वहीं रहते थे। वह दो-चार वर्ष में हजारों रुपया कमा लेगा, और तब अपनी पत्नी को एक सुन्दर घर में रक्खेगा, उसे ऐसी आशा थी। और यह आशा फलीभूत भी होगी, ऐसा उसे दृढ़ विश्वास भी था।

उसकी बातों का सार इतना ही था।

स्टेशन आया और हाथ में टोपी ले कर, "अच्छा साहब, नमस्ते।" कह कर, विमल उतर पड़ा।

साधुराम को वर्षों के बाद अपनी पत्नी से इतना प्रेम करने वाला पति तथा स्नेहशील युवक मिला था। उसे वर्षों पहले मरा हुआ अपना लड़का याद आ गया। आज वह होता तो लगभग इतना बड़ा ही होता। साधुराम के स्वस्थ हृदय से अस्वस्थता प्रदर्शित करने वाला एक दीर्घ निःश्वास निकल गया।

गाड़ी चल दी।

विमल बार-बार साधुराम को ट्रेन में मिलता और अपने सुख की सारी बातें उससे कहता। बम्बई में उसका कोई समवयस्क मित्र नहीं था। सन्ध्या को जब काम समाप्त हो जाता, तो वह घर पर प्रतीक्षा करती हुई सुकुमार पत्नी से मिलने की आतुरता में और कहीं नहीं जाता था। इसलिये उसे मित्र

बनाने का समय भी नहीं मिलता था। विमल अपनी छोटी-सी दुनिया में इतना सुखी और सन्तुष्ट था कि उसे किसी दूसरी वस्तु की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती थी। छोटे-छोटे विहगों की भांति वे दोनों पति-पत्नी क्रीड़ा-कल्लोल करते; और जब सुख का घड़ा खूब भर जाता, तो छलक कर थोड़ा-सा रस साधुराम पर भी गिर जाता था। साधुराम भी धीरे-धीरे उनमें अधिक रस लेने लगा था। यदि किसी दिन विमल ट्रेन में न मिलता तो वह उसकी आतुरता से प्रतीक्षा करता।

एक दिन विमल ट्रेन में मिला। उसके मुख पर प्रति दिन का-सा उत्साह अथवा आनन्द नहीं था। साधुराम ने देखते ही इसका कारण पूछा—"क्यों, विमल, क्या बात है ? तबीयत ठीक नहीं है क्या ?"

विमल ने उदासी से गर्दन हिला कर कहा,—"मेरी नहीं, सरोज की।"

सरोज की बातें सुन सुन कर, बिना देखे ही साधुराम उसे पहचान गया था। "क्या हो गया है ?" उसने चिंतित हो कर पूछा।

विमल के मुख पर लज्जा की छाया आ गई! "शी इज...शी इज .." उससे वाक्य भी पूरा नहीं किया गया।

बहुत वर्षों से संसार छोड़ देने पर भी साधुराम विमल की कठिनाई समझ गया। बोला—"तो भाई, किसी नर्स को दिखाओ!"

जैसे नई बात सुझा दी गई हो, इस प्रकार विमल के मुख पर छाये उदासी के बादल फट गये। कहा—"यह ठीक कहा आपने! यही करना पड़ेगा।"

यह बात उस दिन यहीं समाप्त हो गई। विमल उस दिन से एक नया आदमी बनता जा रहा था, साधुराम से छिपा न रहा। सरोज के संबंध में बात करते समय उसे ऐसा लगता, जैसे वह किसी बड़ी ही पवित्र वस्तु के विषय में बात कर रहा हो। वह पिता होने वाला है, इस विचार से उसका गर्व सीमाओं में नहीं समा रहा था। साधुराम जान-बूझ कर कभी-कभी सरोज की खबर पूछने के अतिरिक्त उससे और कुछ बात न करता।

एक दिन रात में आराम-कुरसी पर पड़ा-पड़ा साधुराम कुछ पढ़ रहा

था। तभी लगा, कि जैसे छोटे-से बगीचे का फाटक खोल कर कोई अंदर आ रहा हो। उसे याद नहीं था कि इतने वर्षों में कभी कोई उससे रात में मिलने आया हो। उसने दीपक ठीक किया, और बाहर चबूतरे पर आया। हाथ में लालटेन लिये हुए, बाल बिखराय हुए, घबराया हुआ-सा विमल वहां खड़ा था। साधुराम तुरन्त समझ गया कि कोई गड़बड़ी हो गई है।

"साधुराम काका, सरोज अब मर जायगी," कह कर वह बालक की तरह रो पड़ा।

साधुराम ने उसकी पीठ थपथपाई। "भाई, क्या हो गया ?"

"सरोज को बड़ी पीड़ा हो रही है, साधुराम काका !"

साधुराम गंभीर हो गया। "कोई घर में उसके पास है ?".

"नर्स है। डाक्टर अभी आ कर चला गया। उसकी मां और बहिन भी आई हुई हैं।"

"तब कोई चिन्ता की बात नहीं। सब ठीक हो जायगा।"

उस रात को साधुराम और विमल अंधेरी रात में तारों वाले गुंबज के नीचे आधी-रात तक रास्ते में भटके। विमल को सास और नर्स ने घर आने से मना कर दिया था। उसके अनुभवहीन मन में सरोज के चिल्लाने की आवाजें सुनाई देतीं और वह घबरा उठता।

"काका, सरोज बच जायगी न !" उसने हजारवीं बार पूछा, और पिता की-सी कठोरता तथा मित्र के-से प्रेम से हजारवीं बार साधुराम ने विश्वास दिलाया। साधुराम को ऐसा लगता, कि जैसे बिना देखे ही सरोज भी उसकी लड़की ही हो गई हो, और उसे भी डर लगने लगा था, कि कहीं ऐसा न हो कि उसे कुछ हो जाय।

"विमल, अब सुबह होने वाली है। जा, घर जा कर चुपचाप सो जा। सब ठीक हो जायगा।" केवल यह कह कर ही उसे संतोष नहीं हुआ। उसका हाथ पकड़ कर साधुराम उसे उसके घर तक ले आया।

विमल के घर में दीपक जल रहा था। बाकी सर्वत्र शान्ति थी। विमल ने कांपते हाथ से दरवाजा खटखटाया।

दरवाजा खुला, और सरोज की छोटी बहिन खिड़की में आ खड़ी हुई। "विमल भाई, तुम हो क्या? बहिन को लड़का हुआ है। बधाई!"

विमल की थोड़ी देर पहले की दुखी मुद्रा विलीन हो गई। पिता होने के गर्व से उसकी छाती फूल उठी। प्रसन्नता से सिर उठा कर बोला—"प्रभा, हमें बच्चा दिखायेगी?"

"रुको। तुम घर में आओ। मैं अम्मा से कहती हूं।"—कह कर प्रभा अंदर के कमरे में दौड़ी चली गई।

विमल ने साधुराम का हाथ जोर से पकड़ लिया। उसकी आंखों में हर्ष के आंसू छलछला आये। "साधुराम काका......" इससे आगे कुछ कहने के पहले ही नर्स हाथ में कपड़े में लिपटा हुआ बालक ला कर, खड़ी हो गई।

दोनों पुरुषों ने ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा था। मनुष्य के आकार का-सा लाल मांस का लोथड़ा-सा एक बालक कपड़ों में से थोड़ा-थोड़ा दिखाई दे रहा था। उसका अभी आकार-मात्र ही था, शोभा तथा सूरत-शक्ल अभी आने वाली थी। बालक उसका ही था, इस विश्वास से विमल ने उसे जरा हाथ लगाया, और चौंक कर पीछे हट गया। उसका स्पर्श रेशम-जैसा कोमल था। एक प्रकार के अद्भुत आनन्द से विमल पुलकित हो उठा।

नर्स हंसी। "भाई, अभी तुम्हें इसे छू सकने में देर है!" और बालक को लिये हुए, वह अन्दर चली गई।

"विमल, अब शान्ति से सो जा। अब फिक्र करने की कोई जरूरत नहीं।"—कह कर साधुराम अपने घर की ओर मुड़ गया।

तुरन्तु घर न जा कर बहुत देर तक वह अंधेरे रास्ते पर अकेले फिरता रहा। उसे अपने अतीत का एक दिन याद आ गया। जब उसका पहला बालक हुआ था, तब की भावनायें ताजी हो गईं। लगा, कि उन्हें पुनः अनुभव कर रहा हो। जैसे अनेक वर्ष का जड़ी-भूत हृदय पिघल रहा हो। आंखों से दो-चार आंसू जमीन पर टपक पड़े। ऐसा लगा, कि जैसे झम-झम करती हुई अंधेरी रात इस प्रौढ़ मनुष्य का शोक देखने के लिये पल भर को रुक गई हो। अनंतकाल से जन-समूह के सुख-दुख के साक्षी तारों ने जैसे

मानव के इस सूक्ष्म शोक-भार पर थोड़े से प्रकाश के आंसू बरसा कर सहानुभूति प्रदर्शित की। सृष्टि के ये तत्व जैसे चित्र में एक प्रकार की नवीन शान्ति की प्रेरणा कर रहे हों। आंसू पोंछ कर साधुराम घर की ओर मुड़ गया।

बाकी रात साधुराम को उस नन्हें लाल-लाल, नवजात बालक के सपने दिखते रहे।

दो दिन बाद साधुराम विमल को स्टेशन पर मिला।

"बच्चा कैसा है?" उसने आतुरता से पूछा।

जवाब में विमल के नेत्र हंसी में डूब गये। "सुन्दर!" उसने कहा।

"और सरोज?"

"वह भी ठीक है!"

थोड़ी देर तक दोनों को यह नहीं सूझा कि आगे क्या बात करें। पर नये पिता का हर्ष बहुत देर तक दबा नहीं रह सकता था।

"साधुराम काका, बच्चे का वजन जन्म के समय साढ़े आठ पौंड था।" दुनिया में जैसे कोई बड़े विस्मय की बात हो गई हो, और वह उस विस्मय का स्रष्टा हो, ऐसे गंभीर गर्व की ध्वनि विमल की आवाज में थी।

"अं······अं···"

"और उसका चेहरा लगभग मेरे-जैसा ही है।"

इस शान से हांकते हुए लड़के की कमर में साधुराम को एक धौल जमा देने का मन हुआ। वह अपने मन में क्या समझ रहा था? पर वह कुछ कहता, कि इतने में गाड़ी आ गई, और जल्दी में दोनों अपने-अपने डिब्बे में चढ़ गये।

अगले दो दिन तक साधुराम को विमल का कोई समाचार नहीं मिला। पर तीसरे दिन विमल उसी जगह गाड़ी की प्रतीक्षा में खड़ा मिला।

"क्यों, विमल, दो दिन से दिखाई नहीं दिये?"

विमल ने गंभीरता से गर्दन हिला दी।

"सरोज की तबीयत ठीक नहीं थी। मैं दो दिन घर पर ही रहा।"

साधुराम के मुख पर चिन्ता छा गई। विमल के परिवार की माया उसके मन में भी छायी जा रही थी। "क्या हो गया था उसे? कुछ विशेष बात?"

"नहीं, नहीं। केवल थोड़ा बुखार आ गया था। काका, बाबा बड़ा सुन्दर होता जा रहा है!"

बाबा के विषय में विमल की बात करने की अधीरता की सीमा न थी। "मुझे लगता है कि वह सरोज-जैसा ही गोरा होगा," विमल ने गंभीरता से कहा—"जब वह हंसता है, तो कितना सुन्दर लगता है!"

अपने निर्लेप मन पर रंग चढ़ता जा रहा था, इस विचार से साधुराम को चिढ़ आ गई। "हंसता है? इतना-सा बच्चा हंसता है?" उसकी आवाज में कठोरता थी।

पर विमल पर यह कठोरता बेकार गई। "और नहीं तो क्या? बालक नींद में जरूर हंसता है। कहते हैं, कि उसे विधात्री आ कर हंसाती है, और छः महीने तक उसे पूर्व-जन्म का ज्ञान रहता है।"

विमल के शब्दों में गम्भीरता की सीमा नहीं थी। उस-जैसे पुरुष के मुँह से ये शब्द मूर्खतापूर्ण लगते थे, पर इस ओर उसका ध्यान बिलकुल नहीं था। अपनी सास और साली से स्त्रियों में प्रचलित बातें सुन कर उसने उन पर विश्वास कर लिया था, और अपने अन्तर में उन्हें इस प्रकार सहेज कर रख लिया था, कि जैसे वे विश्व-विधान के महासत्य हों।

साधुराम को हंसी आये बिना नहीं रही। पर ऐसे समय हमेशा उसकी प्रौढ़ता के गर्व की रक्षा करने के लिये ट्रेन आ पहुंचती थी, और विमल की नादान बातों से पैदा हुई कुढंगी परिस्थिति उसे मुक्त कर देती थी।

तीन-चार महीने इसी प्रकार बीत गये। विमल वस्तुतः प्रतिदिन मिलता, अपने बाबा की और कभी-कभी अपनी पत्नी की बातें करता, और साधुराम के मस्तिष्क में एक छोटे-छोटे हाथ पैरों वाले कुलबुलाते हुए और किलकारी मारते हुए मानव-पिंड का चित्र खड़ा कर देता। एक दिन उसने आमंत्रण दिया—"काका, एक दिन तुम मेरे घर तो आओ। बहुत दिनों से आये नहीं।"

. .

साधुराम के मस्तिष्क में उस अंधेरी रात का चित्र आ खड़ा हुआ। कहा—"भाई, समय कहां है ?"

"बहाना न करो, काका। इस रविवार को अवश्य चलना होगा। मैं तुम्हें लेने आऊंगा। सरोज भी तुमसे मिलने के लिये बड़ी आतुर है।"

उसके बंधन बंधते जा रहे थे। साधुराम को इस बात का खूब ध्यान था। भय से उसने कहा—"नहीं-नहीं, भाई। मुझ बूढ़े को कहां ले जा रहे हो !"

साधुराम को सब से अधिक भय सरोज से मिलने में लगता था। उसने अब तक सरोज की कल्पना एक मृदुल, स्नेहशील और विमल के आधार पर खड़ी लतिका के रूप में कर रक्खी थी। उसे यह डर था, कि मिलने पर कहीं वह कल्पना की मूर्ति खंडित न हो जाय।

पर विमल छोड़ने वाला नहीं था। "नहीं, काका, तुम्हें चलना ही होगा। सरोज ने कहा है।" सरोज ने कहा है, इसलिये विमल के लिये उस बात पर वाद-विवाद के लिये जगह नहीं थी।

सचमुच रविवार के दिन सुबह विमल साधुराम के घर पहुंचा। साधुराम शौचादि से निवृत्त हो कर नहाने जाने की तैयारी कर रहा था।

"काका, चलो, सरोज बाट देख रही है।"

विवशता से साधुराम ने विमल की ओर देखा, और जाये बिना छुटकारा नहीं, यह समझ कर, चुपचाप चल दिया।

सरोज चबूतरे पर बैठी हुई कुछ काढ़ रही थी। "आओ काका !" उसने बिना शरमाये हुए कहा। जैसे साधुराम से उसका कितने ही वर्षों का परिचय हो।

साधुराम पल भर के लिये असमंजस में पड़ गया। फिर बोला—"क्यों बेटी, तबीयत कैसी है ?"

"मेरी तबीयत ?...तबीयत तो चार गुनी अच्छी हो गई है।" और सरोज विमल की ओर देख कर जोर से मीठी हंसी हंस पड़ी। "पहले तो मैं दिन भर घर में अकेली रहती थी, इसलिये मुझे अच्छा ही नहीं लगता था।

पर अब तो बाबा है, इसलिये उसके साथ अब अकेलापन तो सताता नहीं।"

साधुराम सरोज की ओर दो क्षण तक देखता रहा। उसने जितना सोच रखा था, उतनी छोटी और सुकुमार सरोज नहीं थी, हां, मीठी तो थी ही। साथ ही एक प्रकार का बचपन भी उसमें दिखाई देता था। उसे लगा, जैसे सरोज और विमल अभी छोटे बच्चे ही हों, पर किसी जादू की वजह से बड़े दिखाई देते हों, और जीवन को एक खेल ही समझते हों।

"सरोज, बाबा को ला तो! काका उसे देखने आये हैं।"

और सरोज विमल का वाक्य समाप्त होते-होते ही अन्दर दौड़ गई। आज वह कितने दिनों से साधुराम को अपना अमूल्य खजाना दिखा कर विस्मय में डुबा देने के लिये तड़प रही थी। पल भर में ही छोटी-सी गुदड़ी में लिपटा हुआ बंडल ले कर वह वापिस भी आ गई और चुपचाप बाबा को साधुराम के आगे रख दिया।

बालक को देखते ही, भूतकाल में इसी प्रकार देखा हुआ एक बालक याद आ गया। उसे पल भर के लिये ऐसा लगा, कि जैसे वही बालक गोरा होकर आ गया हो। बालक सुन्दर और स्वस्थ था, यह तो उसे देख कर उसके दुश्मन भी कह सकते थे। मुंह में अंगूठा डाले, नींद में डूबा हुआ, बालक गुदड़ी की गर्माहट में छिपा हुआ था। तीनों तन्मय हो उस बहु-मूल्य कोष को देखते रहे।

पल भर बाद ही बालक ने आंखें खोल दीं। तंबाकू के-से रंग की उन गंभीर आंखों में युग-युग का विस्मय भरा हुआ था। उस विस्मय के रहस्य को समझने में असमर्थ उन तीनों प्राणियों ने स्तब्ध हो कर, उन आंखों के गांभीर्य में डुबकी मारी। और इतने में ही महान्-से-महान् विस्मय! जैसे पहचानता हो, इस प्रकार बालक साधुराम की ओर देख कर खिलखिला कर हंस पड़ा। जैसे कोई पवित्र और अमूल्य वस्तु मिल गई हो, इस प्रकार वह हंसी साधुराम के अंतर में अंकित हो गई।

पृथ्वी के छोरों के पार उड़ती हुई इन तीनों आत्माओं में से विमल पहले जागा। "काका, कहो, बाबा सुन्दर नहीं है क्या?"

"सुन्दर ! यह शब्द तो भाई, बहुत छोटा लगता है ! बाबा सचमुच अद्‌भुत है !"

सरोज ने आभारपूर्ण गंभीर दृष्टि साधुराम की ओर डाली। उसकी छाती गज भर फूल उठी। दुनिया में किस मां को अपने बालक की प्रशंसा सुन कर ऐसी अनुभूति न हुई होगी ?

"साधुराम काका, हमें तुम्हारी सलाह लेनी है। बाबा का नाम क्या रक्खें ? इसने भीष्म रक्खा है, मैंने गौतम। सच बताओ, दोनों में कौन-सा सुन्दर है ?"

पति-पत्नी में जब बालक के नाम के विषय में झगड़ा खड़ा हो जाय, तब अपना मत किस ओर दिया जाय, यह बड़ा कठिन प्रश्न है। साधुराम इस कठिनाई में पड़ना नहीं चाहता था। "बेटी, बहुत बड़े-बड़े पुरुषों का नाम देने की अपेक्षा इसको किसी ऐसे आदमी का नाम दो, जिसके आदर्शों का पालन इससे हो सके। इसका नाम विक्रम रक्खो, तो कैसा हो ? और किसी का भी नाम न रखना हो, तो चेतन रक्खो !"

"हां-हां, यह बात ठीक है।" सरोज को अपनी लंबी तकरार का अंत तुरन्त दिखाई दे गया। "मैं तो इसके दोनों नाम रक्खूंगी—विक्रम और चेतन। असली नाम विक्रम, और बोलने का नाम चेतन। चेतन आसान भी है, और सार्थक भी। क्यों तुम को कैसा लगता है ?"

प्रिय पत्नी और पूज्य मित्र जो निश्चित कर दें, उसके विरोध में मत देने की कल्पना विमल क्या स्वप्न में भी कर सकता था ? उसने कहा—"इसकी राशि भी 'व' पर है।"

तब से बालक का नाम विक्रम उर्फ चेतन पड़ गया।

विक्रम जब कुछ बड़ा हुआ, तो सरोज उसे लेकर बाहर निकलने लगी। कभी-कभी वह उसे हाथों में लिये हुए, विमल को स्टेशन पर छोड़ने आती। बालक विक्रम रेलगाड़ी की आवाज से उसके हाथों में उछलता, और 'ऊं,-ऊं' तथा 'बू-बू' बोलता। कभी-कभी 'बा-बा, बा-बा' भी करता। जैसे दिव्य-

वाणी सुनाई दे रही हो, इस प्रकार उसके मां-बाप ये शब्द सुनकर प्रसन्न होते।

सरोज विमल को छोड़ने के लिये आती दूर से दिखाई देती, तो साधुराम हर बार वहां से खिसक कर प्लेटफार्म के दूसरे सिरे पर जा खड़ा होता। विमल जैसे किसी दूर देश को जा रहा हो, इस प्रकार सरोज हजारवीं बार उससे बहुत-सी बातें कहती। गाड़ी दिखाई देने तक हाथ हिलाती, और विक्रम का हाथ पकड़ कर उससे 'आना' कहलवाती। यह सब साधुराम दूर से पितृ-भाव से देखता। उसका हृदय उन दोनों का सुख देखकर छलक पड़ता, और वह मन-ही-मन प्रति दिन यही आशीर्वाद देता, कि विधाता उनका यह संपूर्ण सुख सदा कायम रक्खे।

जब कभी विमल ट्रेन में मिलता, तो विक्रम के पराक्रमों की बातें करने से न चूकता। वह अपने उलटा गिर कर पेट के बल किस प्रकार सरकने लगा, यह बात विमल हमेशा बड़े विस्मय से सुनाता। वह घुटनों के बल चलने लगा, और साथ-ही-साथ सारे घर में किस प्रकार कूड़ा फैलने लगा, और प्रत्येक वस्तु की सुरक्षा किस प्रकार जाती रही, ये बातें ही बहुत दिनों तक चलती रहीं। जब विक्रम पहले-पहले सहारा पकड़ कर खड़ा होने और चलने लगा, उस बात का तो कहना ही क्या ? "वह ऐसा शैतान है !" बातों की माला का अंत इस वाक्य के साथ होता।

जब से विक्रम जरा-जरा खाने लगा, तब से विमल संध्या को कुछ-न कुछ ले आता—किसी दिन अंगूर, किसी दिन चाकलेट और किसी दिन मीठे चने। और सरोज प्रतिदिन गुस्सा हो कर, उससे लड़ती—"यह तुम अच्छी आदत नहीं डाल रहे हो ! यदि बीमार पड़ गया, तो ?" विमल रोज उसे फिर न लाने का वचन देता, और प्रति दिन अपने वचन को तोड़ता भी। शैतान विक्रम भी पापा के आने के समय उनसे कोई-न-कोई चीज पाने की आशा में बैठा रहता। सरोज ने विक्रम को पापा कहना सिखाया था। उसे यह संबोधन जरा अधिक 'फैन्सी' लगता था। विमल जैसे ही दूर से दिखाई देता, विक्रम "पापा—पापा" कह कर कूदता। इस शब्द का संगीत सुनते-सुनते, विमल की आत्मा सातवें आसमान पर पहुंच जाती।

विमल छुट्टी के दिन कभी-कभी बालक को लेकर साधुराम के घर जाता। बालक विक्रम के लिये सब से अधिक उत्पात मचाने का वही दिन होता। साधुराम के घर की उस दिन कोई भी चीज सुरक्षित न रहती। गमले टूटते, पेड़ टूटते, टेबिल पर भूल-चूक से फूलदानी रह गई होती, तो उसके भी टुकड़े-टुकड़े हो जाते। खाने की खोज में विक्रम सारे घर में घूमता फिरता। साधुराम और विमल बालक से झूठ-मूठ लड़ते, पर इस से विक्रम का मुख जैसे ही जरा दयनीय होता, कि उसे मनाने के नये उपाय खोजने के लिये फिर दोनों प्रयत्नशील हो जाते। जिस दिन विक्रम आता, उस दिन साधुराम के एकाकी घर में त्योहार-सा हो जाता।

बाबा विक्रम के लिये साधुराम के घर में नयी-नयी चीजें आती गईं। शुरूआत अंगूरों से हुई, और बढ़ते-बढ़ते गेंद, मोटरकार, यरोप्लेन, सीटियां, मिठाई इत्यादि कुछ-न-कुछ घर के हर कोने में दिखाई देने लगा। बाबा विक्रम के खेलने के लिये एक छोटी-सी बिल्ली भी साधुराम ने पाल ली। जब-जब वह आता, तब-तब साधुराम घंटों उसे शब्दोच्चार सिखाने में और उसके साथ खेलने में बिता देता।

पहले साधुराम विमल से बाबा को बिगाड़ डालने के लिये लड़ता था, अब विमल साधुराम से इसी बात को लेकर लड़ने लगा।

"काका, हम क्या कहें, तुम तो विक्रम को बिलकुल चौपट कर दोगे।"

साधुराम मन-ही-मन तो अवश्य शरमाता, पर मुख से कहता—"तू अभी स्वयं ही बालक है। तुझे अभी बालकों को खिलाने की क्या खबर?"

विमल कुछ जवाब देने लगा। पर उसकी ओर देखने के बदले, साधुराम ने मोटर में चाबी देनी शुरू कर दी "बाबा, देख, यह चली गाड़ी।"

बात यह थी कि विक्रम बड़ा मोहक बालक था। रोने का उसे बिलकुल ध्यान नहीं था, और वह सब काम ऐसे रोब से करता था, कि जैसे दुनिया में राज्य करने के लिये पैदा हुआ हो। उसकी शक्ति भी अनन्त थी। कोई न होता, तो अकेले ही खेला करता।

इतनी छोटी उम्र में भी उसे चित्र देखना बहुत अच्छा लगता था। उसे

विशेषकर उड़ती हुई, चलती हुई तथा दौड़ती हुई वस्तुओं का खूब शौक था! मोटरकार के पीछे तो वह पागल ही था। साधुराम विमल को चिढ़ाता —"विमल, तेरा बेटा मोटर-ड्राइवर बनेगा।"

अज्ञान में से ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करता हुआ बालक इस उम्र में बड़ा ही आकर्षक होता है। मुंह तथा जबड़ों के भिन्न-भिन्न प्रयोग कर, वह नये ढंग से शब्दोच्चार सीखता है, और अपना नवीन व्याकरण बना कर नवीन शब्दों का प्रयोग करता है। स्त्रीलिंग, पुल्लिङ्ग की गड़बड़ी करते-करते अंत में शब्दों का ठीक-ठीक प्रयोग करने लगता है। क्रोध, शोक, सुख, दुख के विभिन्न भावों के लिये स्वर के आरोह की माप अपनी सहज-बुद्धि से स्वयं निकालने लगता है। अपने आस-पास की दुनिया के भाव और वस्तुओं को वह परखने और उनका वर्गीकरण करने लगता है। सब वस्तुयें बालक को नवीन रूप में दिखाई देती हैं। प्रति दिन वह बढ़ता है, और कुछ नई खोज करता है। वह इन्हीं दिनों स्वातंत्र्य का पाठ सीखता है और अपने आस-पास की दुनिया का सहारा कम लेने लगता है। बालक के वास्तविक व्यक्तित्व का निर्माण इन्हीं दिनों होता है।

दुनिया के सब रसों से सन्यास लिये बैठे साधुराम को इस बालक की दुनिया में बड़ा आनन्द आने लगा। प्रत्येक रविवार को विक्रम को अपने घर छोड़ जाने की आज्ञा उसने विमल को दे दी थी, और विमल को इससे सुविधा भी बहुत हो गई थी। विक्रम उसे बहुत अच्छा लगता था, यह बात जरूर थी; पर रविवार के दिन सरोज के साथ अकेले कुछ घंटे बिताना भी कम अच्छा नहीं लगता था। उन दोनों की बातों का तीन-चौथाई भाग विक्रम से ही संबंधित होता था। कभी-कभी विमल शिकायत करता—"सरोज, तुझे तो विक्रम को छोड़ कर और कोई बात सूझती ही नहीं। तू लड़के को बिलकुल बिगाड़ देगी।" सरोज इस पर स्नेह से विमल के सिर पर हल्की-सी चुटकी ले कर बात बदल देती। पर कुछ क्षण के उपरान्त वह फिर स्वयं ही विक्रम की बात शुरू कर देती।

विमल को आज तक कमाने-खाने और पत्नी तथा पुत्र के साथ मौज

उड़ाने के अतिरिक्त और किसी बात की तनिक भी परवाह न थी। पर इधर कुछ दिनों से उसे अधिक पैसा कमाना चाहिये, पैसे के बिना वह सरोज को एक बड़े बंगले में नहीं रख सकता, पैसे के बिना वह विक्रम के लिये सुन्दर-सुन्दर खिलौने नहीं ला सकता था, पैसे के बिना विक्रम के लिये न तो आया रक्खी जा सकती है, और न घूमने के लिये मोटर ही ली जा सकती है, आदि बातें गम्भीरता से सोचने लगा।

एक दिन विमल जल्दी-जल्दी घर आया। सरोज विक्रम को बिना किसी चीज का सहारा दिये चलाने का प्रयत्न कर रही थी। विमल को जल्दी ही घर लौटते देख कर, उसे कुछ अचंभा हुआ। विमल आ कर, आरामकुरसी पर लेट गया।

"क्यों, आज तबीयत ठीक नहीं है क्या?"

"सरोज, मुझे एक कपड़े की दूकान खोलनी है।"

सरोज सन्न रह गई। "पर हमारे पास इतना पैसा कहां है?"

"पैसा! पैसा! जहां देखो, वहां यही बात! पर इस तरह तो मेरा स्तर कभी ऊंचा नहीं उठ सकता।"

उस दिन संध्या को विमल का मन उच्चाट रहा, और सरोज विक्रम की देख-भाल करने में फंसी रही। रात में सहसा उसके मन में एक विचार उठा। बोली—"विमल, साधुराम काका क्या हमारी कुछ मदद नहीं कर सकते?"

क्षण भर विमल निस्तब्ध रहा। फिर उसने वह विचार हंसी में उड़ा दिया। "खूब कहा तुमने! बेचारा भलामानस हमारे लिये जो कुछ करता है, वही क्या कम है? अब उस बेचारे का पैसा भी ले लें?"

सरोज चुप रही। पर बहुत देर तक उसका मस्तिष्क उस दिशा में काम करने से रुका नहीं।

"साधुराम काका, देखो तो विमल को! अब ज्यादा पैसा कमाने की फिक्र सवार हो गई है!"—एक दिन विक्रम को जब साधुराम छोड़ने आया, तो विमल की अनुपस्थिति का लाभ उठा कर सरोज ने बात छेड़ी।

साधुराम चौंका। "क्या, बेटी ?"

"विमल कपड़े की दूकान खोलना चाहते हैं, और मारवाड़ी के यहां से पैसा ब्याज पर लेने के चक्कर में हैं।"

पहले तो साधुराम को विश्वास नहीं हुआ; पर सब कुछ समझ लेने के बाद, उसने विमल को बुला कर, पूछा—"सरोज जो कुछ कह रही है, क्या वह ठीक है ?"

बिमल को सरोज पर क्रोध आया, और साधुराम के सामने शर्म महसूस हुई। पर उसे बात बतानी ही पड़ी, और परिणाम यह हुआ कि साधुराम ने उसे दूकान खुलवा दी।

विमल स्वतंत्र दूकानदार बन गया !

साधुराम का माया-जाल दिन-दिन बढ़ने लगा। विमल के परिवार के बूढ़े दादा के रूप में उसका स्थान निश्चित हो गया।

विक्रम जरा बड़ा हुआ, तो साधुराम दादा ने घर पर जल्दी आकर उसके साथ संध्या को घूमने जाना आरम्भ कर दिया। विक्रम कभी अंगुली पकड़ कर और कभी अलग दौड़ता हुआ चलता और अपनी शक्ति के अनुसार तरह-तरह के प्रश्न पूछ-पूछ कर साधुराम को थका देता। सब से पहले वह हरेक नई वस्तु का नाम पूछने लगा।

"दादा यह क्या है ?"

"तितली !"

"और यह ?"

"पों-पों !"

"मुझे पों-पों में बिठाओगे ?"

"देख, देख, वह चिड़िया देख ! कैसी चक-चक करती फुदक रही है," उसका ध्यान दूसरी ओर खींचने के लिये, साधुराम ने कहा—"देख, दादा चिड़िया की कहानी कह रहे हैं, सुन !"

"एक थी चिड़िया।"

"एक थी तिड़िया," विक्रम ने दोहराया।

"शाबाश! और एक था चिड़ा!"

"और एक ता तिड़ा।"

बहुत दिनों तक इस कहानी का आरम्भ इस प्रकार होता, पर वह कभी पूरी न हो पाती। रास्ते में विक्रम और कुछ देख लेता, तो उसका मस्तिष्क तुरन्त उस दूसरे पदार्थ की ओर आकर्षित हो जाता।

जैसे-जैसे महीने बीतते गये, वैसे-वैसे विक्रम अधिक विवेकपूर्ण प्रश्न पूछने लगा।

फूल कहां से आये, तारे किसने बनाये, चंदा-मामा नीचे क्यों नहीं आता, हम पक्षियों की तरह क्यों नहीं उड़ सकते, इत्यादि बातें वह बड़ी गम्भीरता से पूछता। और कभी-कभी साधुराम को भी उन प्रश्नों का उत्तर देना कठिन हो जाता।

एक रात को खाट पर उलटा पड़ा-पड़ा, विक्रम सीटी बजा रहा था। उसके मुख पर बड़ी गम्भीरता थी। उसे सुलाने के लिये पास बैठी हुई सरोज ने नीचे झुक कर इसके गाल से अपना गाल लगा दिया।

"क्यों, भैया, नींद नहीं आ रही है क्या?"

"ममी, मुझे साधुराम दादा के पास दाना है।"

"इस समय दादा सो गये होंगे। कल जाना।"

थोड़ी देर बालक विक्रम बिना बोले चुपचाप पड़ा रहा। फिर बोला—"मुझे दादा बहुत अत्था लगता है।"

सरोज को किंचित ईर्ष्या हुई। लगा, जैसे उसके लड़के का प्यार, जिसकी वह अकेली ही अधिकारिणी थी, साधुराम चुराये लिये जा रहा हो। "तुझे ममी अच्छी नहीं लगती?"

"मुदे सब अत्थे लगते हैं, पल दादा थूब अत्था है।"

थोड़ी देर के लिए फिर किसी विचार में पड़ गया। उसके बाद बोला—"ममी, दादा को किसने बनाया?"

"परमेश्वर ने।"

"परमेश्वर कहां है ?"

"उस आकाश में।"

"मुझे दिताई तो नहीं देता !"

सरोज ऊब गई। "तू बड़ा होशियार है। अच्छा, अब सो जा। तू जब खूब होशियार हो जायगा, तो तुझे परमेश्वर दिखाई देगा।"

विक्रम ने खूब होशियारी दिखाने के लिये, थोड़ी देर के लिये आंखें मींच लीं। "ममी, अभी तो दिताई नई देता !"

विक्रम के बुद्धि-सम्पन्न मस्तिष्क के आगे सरोज का ज्ञान जरा हल्का पड़ता था, इसलिये वह दिन-प्रति-दिन साधुराम से अधिक चिपटने लगा। पर जब सरोज गाती, तो विक्रम को अच्छा लगता। ग्रामोफोन के तवे घंटों सुनने में भी नहीं थकता था, और सुने हुए गीतों की टूटी-फूटी कड़ियां याद करके वह गाता भी था।

पर इन्हीं दिनों विक्रम बीमार पड़ गया। सरोज रसोई में गई, तो वह अकेला पड़ा था। बरसात के पानी में दिनभर छप-छप खेलने से उसे सर्दी लग गई, और बुखार आ गया। रात-दिन उसके लिये तीन प्राणी पागल-से दौड़ते रहते। डाक्टर कहता कि निमोनिया हो गया है, थोड़े दिनों में अच्छा हो जायगा। सरोज रात-दिन उसकी सेवा करती रहती। साधुराम घड़ी-घड़ी आ-आ कर, उसकी खबर ले जाता, और यथाशक्ति सहायता करता। विमल यथा-संभव कम-से-कम समय के लिये दूकान जाकर बाकी समय सरोज की मदद करने में व्यतीत करता। एक छोटे-से बालक के जीवन पर तीनों के जीवन का सुख निर्भर था।

एक रात को विक्रम की हालत बहुत बिगड़ गई, और तीनों के प्राण एक पुड़िया में बंध गये। रात के दो बजे तक तीनों बैठे जागते रहे। अंत में सरोज ने हिम्मत कर के धीमे स्वर में कहा—"दादा, तुम अब जाओ। अब बाबा की आंख लग गई है। सुबह आना।"

"नहीं बेटी, मुझे बैठा रहने दे। अभी थोड़ी देर में विक्रम 'दादा, दादा' पुकारेगा।"

"नहीं, दादा! अगर सब-के-सब थक जायेंगे, तो फिर सुबह क्या होगा? इस समय तुम जाओ।" सरोज ने बरबस साधुराम को हाथ पकड़ कर उठाया, और दरवाजे तक छोड़ आयी। "दादा सुबह जल्दी ही आ जाना!"

पर साधुराम घर जाने के बजाय उस अंधेरी रात में चलता ही रहा। दुख के भयंकर भार के नीचे उसकी आत्मा कुचली जा रही थी। जीवन में स्नेह का रस चखा, सब मर गये, वैराग्य हो गया; पर अब फिर वह माया के बंधन में जकड़ गया था। "प्रभु यदि तू वास्तव में है, तो विक्रम को हम से छीन मत लेना।" उसकी आत्मा ने अकुलाकर प्रार्थना की। वर्षों की सूखी आंखों से आंसू की धार बह चली, और रुंधे हुए गले की हिचकियों के बोझ से सारा शरीर हिल उठा।

कृष्णपक्ष की सप्तमी का चन्द्रमा आकाश के एक किनारे से इस वृद्ध को आश्वासन देने के लिए अपनी शीतल किरणें भेज रहा था, पवन पंखा झल रहा था, और पास की वृक्षावलियां सहानुभूति से अपनी डालें हिला रही थीं। पल भर के लिए साधुराम को भी ऐसा लगा, कि जैसे सृष्टि के तत्व भी उसका दुख-भार हल्का करने का प्रयत्न कर रहे हों। यह देखकर उसके चित्त में जरा-जरा शांति का संचार हुआ। थोड़ी देर पहले का मिटा हुआ विश्वास भी फिर लौटने लगा। 'मेरे विक्रम को कुछ नहीं हो सकता!' उसके अन्तर ने उसकी बात का अनुमोदन किया।

दूसरे दिन सुबह जब साधुराम विक्रम की खबर लेने गया, तो उसे ऐसा लगा कि विक्रम के रोग का ज्वार अब उतरने लगा था। साधुराम की आवाज सुन कर, विक्रम ने आंखें खोलीं। "दादा, वह तुम परियों के देश की बात कह रहे थे न? वहां मैं गया था। वहां सब बड़ा सुन्दर था। पर अब मुझे नींद आ रही है। फिर तुम्हें सारी बातें बताऊंगा।"—कह कर, उसने फिर आंखें मींच लीं।

साधुराम की आंखों में उसके शब्द सुन कर, हर्ष के आंसू आ गये। अब उसे दृढ़ विश्वास हो गया था, कि उसका विक्रम उसके पास वापस आ गया है।

"ममी, मेरे साथ किसी को खेलने के लिये ले आओ न! परियों की कहानियों में तो सब परियों के साथ खेलते हैं, पर मेरे साथ कोई नहीं खेलता।"

सरोज के मुख पर अरुणिमा छा गई। नवागन्तुक के आने की बात कहीं कोई परी आ कर तो विक्रम के कान में नहीं कह गई?

विक्रम यह बात साधु दादा से बार-बार छेड़ता। "साधु दादा, मेरे साथ कोई खेलने क्यों नहीं आता? ममी से कहो, कि बाजार से किसी को ले आये। जब सभी चीजें बाजार में मिलती हैं, तो खेलने वाला क्यों नहीं मिलेगा?"

फिर एक बार ममी बीमार पड़ी। विक्रम साधु दादा के यहां रहता था। दो-चार दिन बाद जब वह घर वापस आया, तो ममी एक छोटी-सी बच्ची ले आई थी।

विक्रम आया। सरोज ने उसे पास बुलाया। "देख, तू कह रहा था न, कि 'मेरे साथ किसी को खेलने के लिये ले आओ।' सो मैं इस बेबी को ले आई हूं।"

विक्रम ने अप्रसन्नता की एक दृष्टि बेबी पर डाली। उसे वह रोता हुआ लाल रंग का जानवर-जैसा बच्चा कुछ अच्छा नहीं लगा। "ममी, यह क्या? यह बेबी तो कुछ अच्छी नहीं।"

तब से वह बच्ची के पास या सरोज के पास बहुत न आता। अधिकतर दूर-दूर ही रहता, और फिर ममी उस बच्ची को जो इतना अधिक प्यार करती थी, वह भी उसे अच्छा न लगता। एक दिन उसने साधु दादा से पूछा—"साधु दादा, ममी यह बेबी कहां से ले आई?"

क्या जवाब दे, पल भर के लिये यह साधुराम की समझ में नहीं आया। "हम परियों की बात कर रहे थे न? ममी उन्हीं के पास से बेबी को ले आई है। तुझे अकेले अच्छा नहीं लगता था न?"

थोड़ी देर के लिये बालक विक्रम के माथे पर सिलवटें पड़ गईं। "तब दादा, मैं कहां से आया?"

'वही जवाब दे दूं क्या?' साधुराम ने सोचा। दूसरा कोई उत्तर तुरन्त उसे सूझा ही नहीं।

"तू भी वहीं से आया भैया।"

"दादा, ममी मुझे किसलिये ले आई ?"

"तुझे पता नहीं ? पापा रोज बाहर जाते हैं न, सो ममी को अकेले अच्छा नहीं लगता था। वह रोज अकेली बैठी रोती थी। फिर एक दिन ममी बाग में घूम रही थीं। तब एक परी घूमती-घूमती आई। कैसी छोटी-सी थी वह ! मेरे इस अंगूठे से थोड़ी ही मोटी होगी, बस। वह चुपचाप छिप कर एक फूल के ऊपर बैठ गई। ममी को तो कुछ पता नहीं था। ममी बोली, 'मुझे अकेले अच्छा नहीं लगता। कोई मुझे एक बाबा ला दे, तो कैसा अच्छा हो !' और परी खिलखिला कर हंस पड़ी।"

"ममी तो चौंक पड़ी होगी न, दादा ?" विक्रम को खूब मजा आया।

"अरे बड़ी जोर से !" हंसते-हंसते दादा ने कहा—"इतने में परी बोली, 'सरोज, मुझे खोज तो निकाल !' जैसे विक्रम बाबा छिप कर ममी से कहता है, वैसे ही उसने कहा।" साधुराम ने ये शब्द कहते-कहते आंख के कोने से देखा, विक्रम के आनन्द की सीमा नहीं थी।

"बिलकुल मेरी तरह ही, दादा ?"

"हां, बिलकुल तेरी ही तरह। ममी ने पीछे मुड़ कर देखा, तो कुछ दिखाई ही नहीं दिया। परी तो अंगूठे-जितनी थी। वह फूल में छिप गई, इसलिये कैसे दिखाई देती ? ममी बोली, 'कौन बोल रहा है ?' परी फुदकती-फुदकती आगे आई, और ममी के हाथ पर बैठ गई।"

"दादा, परी कैसी थी ?"

"अरे, बड़ी सुन्दर ! ममी की तो समझ में ही नहीं आया, कि यह है कौन। फिर उसने अपना छोटा-सा रूमाल निकाल कर, ममी के आंसू पोंछे। बोली, "सरोज बहिन, रो मत। मैं तुझे एक सुन्दर बाबा ला दूंगी।"

"फिर दादा, मैं किस तरह आया ?" अपने ठीक लक्ष्य पर आते हुए, विक्रम ने पूछा।

"बताता हूं— एक रात को ममी सो रही थी। गर्मी खूब पड़ रही थी। ममी ने खिड़की खोल रक्खी थी। इतने में परी तुझे लेकर, उड़ती-उड़ती

चुपचाप आई, और ममी के पास रख गई । सुबह उठकर देखा गया, तो विक्रम बाबा चैन से ममी के पास पड़े सो रहे थे ।"

कहानी का अंत विक्रम को कुछ बहुत सुन्दर नहीं लगा। "दादा, पापा को पता नहीं लगा?"

"पता क्यों नहीं लगा? तुरन्त ही ममी ने पापा को उठा कर कहा, 'देखो, परी मुझे कितना सुन्दर बाबा दे गई!' और पापा उठ कर दौड़ता हुआ दादा को बुलाने आया। बोला, 'साधु काका, हमारा बाबा देखने चलो—' बात करते-करते साधु काका को वह रात याद आये विना न रही ।

"ऊंह! पर दादा, उस समय मैं उस बेबी की तरह ही था क्या? बेबी तो कुछ अच्छी नहीं लगती, और इसे खेलना भी नहीं आता । बिल-कुल बंदरी-जैसी है ।"

"अरे, देखना यह कितनी सुन्दर हो जाती है। परियों को थोड़े ही बच्चों को कुछ सिखाना आता है। यह जहां जरा बड़ी हुई, हम इसे खेलना सिखा देंगे।" दादा को लगा, कि यह बात बहुत लम्बी हो गई। "पर आज तू दादा के साथ तो कुछ खेला ही नहीं। जा, उस कोने से बॉल और बैट ले आ। हम बाग में चल कर खेलेंगे ।"

विक्रम दौड़ा । उसकी बड़ी-बड़ी ज़ुल्फों वाले चपल दौड़ते हुए आकार को देख कर साधुराम ने एक संतोष की सांस ली।

बालक विक्रम बड़े ही स्वतंत्र स्वभाव का था। उसे हरेक काम अपने हाथ से करना अच्छा लगता था। वह अपने कपड़े स्वयं पहनता, और घड़ी में चाबी देता। अपने खिलौने अपने हाथ से सजा कर रखता । कोई खेल न आता होता, तो घंटों किसी की मदद के विना ही उसमें लगा रहता।

विक्रम ने इस बीच में पड़ोस के बंगले में रहने के लिये आये हुए एक छोटे बच्चे से परिचय कर लिया। कुछ दिनों में दोनों दिन भर साथ-साथ ही खेलने लगे।

समवयस्क साथी मिल जाने के कारण, विक्रम का ध्यान दादा की ओर से जरा हटने लगा। दादा से कहानी सुनते, तो दोनों साथ-साथ सुनते। दादा के साथ घूमने जाते, तो दोनों जाते। और अक्सर तो खेल में दादा की जरूरत भी नहीं रहती थी। सुमन जरा बड़ा था इसलिये वह आगे आगे चलता, और विक्रम उसके पीछे-पीछे।

सुमन के कहने के अनुसार ही विक्रम सब-कुछ करता। सुमन के साथ वह पेड़ पर चढ़ना और कूदना और दंगा करना सीख गया। सुमन के साथ खेलते-खेलते दादा और ममी को वह घंटों भूला रहने लगा। दोनों बाग में इधर-उधर भटकते फिरते। दोनों साथ खाते, साथ घूमते, लड़ते-झगड़ते और फिर मेल कर लेते। विक्रम से सुमन के बिना एक पल भी नही रहा जाता था।

साधुराम के हृदय पर फिर आघात पहुंचा। बहुत वर्षों के एकान्त में प्राप्त शान्ति विक्रम के सहवास में नष्ट हो गई थी। निर्जनता से कठोर हुए हृदय के परत भी उस बालक की संगति में लुप्त हो गये थे। पर अब वह बालक उसके जीवन में से निकला जा रहा था। कदाचित...कदाचित...एक दिन यह ऐसे जाता रहेगा, कि इसके यौवनकाल में साधुराम दादा कभी-कभी किसी चर्चा का विषय भले ही हो जाया करें, पर किसी दूसरी तरह उनकी याद उसे न आयेगी।

एक ओर से दिया हुआ स्नेह का अधिकार बहुत दिनों तक नहीं टिकता। जहां उम्र का बहुत अधिक अंतर हो वहां भी स्नेह कभी एक ही प्रकार की स्थिति में नहीं रह सकता। बड़ों का स्नेह छोटों की अपेक्षा अधिक तीव्र होता है। छोटे नवीन स्नेहियों के साथ पड़ कर पुराने स्नेहियों को सहज में ही भुला देते हैं। बड़े जीवन भर जिसकी रक्षा करते हैं, जब वह खो जाता है, तो स्नेह के आंसू अनिवार्य हो जाते हैं।

साधुराम दादा ने एक पल में देख लिया, कि विक्रम भी अब उसका नहीं रहेगा। दादा, ममी, पापा, सब को यह प्यार तो करेगा, पर इस प्यार की महत्ता दिन-दिन उसके जीवन में कम होती जायेगी। प्रकृति ने उसके

लिये यही क्रम निर्धारित किया था। आज सुमन है, कल उसके मस्तिष्क का विकास होने पर कोई स्कूल का दूसरा लड़का उसके मन पर अधिकार कर लेगा। बड़े होने तक ऐसे अनेक परिवर्तन होंगे। एक दिन जब तक कोई लड़की या स्त्री उसके समग्र जीवन पर अधिकार न कर लेगी, तब तक यही क्रम चलता रहेगा। फिर वह पत्नी और बच्चों का हो जायगा। वह चाहे जिसका हो जाय, पर साधुराम दादा के जीवन में जिस प्रकार था, उसी प्रकार वापस नहीं आयेगा। उसके जीवन से निकलने की शुरूआत विक्रम की ओर से हो गई थी। पूर्णतया निकलने में महीनों लगेंगे, कदाचित वर्षों भी लग जायें पर निकलना तो निश्चित है ही।

साधुराम को फिर दुनिया के प्रति वैराग्य हो रहा था। विक्रम के जाने की प्रतीक्षा करते-करते, एक दिन अन्त में उसे अंधकारमय बुढ़ापे में डूब जाना होगा। सो इसकी अपेक्षा अभी चले जा कर बालक के मन पर साधु दादा की एक अविस्मरणीय छाप छोड़ देना क्या ठीक नहीं ? और बालक ने उसे भुला नहीं दिया, बल्कि बालक के मन में वह जीवित है, इस विचार से दूर रहने पर भी क्या उसके मन को शान्ति नहीं मिलेगी ?

साधु दादा ने रात-दिन इस विषय पर विचार किया, और अन्त में निर्णय पर पहुंच गया। जाने की सारी तैयारियां कर डालीं। विमल और सरोज से भी संध्या को मिल आया। रात में विक्रम को पास बुलाया।

"विक्रम, दादा कल गांव जा रहा है। तू दादा को याद करेगा या नहीं ?"

विक्रम का पहले तो कहने का मन हुआ, कि 'दादा, मुझे भी ले चलो', पर फिर उसे याद आ गया, कि कल सुमन के साथ उसे जुहू जाना था। वह साधुराम से चिपट गया। "दादा, कब आओगे ?"

साधुराम ने विक्रम को छाती से लगा लिया। उसका गला रुंध गया, और बहुत देर तक उससे बोला नहीं गया। अन्त में उसने गला साफ करके, उत्तर दिया—"थोड़े दिनों में। तब तक तू खूब होशियार हो जाना, और ममी को परेशान मत करना।"

विक्रम ने गम्भीरता से सिर हिला कर, 'हां' किया।

दादा ने तब एक घोड़ा, एक बाजा, एक यरोप्लेन, एक बड़ी मोटर और ऐसे ही और दूसरे खिलौनों का ढेर उसके आगे लगा दिया। ऐसा लग रहा था, कि जैसे दादा जन्म भर की भेंट अभी दिये दे रहा है।

विक्रम का बाल-हृदय पिघल गया। 'बहादुर लड़के रोते नहीं', यह सूत्र याद आ जाने के कारण उसने आंखों में आये हुए आंसू बरबस आंखों में ही रोक लिये। घर जाने का समय हो गया था, पर उसका जाने को मन नहीं हो रहा था। "दादा, मुझे यहीं सो जाने दो न!"

"न भाई, आज नहीं। ममी बाट देखती होगी।" हृदय दृढ़ रख कर, साधुराम ने कहा, और फिर एक बार उसे गले लगा कर, आदमी के साथ घर भेज दिया। उसके चले जाने पर, उसे लगा कि जैसे उसके जीवन से एक ज्योति चली गई हो। एक आराम-कुरसी पर लेट कर साधुराम जी खोल कर रोया।

दूसरे दिन सुबह उषा की लाली में वह जीवन भर की यात्रा करने का निश्चय कर घर से निकल पड़ा।

उसका उद्देश्य सिद्ध हो गया। विक्रम के जीवन से उसकी स्मृति की सुवास कभी भी नहीं हटी।

अभागिन

बहुत से पैदा होते हैं इस संसार में जीने के लिये, और बहुत से जिन्दा रहते हैं केवल जिन्दगी के दिन काट कर मरने के लिए।

मानव जीवन का विधाता कौन है ? विधाता के एक क्रूर व्यंग पर सारा जीवन धूल में मिल जाता है, विश्व के इस नियम में कौन सा रहस्य छिपा है।

यह विधाता की ऐसी ही क्रूरता की एक छोटी-सी सच्ची कहानी है। इस क्रूरता का लक्ष्य बने हुए व्यक्ति में न तो अपने दुर्भाग्य के विरुद्ध रोने की शक्ति थी, और न किसी से कुछ पूछने की। इसने तो जो कुछ हुआ, वही सहा—मूक भाव से, बिना कोई शिकवा शिकायत किये हुए। पर दुनिया में मानवता के नियम तथा न्याय हैं ही इसकी प्रत्यक्ष साक्षी के रूप में। आज भी यह जीवन हमारे सामने है। जेल के सींकचों से इसके रुदन अथवा फरियाद को सुनने वाला कोई नहीं। किसी के कानों तक भी इसकी आवाज नहीं पहुंच सकती। जेल को छोड़ कर दूसरी दुनिया कैसी होती है, इसका विचार भी यह लगभग भूलने ही लगे हैं। पेट भरना और रात हो जाने पर सो जाये या पशुओं की तरह तीन बातें यह भी करते रहते हैं।

इस अभागिनी की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है। संक्षिप्त इसलिए है कि रूढ़ि की दुष्टता तथा मानव के अन्यायी न्याय के अतिरिक्त और कोई घटनाएं इस जीवन में घटी ही नहीं।

दक्षिण में सितारा नाम का एक प्रख्यात नगर है। इस नगर का नाम महाराष्ट्र नरकेसरी शिवाजी के साथ जुड़ा हुआ है। इसीलिए इस नगर की

इतनी प्रख्याति है।

इस नगर में खंडोबा का एक मंदिर है। मन्दिर में हजारों यात्री आते हैं। ब्राह्मण वेद पढ़ते हैं, पूजा करते हैं और यात्रियों की भेंट स्वीकार करते हैं और ऐसा लगता है कि देवता को मनुष्य-दासों की भेंट भी अप्रिय नहीं।

प्राचीन काल से इस देवता पर लोगों की बड़ी श्रद्धा थी। ये निर्धन को धन दे देते थे, रोगी को अच्छा कर देते थे, और बांझ स्त्रियों को संतान दे देते थे, तथा बदले में देवदासियों के रूप में अपना कर वसूल कर लेते थे। घर में जब बच्चे न जीते अथवा बहुत अधिक हो जाते, तो निर्धन मां-बाप छोटी-सी बालिका को देवता के अर्पण कर गर्व का अनुभव करते थे। बदले में इस जन्म की इच्छायें पूर्ण हो जायेंगी और दूसरे जन्म से मुक्ति मिल जायगी, यह उनका दृढ़ विश्वास था।

खंडोबा के मन्दिर के बाहर इन देवदासियों के रहने के लिए एक कतार में कोठरियां बनी हुई थीं। ये देवदासी देवता से विवाह करतीं, मन्दिर का काम करतीं, मन्दिर की जमीन में खेती करतीं, मन्दिर के ढोर चरातीं और दिन में भीख भी मांगतीं और रात में नगर के किसी सेठ की रखैल बन कर थोड़ा बहुत पैसा भी मिल जाता। इससे मन्दिर को मुफ्त गुलाम मिल जाते और नगर की दुर्वासनाओं के कूड़े को फेंकने के लिए मुफ्त का कूड़ाघर भी मिल जाता था। देवता की प्रतिष्ठा बढ़ती और नगर बिल्कुल निर्मल और स्वच्छ दिखाई देता। नगर की जनता का इससे अधिक लाभ और क्या हो सकता था?

तानी को भी जब वह छः वर्ष की सुकुमार बालिका थी, तभी उसके मां-बाप ने उसे देवता को समर्पण कर दिया था। यह जब से आई तब से मन्दिर में रहने लगी। एक बूढ़ी देवदासी ने इसे अपने अधिकार में ले लिया। उसे पाल-पोस कर बड़ा किया, देवता के साथ उसका विवाह किया, मंदिर का कामकाज सिखाया और जैसे ही स्त्रीत्व का आरम्भ हुआ कि वैसे ही उस बूढ़ी देवदासी ने उसके लिए एक सेठ ला दिया। जहां भारतवर्ष में आज भी हजारों बालिकायें ग्यारह-बारह वर्ष की उम्र में नियमानुसार लग्न-विधि

से किसी सेठ को प्राप्त कर लेती हैं, वहां देवता से विवाहित इस देवदासी ने इसी उम्र में देवता की सदेह अनुपस्थिति में यदि दूसरे सेठ को कर लिया तो इसमें क्या नई बात थी।

तानी के जीवन की कहानी में जरा भी रस नहीं। कभी-कभी वह अपनी बूढ़ी मां के साथ बम्बई जाती। बम्बई में जा कर ये स्त्रियां अधिकतर मांगने का ही काम करतीं। तानी को इसी बीच एक लड़की भी हुई थी। तानी कभी-कभी अपने सेठ के साथ भी बम्बई जाती। अपने गांव वापिस आने पर मन्दिर के पीछे वाली एक छोटी सी कोठरी में अपनी बालिका के साथ रहती। मन्दिर में तथा खेतों में काम करती और देवता की पूजा करती। इन देवदासियों को देवता की पूजा प्रतिदिन करनी पड़ती है।

तानी के जीवन के बीस या बाईस वर्ष इसी प्रकार बीत गये होंगे। तानी को अपनी उम्र का ठीक-ठीक पता नहीं पर अब भी वह एक युवती ही दिखाई देती है, तो आज से दस-ग्यारह वर्ष पहले क्या वह इससे अधिक सुन्दर और जवान नहीं रही होगी ?

फिर तानी के जीवन का एक काला दिन आया और इसने उसके सम्पूर्ण जीवन को अपनी कालिमा से रंग दिया। पड़ोसन देवदासी की छोटी सी पांच-छः वर्ष की लड़की एक दिन बहुत देर तक किसी को दिखाई नहीं दी। इस लड़की की उम्र लगभग तानी की लड़की की उम्र जितनी ही थी। अन्त में गांव के कुंए में लड़की का शव और तानी की कोठरी में से चूल्हे के नीचे से उस लड़की के हाथ का सोने का कड़ा निकला। पुलिस तानी को पकड़ कर ले गई। बहुत दिनों तक केस चला। तानी को फांसी की सजा हुई और गर्भवती होने के कारण घट कर बीस वर्ष की जेल हो गई। आज यह स्त्री दस-ग्यारह वर्ष से जेल की रोटियां और सड़ा हुआ शाक खाकर अपने दिन बिता रही है। एक टीन के टंबलर और कटोरे जितनी ही इसकी पूंजी है, और वह भी इसकी नहीं बल्कि सरकार के बाप-दादा की है। इसका बच्चा बाहर किसी को दे दिया गया है। अच्छे चाल-चलन के परिणामस्वरूप अब उसे जेल में जमादारिनी नियुक्त कर दिया गया है। यह है उसकी कहानी।

पर आज तक तानी को यह पता नहीं कि मरने वाली लड़की के हाथ का कड़ा उसके घर में से कैसे निकला। इसे पड़ोसन के साथ अदावत की बात भी याद नहीं आती और यह कृत्य किसने किया होगा इस विषय में भी वह कुछ नहीं कह सकती।

पर एक प्रत्यक्ष सबूत—सोने का कड़ा—उसके घर में से निकला इसलिए पुलिस ने इससे आगे छान-बीन करने का कष्ट नहीं किया हो, यह भी नहीं लगता।

अभी दस वर्ष उसे जेलखाने में बिताने हैं, पर कदाचित अपने अच्छे चाल-चलन के परिणामस्वरूप अगले तीन वर्षों में छूट जाना भी संभव है। पर उस समय 'खूनी कैदखाने में हो आई हुई' स्त्री की छाप उस पर होगी। गांव अथवा इसके मंदिर में कोई भी इसे नहीं अपनायेगा। इसे घर में नौकर रखते हुए भी लोग डरेंगे और पंद्रह वर्ष में दुनिया इतनी बदल गई होगी कि जिस दुनिया में वह पैदा हुई थी, यही वह दुनिया है, यह पहिचानने में भी उसे कठिनाई होगी। और उस समय इस घबराई हुई स्त्री को क्या यह नहीं लगेगा कि जेलखाने का जीवन इससे अच्छा था ?

भाग्य ने और इस दुनिया ने इस स्त्री के साथ विश्वासघात किया है। यह पैदा हुई केवल दुखी होकर मरने के लिये। यह जीवित भी रही पर सारा जीवन व्यर्थ ही निरुद्देश्य बिताने के लिये। दैव, मानव, रूढ़ि और कानून इन सब ने इस स्त्री को कुचलने में अपना पूरा-पूरा सहयोग दिया।

इस दुनिया में पग-पग पर ऐसी असफलताओं के इतिहास लिखे हुए हैं। ऐसा यह विश्व किसने बनाया ?

——९

अधःपतन

ता. ७ मई, १६२६

अंत में आज मैं नाटक-कंपनी में भरती हो गई और अब वनमाला से मेरा नाम वसंत सेना हो गया। संसार बदल गया, नाम बदल गया और लगा जैसे शरीर भी बदल गया हो। कहां तो सुसंस्कृत माता-पिता के बीच बिताया हुआ बचपन, कहां गिरीश के साथ विवाह करने का विचार और कहां मां की मृत्यु के उपरांत उसी पिता का बदल जाना। यदि नई मां के चरण घर में न आते तो मुझे यह जीवन क्यों देखना पड़ता?

पर समाज से परित्यक्ता विधवा होने की अपेक्षा नटी होना क्या बुरा है? इस जीवन में मेरे जेठ जैसे नराधम नहीं बसते और दीनता का लाभ उठाने वाले और विधवा का न्याय करनेवाले धूर्त्त और ढोंगी नहीं दिखाई देते। कुछ नहीं तो चैन से पेट तो भरेगा।

पर यह जीवन अच्छा लगेगा? प्रभु जाने।

ता. ८ मई, १६२६

बड़ा नया नया लगता है। मन अकुलाता है और कुछ समझ में नहीं आता। नाटक देखिये तो नाटक में अत्यन्त सुन्दर लगने वाले आदमी ऐसे! हाय हाय! मुझसे ऐसी जिन्दगी में किस प्रकार रहा जायगा! एक दुख से निकल कर मैं कहीं दूसरे दुख में तो नहीं फंस गई? वापिस भाग जाऊं क्या? पर फिर—फिर मैं खाऊं क्या और मेरे बालकों का पालन-पोषण

कैसे हो ? माता ! हिम्मत देना।

ता. १७ मई, १९२६

यहां आये दस दिन हो गये, पर जैसे दस जन्म बीत गये हों, ऐसा लगता है। कुछ ऐसे प्राण से घुट रहे हैं ! सब नर मेरी ओर इस प्रकार देखते हैं जैसे मैं कोई रास्ते की भिखारिन होऊं। मुझे जो कुछ सिखाया जाता है उसकी अपेक्षा मैं घबरा अधिक जाती हूं। मेरी मजाक उड़ाने का तो जैसे सबको सीधा अधिकार मिला हुआ है ! पूरी कंपनी में हम और तरुबाला दो स्त्रियां हैं और बाकी सब पुरुष हैं। मुझे तरुबाला के साथ ठहरने का स्थान तो दिया गया है, पर वह मेरी ओर दया के बहाने भी नहीं देखती। मैं तो जैसे कोई जानवर हूं और वह कोई बड़ी महारानी है। उससे मेरी आवाज और रूप तो अच्छे हैं। किसी दिन इसे भी मैं दिखा दूंगी।

पर मुझसे यहां रहा कैसे जायगा ? मैं जैसे कोई बाजार में बैठनेवाली होऊं, इस प्रकार छोटे से लगाकर बड़े तक सब को मुझसे हंसी-मजाक करने का हक ! और उस पर भी उन मुख्य नटों से तो प्रभु, तोबा ! वे जो कहें अथवा करें उसके विरुद्ध मैं एक अक्षर भी नहीं बोल सकती।

मालिक से प्रार्थना करें तो वह इनके विरुद्ध प्रार्थना पर कान नहीं देता; और कहता है कि 'ऐसी बेकार की प्रार्थनाओं पर यदि मैं ध्यान दूं तो कल ही मुझे अपनी नाटक-कंपनी बंद करनी पड़ जाये, तुमसे रहा जाये तो रहो नहीं तो रास्ता खुला है।' मेरे मन में तो ऐसा आया कि उसी समय इसके सिर में पत्थर मारकर भाग जाऊं। पर कहां जाऊं ? हे परमेश्वर ! अब तो मौत दे दे। तू दयालु होगा, तो तूने दया की, यही कहलायेगा।

ता. ३० मई, १९२६

अभी मैं किसी खेल में नहीं आई, पर दिन-प्रति-दिन मुझमें साहस आता जा रहा है। कंपनी के मालिक ने सब से कुछ कहा तो अवश्य ही होगा इस-लिए अब कोई मेरे साथ बहुत छेड़-छाड़ नहीं करता। बाकी जब मैं इधर से उधर जाती हूं तो आंख से इशारे करने और गीत की पंक्तियां गुनगुनाने का

सब का मन हो आता है। पर अब तो मैं इससे अभ्यस्त होती जा रही हूं। ये अपने आप करते रहते हैं तो इसमें मेरा क्या जाता है ?

तरुवाला अब कभी-कभी मेरी ओर देख लेने की कृपा करने लगी है। वह रात में जितनी सुन्दर दिखाई देती है उतनी दिन में दिखाई नहीं देती। कमरे में आने के बाद दिन भर इसे शीशे में देखने और टीप-टाप करने के सिवाय और कुछ धंधा ही नहीं। मैं इस जैसे कपड़े पहनूं और इससे दसवें हिस्से की टीप-टाप भी करूं तो भी इससे हजार गुनी अधिक अच्छी दिखाई दूं। पर कुछ भी हो, तब भी यह कौन है और मैं कौन हूं ? मुझ पर इतनी विपत्ति न पड़ी होती तो मैं यहां होती ही क्यों ?

ता. २० जुलाई, १९२६

दो महीने हो गये. मुझे नये खेल में आना है, उसकी तैयारियां चल रही हैं। मुझे संगीत सिखाने के लिये एक उस्ताद आता है, और दिन भर मुझे अपना पार्ट रट-रट कर याद करना पड़ता है। प्रधान नट के पास मुझे अभिनय सीखने जाना पड़ता है। उसके पास जाते हुए सचमुच मुझे भय लगता है। बाकी मेरे भाग्य से उस्ताद तो मुझे बूढ़ा मिला है। जब से इसके पास जाने लगी हूं तब से तरुवाला कभी-कभी अपनी सुरमेदार आंखों में तथा रंगे हुए ओठों पर हंसी लाकर कहती है, 'चल, अब तू जरा सीधी हो तो जायगी'। मुझे धिक्कारती हुई किसी दिन भी इसने ऐसा भाव नहीं दरशाया।

पर जल गया, मुझे यह सिखाये, ऐसे अभिनय से तो मुझे शरम आती है। अपने कमरे में मैं अकेली होऊं तब तो शीशे के सामने देख कर जो करती हूं वह सब कुछ हो जाता है। पर शंकर के सामने मुझ से कुछ भी नहीं होता। शरीर को चाहे जिस प्रकार मोड़ने में और अभिनय करने में तो अंतर का उल्लास चाहिये, मैं दुखियारी वह कहां से लाऊं ?

ता. ३१ जुलाई, १९२६

आज तरुबाला रोती-रोती कमरे में आई और कपड़े जैसे-तैसे फेंक कर

खाट पर पड़ गई। मैं उसे सांत्वना देने जाऊंगी तो यह उसे अच्छा लगेगा या नहीं, मैं यह सोचने लगी; पर फिर पानी का गिलास लेकर मैं उसके पास गई और सिर पर हाथ रखकर, बिना कुछ बोले वह गिलास उसके सामने रख दिया। कोई दूसरा समय होता तो वह अवश्य ही मेरा हाथ हटा देती पर आज तो वह थोड़ी देर आंखें खोलकर मेरे सामने देखती रही, और बिना कुछ बोले हुए बैठकर पानी पी लिया। मैंने उसकी कमर पर हाथ फेरा; थोड़ी देर में जैसे कोई विचार मस्तिष्क में टकराया हो इस प्रकार आंखें निकाल कर उसने मेरी ओर देखा और एकदम पूछा, 'तू यहां क्यों आई ?'

उसका प्रश्न पहले तो मेरी कुछ समझ में आया नहीं, पर फिर थोड़ी देर में मैंने जवाब दिया, 'पेट भरने के लिये।' जैसे मेरा जवाब उसे अच्छा न लगा हो इस प्रकार यह सिर और मुंह ढक कर फिर सो गई। दूसरा कुछ करने को था नहीं इसलिये मैं भी अपनी खाट पर जा पड़ी।

यह तरुबाला रंगवाली बहुत है। मुझे ऐसा लगा कि आज तो यह अवश्य ही मेरे साथ अच्छी तरह बात करेगी। यहां मुझे इतना एकान्त लगता है कि केवल कृपा-रूप में ही यदि वह मुझसे बात कर लिया करे तो बहुत है।

हे परमेश्वर ! मैं कौन हूं और कहां आ गई ? मेरी यह दशा करनी थी तो किसी छोटे कुल में ही मुझे जन्म क्यों नहीं दिया !

ता. ५ अगस्त, १६२६

हाय, हाय, मां री ! मुझसे यहां कैसे रहा जायगा ? मेरी पार्ट शंकर की पत्नी का है और आज उसने मुझे सिखाना आरंभ किया—तब...हाय! हाय ! शरम के मारे मुझसे तो ऊपर भी नहीं देखा जाता। मुझे एक जन्म में कितने जन्म पार करने होंगे ?

हे परमेश्वर ! मेरी अधोगति करने के लिये ही तूने मुझे जन्म दिया है। कितनी सीढ़ियां नीचे तूने मुझे लुढ़का दिया ! अब क्या मुझे बिल्कुल

खाई में ही फेंक देना है ?

ता. ६ अगस्त, १६२६

मैंने कम्पनी के मालिक से कहा कि 'मुझसे ऐसा पार्ट तो नहीं होता, मुझे कोई दूसरा पार्ट दो तो मैं कर लूंगी ।' पर उसके जवाब से तो मेरा रक्त-संचालन ही रुक गया। 'हम स्त्री ऐक्टरों को कोई सहेली या नटी बनाने के लिये नहीं रखते बल्कि, 'दूल्हा-वहू' के दृश्यों के लिये ही रखते हैं, हरेक नाटक में तुम्हें यही पार्ट तो करना पड़ेगा; न किया जा सके तो अपना 'एग्रीमेंट' पूरा होने पर चली जाना । अभी जाना हो तो तुम्हारे पीछे जितना पैसा खर्च हुआ है उसे लौटा दो और रास्ता खुला है ।' तरुबाला कहती है कि यह उत्तर तो उत्तम से उत्तम है । नहीं तो ...पर वाक्य पूरा किये बिना वह हंसती-हंसती मिजाज में चली गई ।

थोड़ी देर में वह वापस आई, मैं खाट पर पड़ी-पड़ी रो रही थी । वह मेरे पैरों के पास आकर बैठ गई। थोड़ी देर तक तो वह कुछ बोली नहीं; पर फिर उसने पूछा, "तू इतनी बड़ी सती थी तो यहां नाटक कम्पनी में नौकरी करने क्यों आई ?" मेरा अन्तर भर गया था। बहुत दिनों से किसी ने आदमी समझकर मुझसे बात नहीं की थी । अपने दुख का बोझ हलका करने के लिये, उसकी आकुलता को कम करने के लिये मैं बोल पड़ी और संक्षेप में मैंने अपनी सारी कहानी कह सुनाई ।

बहुत दिनों बाद तरुबाला से अपने जीवन के विषय में बात करने के कारण, या कौन जाने क्यों, पर अब भी मेरे मन में उसकी वह बात घुल रही है । अरे रे ! किस मां-बाप की मैं संतान और इस समय पापी पेट भरने के लिये मुझे क्या-क्या करना पड़ रहा है ? यदि मां न मर गई होती और गिरीश के साथ मेरा विवाह हो जाता तो मेरी यह दशा कभी होती ? अरे ! मेरे भाग्य में मेरा गरीब पति भी नहीं लिखा था, वह भी मुझे निराधार छोड़कर चला गया ।

पर मेरी यह दशा होने में वास्तव में मेरा क्या दोष है ? मेरे नराधम

जेठ ने मेरा सत्यानाश पीट दिया और मुझ निर्दोष को ससुराल और पीहर में दोनों जगह कोई न रक्खे, ऐसा कर दिया।

अहमदाबाद का अनाथाश्रम यदि न होता तो मेरे लिये जीने का यह ठिकाना भी कहां था!

मैंने अपनी कहानी कह सुनाई, फिर तरुबाला अधिक समय तक और नहीं बैठ सकी, वह वहां से उठकर चली गई। अपने दुःख से मैं इस समय इतनी ग्रस्त थी कि वह चली गई, मुझे इसका भी पता नहीं लगा। पर अवश्य यह शंकर के पास जाकर मेरी बात सुना-सुनाकर हंसती होगी।

हे परमेश्वर! निराधारों के आधार! तू अवश्य मुझे इसमें से बचाना। मैंने जीवन में जान बूझकर कोई पाप कभी नहीं किया और अब करने की इच्छा भी नहीं। तू कृपा का सागर है, मुझे केवल दो वक्त अन्न और शरीर ढांपने के लिये वस्त्र जितना है, दे देगा तो मुझे और कुछ इस जीवन में नहीं चाहिये।

दीनदयाल। तेरे सहारे मेरा जीवन है, दुख में मेरा हाथ मत छोड़ना करुणाधार!

ता. ७ अगस्त १६२६

कल की प्रार्थना के कारण आज मुझमें अधिक बल था। शंकर के पास जाने के उपरांत जो कुछ उसने सिखाया सब मैंने दृढ़ मन से किया। और उसने भी आज सिखाने के उपरांत अपनी ओर से कुछ भी नहीं किया।

ता. ८ अगस्त १६२६

मैं जो यह सब कुछ कर रही हूं, तो क्या ठीक कर रही हूं? इस नाटक की नौकरी और ऐसे हलके वर्ग के लोगों के संपर्क में आज क्या मुझे अच्छा लगता है! कभी-कभी तो मुझे स्वयं अपने पर रोमाञ्च हो आता है।

पर मैं क्या करूं? पतिता समझकर मुझे रोटी बनानेवाली या बर्तन मांजनेवाली की नौकरी देने तक की तो किसी ने कृपा की नहीं, तो फिर

अध्यापिका बनाकर गांव के बच्चे तो मुझे क्यों सौंपने लगे ? जहां मुझ पर कृपा दिखाई वहां भूखे भेड़िये की तरह मुझे हड़प कर जाने की ही नीयत थी। देव, दानव अथवा मानव—कोई भी मेरी रक्षा करने के लिये बाहर नहीं आया।

बम्बई आई तब भी किसी अच्छी नौकरी खोज निकालने की आशा ने मुझे इधर-उधर दौड़ाया। बम्बई के सिवाय मुझे शरण देने वाला और कौन था ? पर यहां आकर क्या देखा ? ऐसे विशाल समुद्र जैसे शहर में भी मेरे लिये तो भिखारियों का साथ ही और लोगों के दृष्टिपात ही सहने के लिए थे। यह तो प्रभु की कृपा समझो कि मैं उस शारदा की भांति कहीं भी फंसी नहीं, नहीं तो ऐसे नरक में से जीवन भर भी बाहर निकलना संभव न होता। इस बम्बई में मैंने जिस प्रकार के दुख सहे हैं परमात्मा उस प्रकार के दुख मेरे दुश्मन को भी न दिखावे! वक्त सिर यदि यह नाटक की नौकरी न मिलती तो फिर समुद्र में ही डूबना पड़ता।

पर तब मेरे दिल में यह फिक्र किस बात की है ? मुझे जरा कोई छू ले तो मेरे प्राणों पर बन आती है। मैंने जान-बूझ कर कभी भी पर-पुरुष का स्पर्श नहीं किया। मेरे जेठ ने भी मेरी असहायता का लाभ उठाकर मुझ पर अत्याचार किये पर मेरा मन कभी-भी जानेबूझे पाप में नहीं फंसा। पर अब तो ये सब मेरे सामने जीवन भर के लिये आ खड़े हुए हैं।

मुझे इस प्रकार रोना क्यों आता है ? रोने से क्या यह दुख मिट जायेगा ? वनमाला! तू अब जरा बहादुर होना सीख। इस प्रकार सुबकियां लेने से तेरा दुख नहीं मिट सकता।

ता. १७ अगस्त १९२६

घर छोड़ने के उपरान्त के थोड़े समय के जीवन की जब आज के जीवन से तुलना करती हूं तो सोचती हूं कि अब मैं अधिक सुख चैन से हूं, इसलिये अब मेरी तबीयत भी जैसी पहले थी वैसी होती जा रही है। मैं विधवा हूं, पर जब ऐक्टिंग सीखने के लिये सौभाग्यवती का-सा शृङ्गार कर

कल शीशे के सामने खड़ी हुई तो मुझे ऐसा लगा कि जैसे मैं बिल्कुल ही बदल गई हूं। मैं जब स्टेज पर आऊंगी तो अवश्य ही तरुबाला से अधिक सुन्दर दिखाई दूंगी। तरुबाला ने जब मुझे कल देखा, तो तब उसकी आंखों में कितनी ईर्ष्या थी। और जब मैं जा रही थी तो दूसरे ऐक्टर भी मुझे देखते ही रह गये।

पर मुझे एक उस शंकरिया से डर लगता है। जब मैं उसके पास गई तो उसने मुझ पर एक ऐसी दृष्टि डाली कि मेरा समस्त उत्साह सूख गया। इसने एक बार मेरे कान में कहा, 'झूठे अभिनय के बदले यदि हमने सच्चा पार्ट अदा किया होता तो कैसा ?' मेरी आंखों का भय उसने देख लिया होगा इसलिये यह मुझसे इससे अधिक और कुछ न कह कर वहां से चला गया।

कोठरी में जब तरुबाला आई तो उसका मिजाज ठिकाने नहीं था। मैंने उससे 'सिर में दर्द है ?' यह पूछा, पर वह तो दो चार गुस्से की बातें कह कर बिस्तर में मुंह ढांप कर सो गई। मैं भी फिर इससे और अधिक नहीं बोली।

पता नहीं क्यों मुझे सुन्दर दीखना अच्छा लगता है, और सुन्दर कपड़े पहने से एक प्रकार का आनन्द आता है। अपने पूरे जीवन में मैंने शायद ही मन-पसंद कपड़े अपनी इच्छानुसार पहने हों। और फिर तो जीवन ही बरबाद हो गया। पर दुनिया की सब स्त्रियां चटक-मटक से घूमें तो मैं किसलिये न घूमूं ? क्या मैंने अपने पति को मार डाला था ?

ता. ५ सितम्बर १६२६

अहमदाबाद के अनाथाश्रम से खबर आई है कि मेरा लड़का मर गया। मेरे गत जीवन की, जीवन के साथ जुड़ी हुई, केवल एक स्मृति थी वह भी जाती रही और अब मैं सदैव के लिये मुक्त हो गई। चलो, अच्छा हुआ। मुझे उसका शोक या दुःख कुछ नहीं। उसके आते ही मैं घर-बार विहीन दर-दर की भटकने वाली और दुखी हो गई थी। मैंने कभी भी इसे इस जीवन में आने के लिये आमंत्रित नहीं किया था, पर जैसे मैं ही जिम्मे-

दार होऊं, इस प्रकार मुझे घर या दुनिया किसी ने भी अपने पास नहीं रक्खा। मैं जैसे अस्पर्श्या होऊं, इस प्रकार किसी ने मुझे घर में नौकरी देने योग्य भी नहीं समझा। जिसने किसी दिन भी घर से बाहर पैर नहीं रखा था उसे भिखारियों तथा बाबा सन्यासियों के बीच अपने रात और दिन बिताने पड़े और नौकरी की खोज में लोगों के दरवाजे खटखटाने पड़े। इस नाटक की नौकरी यदि समय पर न मिली होती तो केवल आत्म-हत्या ही एक उपाय था।

पर मुझे इस प्रकार रोना क्यों आ रहा है? यह बालक यदि बच गया होता तो? इस अकेली दुनिया में किसी दिन इसे लेकर किसी कोने मे जाकर रहती तो शांति मिलती या नहीं? यह केवल मुझे··मुझे ही चाहता, और बुढ़ापे में इसे देख कर मेरी आंखों को ठंडक पहुंचती।

मैं भी कैसी पगली हूं? ऐसे बच्चे भी कहीं पालन-पोषण करते होंगे? और आंखों को ठंडक देते होंगे? किसलिये मुझे ऐसा पाप का फल चाहिये? इसके विषय में फिर कभी विचार नहीं करूंगी।

ता. १० सितंबर १९२६

शंकर तरुवाला के साथ जब समय मिलता है तो बैठा-बैठा बातें ही करता रहता है। दोनों एक दूसरे के साथ मजाक और शैतानी करते रहते हैं, और जब मैं उधर से निकलती होती हूं तो मेरी ओर देख कर कुछ आंखों के इशारे कर जैसे मुझे बना रहे हों, इस प्रकार दोनों हंस पड़ते हैं। मेरी चले तो दोनों को एक-एक तमाचा मार बैठूं। पर सारी कंपनी में जैसे शंकर सब का सरदार हो, इस प्रकार कोई इसे कुछ नहीं कह सकता और मालिक भी इसके आगे ऐसा वर्ताव करता है कि जैसे शंकर मालिक हो और वह स्वयं नौकर हो। यदि मैं इसके साथ तकरार करूं तो क्षण-भर भी कंपनी में टिक नहीं सकती।

तरुवाला शराब पीती है, यह तो मुझे कल ही पता लगा। नाटक समाप्त होने के पश्चात् यह एक घंटे बाद कोठरी में आई, तब इसके पैर लड़खड़ा रहे थे और शरीर का भी कुछ ठिकाना नहीं था। मुंह पर से इसने रंग भी

नहीं छुड़ाया था। मुझे उठ कर उसे पानी पिला कर सुलाने का मन हुआ। पर उसका स्वभाव ऐसा खराब है कि व्यर्थ के लिए वह गुस्से हो जाये, इसलिए मैं मुंह ढंक कर खाट पर पड़ी-पड़ी ही एक नन्हे से सुराख से देखती रही। उसकी आंखें तो विकराल और बड़ी-बड़ी हो गई थीं। मुझे तो उसे देख कर ही भय लग रहा था पर वह तो थोड़ी देर में खाट पर पड़ कर सो गई, और जैसे जरा भी होश न हो, इस प्रकार थोड़ी ही देर में नींद में डूब गई।

हाय-हाय, स्त्री शराब पिये ! इस ना्कशाला में तो दुनिया कुछ विभिन्न प्रकार की ही लगती है !

मुझे बिल्कुल पांच बजे तक नींद नहीं आई और तरुबाला तो दूसरे दिन दोपहर को ठीक बारह बजे उठी।

ता. १६ सितंबर १६२६

अब मैं नये नाटक के रिहर्सल में भी भाग लेने लगी हूं। अभी मुझ से ऐक्टिंग ठीक-ठीक नहीं होता पर गा अच्छा लेती हूं। यदि मेरी घबराहट जरा कम हो जाये तो मैं अधिक अच्छा ऐक्टिंग कर सकती हूं। पर अभी मुझे इन लोगों से अभ्यस्त नहीं हुआ जाता। और दूसरे सब ऐक्टर तो कभी-कभी बड़े विचित्र और जानवर से दिखाई देते हैं। उसमें भी जब वे छोटे-छोटे लड़के मटकते हैं तब उन से तो भगवान बचाये। निरे इतने गन्दे और गंधाते रहते हैं कि देखकर कै हो जावे ! और ऐसे लड़कों को मुझ जैसी बड़ी स्त्री की मजाक उड़ाने का अधिकार ? ये जो कुछ भी कहते हैं उसकी होश तो होगी ही ?

पर कल मैंने जरा ठीक ऐक्टिंग किया इसलिये मालिक भी जरा खुश दिखाई दिया।

ता. २१ सितंबर १६२६

वे नये कविराज तो बड़े भावुक लगते हैं। वे नाटक लिखना जानते हैं और अभिनेताओं के साथ खेलना जानते हैं। इनकी मेहरबानी पहले तरु-

बाला पर थी, पर अभी कुछ दिनों से मेरी ओर दिखाई देती है । इनके नाटक में बाबूजी जिन्हें भावनायें कहते थे वैसा कुछ भी दिखाई नहीं देता। टेढ़ी टोपी, खुला कोट और पान चबाते-चबाते आते हैं तब तो ऐसा लगता है कि जैसे विलासियों के सरदार हों। बाबूजी तो ऐसे किसी को घर में भी नहीं घुसने देते थे। इस मस्तिष्क में भावनायें और नीति-बोध कहां से आता होगा।

ता. २६ सितंबर १६२६

आज मैंने अपना पार्ट सुन्दर किया। मालिक उठकर मेरे पास आया और बोला 'मिस वसंत सेना, यह नाटक अवश्य ही तुम्हारे कारण चमक उठेगा।' मुझे इतना हर्ष हुआ और साथ ही मुझे रोना भी आ गया। मैंने ऊपर देखा तब तरुबाला की आंख में से आग बरस रही थी।

और शंकर भी इसके साथ बात कर रहा था, पर उससे भी मेरी ओर प्रशंसा की दृष्टि फेंके बिना नहीं जा रहा था। शंकर वैसे चाहे कैसा हो पर उस जैसी अभिनय कला कदाचित् ही किसी अभिनेता को आती हो। इसकी प्रशंसा को प्राप्त कर लेना कोई छोटी मोटी बात नहीं। जैसे-जैसे मैं प्रतिदिन इसके अधिक-अधिक संपर्क में आती हूं वैसे ही इसके गुणों पर मेरी और अधिक दृष्टि जाती है। केवल जरा यह यदि थोड़ा सा भला और हो जाये तो मैं इसे दिखा दूं कि मुझे तरुबाला से कुछ अधिक ही आता है।

मैंने जैसे सोचा था उससे यह जीवन कुछ बहुत खराब नहीं और अब तो सब मेरे साथ अच्छा व्यवहार करते हैं। वह प्राणजीवन जो विदूषक हो-हो कर बिल्कुल विदूषक जैसा ही हो गया है, वह भी अब तो मुझे सम्मान से बुलाता है। इस पर और शंकर पर सारी बम्बई फिदा है, पर एक दिन ऐसा भी आयेगा कि इन दोनों से मैं आगे बढ़ जाऊंगी। तरुबाला तो कहीं रहेगी ही नहीं।

तरुबाला ऐक्टिंग तो ठीक करती है और गाती भी अच्छा है, पर इसके गालों में गड्ढे पड़ गये हैं और आंखों में कृत्रिमता घुस गई है। यह फिर

भी आवश्यकता से अधिक अच्छा करती है। जब नाटक चलता होता है तो मैं विंग में बैठ कर सब को देखती हूं। सबसे उत्तम है शंकर। मुझे तो अब इस नाटक की धुन सवार हो गई है। मैं यही सोचती रहती हूं कि रात कब होगी! मेरा नंबर कब आयेगा!

ता. १६ सितंबर, १६२६

आज दोपहर को रिहर्सल चल रहा था, तब मैं किसी कारण से अंदर गई और लौटते समय मैं और शंकर आमने-सामने पड़ गये। सब आगे चले गये थे इसलिये वहां कोई नहीं था। मैं इसकी ओर न देख कर चुपचाप चली जा रही था। इतने में तो...हाय! हाय! मुझे लिखते हुए भी कांपनी छूट रही है। मैं जोर लगा कर उसके हाथ में से छूट कर भाग निकली पर मेरे मस्तिष्क में चक्कर आ रहे थे। मैं सीधी अपनी कोठरी में जा पड़ी। मेरा दिल धड़क रहा था और खून में बड़ी तेजी आ गई थी। मेरे जेठ ने जिस दिन मेरे ओंठों का स्पर्श कर लिया था, आज उससे कुछ अधिक हुआ। उस समय मैं बालक थी और भय से अचेत-सी हो गई थी। आज भी भय तो था ही पर वह मेरा बनाया हुआ। मैं जितने दे सकती थी उतने उसे शाप दिये।

थोड़ी देर में मुंह धो कर जब मैं वापिस गई तो शंकर, जैसे कुछ भी न हुआ हो, इस प्रकार स्वस्थता से अपनी जगह बैठा था। मुझे उस समय कुछ भी नहीं करना था इसलिये मेरी ग़ैर-हाजरी नहीं लगी। तरुबाला मादा कौए की तरह कुछ चेत गई थी और इसलिये बारबार मेरी तथा शंकर की ओर मुड़-मुड़ कर देख लेती थी।

इस समय लिखते समय भी वह दोपहर को बात याद आ रही है, और मुझे कुछ होता जा रहा है। पर सच बात बताऊं तो मैंने जैसा सोचा था वैसा कुछ नहीं होता। मुझे शंकर पर जोर का क्रोध चढ़ा हुआ है, पर पता नहीं क्यों मेरे अन्तर में एक प्रकार की सुखद भावना व्याप्त होती जा रही है और उस पर चढ़ा हुआ क्रोध भी उतरता जा रहा है।

वनमाला ! सावधान ! तुझे एक बार कितने और कैसे-कैसे दुख पड़ चुके हैं, तुझे याद है ? भूल करने की वृत्ति न होने पर भी एक भूल से तू घर-बार विहीन और रास्ते की भिखारिन हो गई थी। अब यदि तूने भूल की तो फिर तेरा कोई आश्रय नहीं होगा।

ओ मेरी मां ! मेरी रक्षा करने के लिये तू क्यों जीवित नहीं रही ? तू जीवित रही होती, और बाबूजी बदल न गये होते और मैं गिरीश से विवाह कर लेती तो मेरे भाग्य में ये दिन देखने को क्यों मिलते ! अपनी अभागिन लड़की की दशा देख कर तुझे स्वर्ग में भी आंसू आ जाते होंगे। मां मेरी ! मेरी रक्षा करना और मुझे इस पाप-पंक में गिरने से बचाना।

मां ! तुझे याद करने से मेरा हृदय हलका हो जाता है। मेरी प्रार्थना के अक्षर इस कागज पर पड़ रहे हैं, उन्हें देखकर मुझ में एक प्रकार का बल आ जाता है। मां ! मैं तेरे सान्निध्य का अनुभव करती हूं—तू अवश्य मेरी रक्षा करेगी और सब मलिन-मतियों का समूल नाश कर देगी।

ता. ८ अक्तूबर, १६२६

नवीन नाटक आरंभ होने को अब एक सप्ताह ही बाकी रह गया है। अब तो जोर-शोर की तैयारियां चल रही हैं और किसी को एक मिनट की भी फुरसत नहीं मिलती। मेरा पार्ट प्रधान नायिका का है। मेरे लिये बनवाये हुए कपड़े अत्यन्त सुन्दर हैं। इन्हें देखते ही मेरा मन एक अवर्ण-नीय आनंद से उमड़ पड़ता है, और इन्हें पहनकर जब मैं स्टेज पर आऊंगी तो भी कैसी लगूंगी, सदैव इसी के सपने मुझे आते रहते हैं।

इतना अधिक दुख होने पर भी अब मेरी तबीयत ठीक हो गई है, और शीशे में अपना मुंह देख कर मुझे हंसी आ जाती है।

यह रूप किस के लिये है ? भले ही किसी के लिये न हो पर मैं सदैव ही ऐसी सुंदर रहने का प्रयत्न करूंगी। जिसमें मेरा मन प्रसन्न हो उसके करने में क्या बुराई ?

कल ग्रान्ड रिहर्सल है।

ता. २३ अक्तूबर १६२६

आज ग्रान्ड रिहर्सल था। मैंने वे कपड़े पहने और जरा पाउडर और रंग लगा लेने से मेरा मुंह ऐसा बदल गया कि जब मैंने शीशे में देखा तो मेरा अंतर जोर से धड़कने लगा। मैं शायद ही पंद्रह वर्ष की लग रही होऊंगी। मैं जब स्टेज पर गई तो दर्शक और अभिनेता थोड़ी देर तक तो मुझे ही देखते रहे। शंकर मुझे पर्दे के पीछे मिला। मुझे देख कर वह एक दम रुक गया और मेरा हाथ पकड़ कर मुझे वहीं रोक लिया। मैंने हाथ छुड़ाने का प्रयत्न किया पर उसने छोड़ा नहीं, 'मुझे पता नहीं था कि सेना, तू इतनी सुन्दर लगेगी, मुझे ठीक ही प्रियतमा मिली है।' यह कह कर वह हंसता-हंसता वहां से चल दिया।

शंकर से पार्ट सीख-सीख कर अब वह मुझे छू ले तो पहले जैसी अरुचि उत्पन्न नहीं होती। इस पेशे में पुरुषों को छूए बिना काम ही कैसे चल सकता है? और अब कहीं इससे वापिस लौटा जा सकता है?

मैं सुन्दर हूं—इस मनोवृत्ति के कारण अथवा पता नहीं किस कारण से आज मैंने सुन्दर अभिनय किया। तरुबाला को छोड़ कर सब ने मेरी खूब ही प्रशंसा की। शंकर तो, जैसे मैं सचमुच ही उसकी स्त्री होऊं, इस प्रकार फूल गया और प्राणजीवन ने भी इस पेशे में मेरी उत्तरोत्तर उन्नति की भविष्य-वाणी की।

इस समय थक गई हूं। जैसा आज हुआ ठीक वैसा ही नाटक के दिन होगा। विज्ञापनों में अभी से मेरे विषय में बहुत कुछ आने लगा है। मुझसे यह सब सार्थक हो जाये तो अच्छा!

इस तरुबाला का मैंने क्या बिगाड़ा है? मुझ से शायद ही कभी यह दो अक्षर बोल लेती होगी।

ता. २४ अक्तूबर १६२६

मालिक को कुछ कमी लगी इसलिये दो तीन रिहर्सल और हो गये। मेरा कांपता हुआ हृदय केवल कल की ही प्रतीक्षा कर रहा है। कल मैं कैसी निकलूंगी? मैं उत्तीर्ण हो जाऊंगी न?

ता. २५ अक्तूबर, १६२६

पास, पास, मैं पास हो गई। लोगों की तालियों की आवाज की गूंज अब भी मेरे कानों से नहीं निकल रही। सब जैसे एक सुन्दर स्वप्न हो, इस प्रकार समाप्त हो गया। सुबह होने को आगई पर मेरी आंखों में नींद नहीं। मैं केवल लोगों की भीड़ और रंगभूमि के पर्दे ही देखती रही।

सचमुच ! मुझ में ऐसा कुछ है कि ये सब मेरी प्रशंसा करें ? मुझे कीर्ति मिलेगी, पैसा मिलेगा और फिर मैं समाज द्वारा निकाली हुई भिखारिन नहीं बल्कि, उनके हृदयों पर राज्य करने वाली सम्राज्ञी हो जाऊंगी। मुझे देख कर इनकी स्त्रियां मुझ-सा बनना चाहेंगी। मेरी चाल देख कर वे चलना सीखेंगी। मेरे कंठ का अनुकरण कर गाना सीखेंगी। मेरी शोभा को देख कर वे शोभा वाली बनेंगी। मुझ-जैसा लगने में उन्हें गौरव का अनुभव होगा। और यह सब उन लोगों से परित्यक्ता वनमाला द्वारा ही सम्पन्न होगा। वनमाला कैसी ? वह तो मर गई। वसंत सेना से होगा।

आज से मैं जिस दुनिया में पैदा हुई थी उस से बिलकुल सम्बन्ध टूट गया। मैं अब कोई नहीं, किसी की नहीं। मुझे अब किसी की पर्वाह नहीं। मैं अर्थात् अब मैं ही, मैं स्वयं ही। उसके साथ मैं चाहे जो करूं अब मुझे किसी को दंड देने का अधिकार है ?

मेरी मां ! यदि तू जीवित होती तो आज मेरी विजय देख कर तुझे कितनी खुशी होती ? तू होती तो मुझे यह जीवन स्वीकार ही क्यों करना पड़ता ? अच्छा ही हुआ कि तू नहीं, नहीं तो यह दिन कभी न आता।

कटुता और निराशा आज कुछ याद नहीं। अपमान और दीनता की बातें भी याद नहीं आ रहीं। इस समय केवल मैं एक ही वस्तु देख सकती हूं। विजय और उसकी परंपरा ! विजय ! विजय ! विजय ! अब तो सुबह होने को आ गई। यह उन्माद भूल कर सो जाऊं तो ठीक। नहीं तो आज दिन के खेल में जंभाई आयेगी। नींद, नींद, विजय की नींद।

ता. २७ अक्तूबर, १६२६

मैं कल शंकर की हो चुकी। पता नहीं यह कैसे हो गया। पर होने से पहले जो भय था अब वह बिल्कुल नहीं रहा। पहले के संकल्प-विकल्प भी कुछ नहीं कर सके। पर अभी मेरी समझ में नहीं आ रहा कि यह सब कुछ कैसे हो गया?

शनिवार और रविवार के लगातार श्रम से मैं खूब थक गई थी। इतनी विजय के उपरांत अकेले कोठरी में जाते हुए कुछ दम-सा घुट रहा था, मुझे लग रहा था कि उस समय कोई मुझे कलेजे से लगा कर मेरा भार हलका कर दे।

शंकर उसी समय आया। मेरा श्रम उतारने के लिये इसने कुछ दवा निकाल कर दी। मैंने उसे पिया और थोड़ी देर बाद वह मुझे बालक की तरह लिवा ले गया। मैं जब होश में नहीं होती थी तो इसके साथ निरंतर पार्ट करने के कारण ऐसा लगने लगता था कि जैसे यही मेरा पति हो। बहुत दिनों से मुझे इसी के सपनें आने लगे थे। केवल जागृतावस्था में ही मेरे संस्कार इसका तिरस्कार करते थे।

अब तो वह भी नहीं रहा। किसलिये मैं उसका तिरस्कार करूं? जिस दुनिया ने मुझे विजयी बनाया है उस दुनिया जैसी-ही बन कर रहूं तो क्या? मेरा अब पहले की दुनिया के साथ क्या सम्बंध? मुझे इसने दर-दर की ठोकरें खिलवाईं। मेरे निर्दोष मन में पाप का बीजारोपण किया। निरप-राध होने पर भी मुझे पतिता ठहराया, फिर उसकी धारा का अनुकरण करने के लिये मैं किसलिये बंधी रहूं?

पर मैं शंकर से कोई विशेष प्रेम नहीं करती। इसके पास जाने को मेरा मन करता है, पर जब इसके पास होती हूं तो एक प्रकार की घृणा भी मन में होती है। मेरी देह इससे आकर्षित होती है, पर मेरी आत्मा इससे दूर भागना चाहती है। पर यह और मैं तो अब मिल गये हैं। इसमें ऐसा है कि मैं इससे चाहे जितनी घृणा करूं फिर भी शराबी की तरह मुझसे इसके पास जाये बिना नहीं रहा जा सकता।

ता. ३० नवंबर, १६२६

आज कितने दिनों बाद डायरी लिखने बैठ रही हूं। अपना अंतर खाली करने के लिये पहले मुझसे लिखे बिना नहीं रहा जाता था, अब मुझे डायरी हाथ में लेते हुए भी डर लगता है। मुझे जैसे-जैसे अनुभव होते हैं क्या वे सब मैं लिख सकती हूं ? दिन-दिन मेरा ऐसा अधःपतन हो रहा है कि उसे देखते हुए तथा लिखते हुए मैं कांपने लगती हूं। इन सब बातों को भूलने के लिए केवल मेरे लिये एक शराब का ही सहारा रह गया है।

तरुबाला अब मेरे साथ पहले की तरह नहीं अकड़ी रहती। वह और मैं अब लगभग एक ही कोटि की हो गई हैं और शंकर के लिये भी वह और मैं एक-सी ही हैं। वह दोनों में से जिसे चाहे बुला सकता है।

मुझे तरुवाला से जरा भी ईर्ष्या नहीं होती। किसलिये हो ? मैं शंकर से प्रेम नहीं करती न। सच कहूं तो मेरे अंतर की गहराई में केवल उसके लिये धिक्कार के भाव हैं। इसका एक प्रकार का शासन मुझ पर चल रहा है और मैं यंत्र की भांति इसकी इच्छाओं का अनुकरण करती हूं। कभी-कभी अंधेरी रात में जब यह सोता होता है तो ऐसा बेडौल और भयंकर दिखाई देता है कि मेरे मन में आता है कि इसका गला घोंट दूं।

यह सब लिखते-लिखते तो मैं पागल हो जाऊंगी। शराब··· शराब···।

ता. १७ जनवरी, १६२७

नया खेल आरंभ हो गया। इस खेल में पहले की अपेक्षा अब अधिक प्रख्यात हो गई हूं। पर कीर्ति से अब पहले जैसा आनन्द का प्रवाह मेरे अंतर में नहीं उमड़ता। केवल प्रतिदिन थोड़े से पैसे वाले मूर्खों की भेंट तथा चिट्ठियों से मेरा कमरा दिन-दिन अधिक भरता जा रहा है। बहुधा ऐसे बंदर मुझसे मिलने भी आते हैं; मेरी आवश्यक खुशामद भी करते हैं। इनमें मेरी कला से आकर्षित होकर आने वाला कदाचित् ही कोई हो।

ता. २ फरवरी, १९२७

वनमाला के जेठ वसंत सेना के पुजारी बनकर उससे मिलने के लिए आये। कैसी विचित्र बात है। क्या इन्हें स्वप्न में भी कभी सूझा होगा कि एक बार की गरीब, बर्तन मांजने वाली वनमाला मैं ही हूं? मेरा रूप, रंग और आभा इतनी बदल गई है कि इस जैसे बहुत से अब मेरे पैर पूजते हैं।

इन लोगों की स्थिति बहुत बदल गई लगती है। दारिद्रय इनके अंग-अंग से झलकता था। और पाशविकता इनके मुख पर और शरीर पर सर्वत्र अपने चिन्ह छोड़ गई थी। इन्हें देखकर मुझे तो क्रोध और तिरस्कार आने के बदले तरस ही आया।

मैं चाहे जैसी होऊं पर अब इस नर-कीटक की सत्ता के नीचे तो नहीं ही। मेरी इस समय की जिंदगी चाहे अधमता हो या उत्क्रांति पर इससे मैं ऐसी अभयस्त हो गई हूं कि पहले की जिंदगी सब सुखों के साथ मिलती हो तो भी उसमें वापिस नहीं जा सकती।

ता. ४ मार्च, १९२७

लगभग दो सप्ताह से बीच की कुर्सी पर एक आदमी आकर बैठता है। अधिकतर तो वह प्रत्येक नाटक देखने आता है और इसी कुर्सी पर बैठता है। मुझे उसे देखने की कुछ ऐसी आदत पड़ गई है कि यदि कभी वह वहां नहीं दिखाई देता तो बड़ी निराशा होती है।

और मुझे लगता है कि यह मुझे ही देखने आता है। मेरा प्रवेश शुरू होने से पहले वह वहां कभी नहीं होता और हर बार वह मुझे जैसे बड़ी ही सूक्ष्म-दृष्टि से देख रहा हो, ऐसा जान पड़ता है।

मैंने उस आदमी को थोड़ा बहुत देखा है। जैसे वह आधा अंग्रेज हो, इस प्रकार अंग्रेजी कपड़े पहनता है। दूसरे सब आदमियों से वह कुछ अलग ही दिखाई देता है। इसके दिखाव में सज्जनता स्पष्ट झलकती है। वह कौन होगा? उसने किसी दिन भेंट या चिट्ठी अभी तक नहीं भिजवाई। मुझसे मिलने का प्रयत्न भी कभी नहीं किया। फिर पता नहीं वह प्रति-

दिन किसलिये आता है ?

मैंने उसे कहीं देखा जरूर है, पर कहां ?

ता. ६ मार्च १९२७

आज भी वह आया था। अब तो मुझे कुछ-कुछ आकुलता होने लगी है। वह क्यों आता है ? और क्या देखता है ? सभी अभिनेता अब तो मेरी मजाक उड़ाते हैं, और उनमें भी शंकर और प्राणजीवन विशेष रूप से। शंकर पहले कभी नहीं, पर अब ईर्ष्यालु होने लगा है। प्राणजीवन भी अभी कुछ दिनों से बहुत ध्यान देने लगा है। मुझे शंकर को चिढ़ाने का ऐसा मन होता है कि इसके सामने ही प्राणजीवन के साथ खूब मजाक करूं। किसलिये इसे सब कुछ करने का अधिकार है और मुझे नहीं ?

ता. २३ मार्च १९२७

अब कुछ दिनों से मैं आवश्यकता से अधिक शराब पीने लगी हूं। मेरे गालों में गड्ढे पड़ने लगे हैं, और पहले जैसी तरुबाला में दिखाई देती थी वैसी ही कुछ कुछ कृत्रिमता मुझ में भी दिखाई देने लगी है। कभी-कभी मेरी विचार करने की शक्ति भी जाती रहती है।

पर वह आदमी ! वह रोज किस लिये आता है ? जैसे वह मुझ में होने वाले परिवर्तन को देख सकता हो, इस प्रकार उसकी आंख में कुछ कुछ निराशा और व्यंग के भाव दिखाई देते हैं। कदाचित् यह बात न भी हो। शायद अपने मस्तिष्क की निर्बलता के कारण मुझे ऐसा लगता हो ! अगर कुछ दिनों इसी तरह वह और आता रहा तो मैं पागल हो जाऊंगी।

ता. १० अप्रैल १९२७

आज मेरा अधःपतन संपूर्ण हो गया। शंकर तरुबाला और मैं साथ बैठे शराब पी रहे थे। शंकर ने तरुबाला को कुछ किया और मुझे गुस्सा आया। ऐसा बहुत बार हुआ था पर हम किसी दिन भी नहीं लड़े थे। आज लड़

पड़े। मैं क्रोध में वहां से उठ कर चली गई। मैं अपने कमरे में जा रही थी कि रास्ते में प्राणजीवन मिला। मुझे कुछ होश नहीं थी। उसने मुझ से क्या कहा वह भी याद नहीं आ रहा, पर जब मैं सुबह जगी तो प्राणजीवन के कमरे में थी।

चलो, यह भी अच्छा हुआ। यह मोटा शंकरिया कोई मेरा मालिक है? और इस प्रकार नरक में जाना ही है तो किसलिये इकट्ठा ही न जाया जाय? शंकर भले ही तरुबाला के साथ मजा करे। जब मैं नहीं होऊंगी तभी इसे पता लगेगा कि मैं तरुबाला से हजार दर्जे अच्छी थी।

ता. १७ अप्रैल, १९२७

शंकर ने तरुबाला को छोड़ दिया है। वह उसके साथ उतना ही संबंध रखता था जितना कि मेरी ईर्ष्या को उकसाने के लिये बस काफी हो। वह सोचता था कि ईर्ष्या के मारे मैं उसे छोड़ कर नहीं जाऊंगी। अब वह पछताता है और पागल की तरह मेरे तथा प्राणजीवन के सामने आंखें निकालता है। शराब भी खूब पीता है। पर मैं तो अब उसे देखना भी नहीं चाहती।

कुछ दिनों से वह नहीं आ रहा।

मैं हर बार उसकी कुर्सी पर दृष्टि डालती हूं पर अब तो उसके बदले वहां दूसरे ही आदमी बैठे होते हैं। मुझे निराशा तो होती है पर अब वह नहीं आता यह अच्छा ही है। नहीं तो मुझसे मेरा पार्ट ठीक-ठीक न होता।

तरुबाला में और मुझ में फिर सुलह हो गई है।

ता. २ मई, १९२७

जन्म-जन्मांतरों तक के लिये अब मेरा उद्धार असंभव हो गया। अब दिन-दिन नीचे की ओर गिरना, केवल यही एक गति मेरे लिये शेष रह गई है।

रविवार का दिन था और नाटकशाला भी पूर्णतया भरी हुई थी। आज वह भी अपनी जगह पर आ बैठा था। उसे आज वहां बहुत दिनों बाद आया हुआ देख कर मुझ में एक प्रकार की नवीनता जगी।

नाटक समाप्त होने के उपरांत मैं और तरुबाला 'ड्रेसिंगरूम' में कपड़े बदल रहे थे। इतने में 'गिरीश पंड्या' नामक का एक व्यक्ति तुमसे मिलना चाहता है' मालिक ने आकर कहा। मैं ऐसे आने वालों से मिलने में अभ्यस्त हो गई थी, इसलिये उसे वहीं भेज देने के लिये कहा।

थोड़ी देर के उपरांत दरवाजे के आगे वही आदमी आकर खड़ा हो गया। इस गिरीश पंड्या नाम के साथ मुझे और भी कुछ याद आया, हमारे उस पड़ोसी का और अम्मा की सहेली का लड़का तो नहीं ?

वह आ कर दरवाजे के आगे ही खड़ा हो गया। जैसे कुछ सोच रहा हो, इस प्रकार थोड़ी देर तक कुछ भी नहीं बोला। मैं भी ऊर्ध्वोच्छ्वास से उसके बोलने की प्रतीक्षा करती रही।

'मिस वसंत सेना ! तुम को कष्ट दे रहा हूं पर क्षमा करना; मुझे बहुत दिनों से ऐसा लग रहा है कि तुम...' जरा जैसे असमंजस में पड़ गया हो इस प्रकार रुका, पर थोड़ी देर में बोला,—'मेरे परिचितों में एक लड़की थी वह तुम्हीं हो। मैं बहुत वर्ष विलायत रह आया, जब वापिस लौटा तो पता लगा कि वह कहीं गुम हो गई है। पर मैंने तुम को अचानक देखा तब से मुझे लग रहा है कि वह तुम्हीं हो। तुम प्रमोदराय मास्टर की लड़की वनमाला तो नहीं ?'

एक पल के लिए मुझे ऐसा लगा कि मेरे हृदय की धड़कन रुक जायेगी। स्मृतियों की परंपरा ने बचपन में हृदय में छिपाई हुई एक मूर्ति के साथ सम्बंधित अनेक प्रसंग ताजे कर दिये। इस नर्कागार में मुक्ति खोजती हुई मेरी आत्मा ललचा उठी।

पर नहीं, मुक्ति मेरे लिये उतनी सहज नहीं थी। उसके मुख पर स्थिर मेरी आंखों ने उसके पुरुषत्व और प्रामाणिकता के दर्शन किये पर साथ-साथ एक प्रकार का भय और मनोमंथन भी उसमें उतने ही स्पष्ट अंकित थे। मैंने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया 'नहीं, वह मैं नहीं।'

जैसे बहुत समय तक निभाया हुआ प्रेम का कर्तव्य आज पूरा हो गया हो इस प्रकार उसके माथे की सलवटें खुल गईं। दूर से नमस्कार करके

वह दरवाजे से बाहर हो गया। मैं तरुबाला की ओर मुड़ी और पास रक्खी हुई शीशी में से प्याली भर कर इसकी प्रतीक्षा किये बिना ही गले से नीचे उतार गई।

'होगा कोई!' पूरा जवाब दिये बिना ही मैंने एक दूसरी प्याली भरी। जीवन और जगत के खोखलेपन पर मेरे अन्तर से एक अट्टहास फूट पड़ा। आश्चर्य-चकित तरुबाला को वहीं अकेली छोड़ कर मैं अपने कमरे की ओर रवाना हो गई।

किसलिये ऐसे खोखले जीवन का इतिहास लिखूं? इससे तो इतना समय यदि शराब पीने में बिताया जाये तो क्या अधिक सुन्दर नहीं?

तीन-चित्र

जब बाल्यावस्था थी तब—

धीरू और कमु दो पड़ोसी बच्चे थे। दोनों साथ खेलते, साथ घूमते और रोज लड़ते। एक दूसरे के बिना ये रह भी नहीं सकते थे, और घड़ी-घड़ी में एक दूसरे से कुछ न कुछ कहा सुनी हुए बिना भी काम नहीं चलता था। धीरू जब अपना पाठ याद कर रहा होता तो कमु कहती—"पढ़, खूब पढ़, तेरी आंखें फूट कर ही रहेंगीं।" और धीरू चिढ़कर कहता—"तो तेरा इसमें क्या गया! फूटेंगी तो मेरी फूटेंगी, तू क्यों मरी जाती है?" और कमु देवी रूठने का ढोंग कर चल देतीं।

कमु जब गरबा सीखती होती तो धीरू कहता—"बहुत नाच नाच करना ठीक नहीं।" और कमु गाती तो धीरू कहता कि—"दिन भर रेंकती क्यों रहती है? हमारे तो कान फूट गये।" "नहीं अच्छा लगता तो कानों में रूई ठूंस ले।" यह कह कर कमु और भी जोर से गला फाड़कर गाने लगती।

धीरू को जब कभी खेल में चोट लग जाती और आंसू आ जाते तो कमु उसे कायर कहती, और खेलते देखती तो उसे लड़की की उपमा देती। धीरू खूब चिढ़ता और मारने के लिये पीछे दौड़ता। कमु "लड़की! लड़की!!" कह कर दौड़ती जाती और धीरू और भी अधिक चिढ़ता।

कमु अपने बालों की पट्टियां निकालती तो धीरू को उस पर बड़ी सख्त आपत्ति होती। उसकी स्वाभाविक चाल की नकल उतार कर वह उसे खूब चिढ़ाता, उसका कुछ ऐसा विश्वास हो गया था कि जैसे कमु पर रोब जमाने

और उसे बनाने का उसका जन्मसिद्ध अधिकार हो। गली के किसी दूसरे लड़के के साथ कमु खेले तो इसमें भी उसे बड़ी भारी आपत्ति थी, और अगर वह कभी किसी लड़की के साथ बातें करता हुआ पकड़ लिया जाता, तो कमु भी उसकी अच्छी तरह खबर लेने से न चूकती।

इस प्रकार जितनी देर वे दोनों मिलते उसका तीन-चौथाई समय लड़ाई में बीतता और एक-चौथाई उसके फैसले में, तथा एक दूसरे को मनाने में। पर मनाने मनाने में बहुधा वे फिर लड़ पड़ते थे, और इस लड़ाई का कौन जाने क्यों कभी अन्त आता हुआ दिखाई ही नहीं देता था।

दोनों के मां-बाप दोनों की इस रीति से डरते थे और दोनों को अलग करने और अलग रखने का प्रयत्न करते थे। पर धीरू और कमु में इस लड़ने की आदत इतनी अधिक पड़ गई थी, कि वे किसी न किसी बहाने मिलें और लड़े बिना रहते ही न थे।

जब तक कमु के पिताजी का तबादला दूसरी जगह नहीं हो गया, तब तक यह स्थिति इसी प्रकार चलती रही। बाद के पांच वर्षों में धीरू और कमु एक दूसरे से मिले भी नहीं, और एक दूसरे को बहुत याद भी नहीं किया। इतने वर्षों में कमु एक सुन्दर कन्या हो गई और धीरू कालिज के विख्यात नवयुवकों में गिना जाने लगा।

युवावस्था में—

समुद्र में जिस प्रकार जहाज क्षण-भर के लिये एक दूसरे से मिल कर फिर अलग हो जाते हैं, इसी प्रकार संसार के भी बहुत से स्नेह-सम्बन्ध जुड़ कर फिर टूट जाने के लिये हैं, यह माना जाता है। पर बहुधा उसी समुद्र में वे ही जहाज फिर मिल जाते हैं, इसी प्रकार संसार का स्नेह-सम्बन्ध भी बहुधा टूट जाने पर फिर जुड़ जाता है। कमु बड़ी हुई और उसकी यह आयु मां-बाप के लिये चिंता का कारण होने लगी। धीरू बड़ा हुआ और उसके मां-बाप घर को सुशोभित करने वाली बहू लाने की तजवीज करने लगे। किसी अवसर पर अकस्मात् सब इकट्ठे हुए। मां-बाप एक दूसरे की संतानों

को देखकर बड़े प्रसन्न हुए। वर ने बहू को देखा, बहू ने वर को देखा। लड़ाई के पुराने दिन विस्मृति के अन्धकार में जा पड़े और टूटा हुआ सम्बन्ध अब जन्म-भर के लिये जुड़ गया।

कमु रूप का टुकड़ा, और धीरू चार आदमियों में अलग चमकने वाला। दोनों एक दूसरे के लिये प्राण देते, पर फिर भी वह पुराना तकरार करने का स्वभाव कहां जाता!

"क्यों कमु! तू आज देर में क्यों आयी? मैं बाट देखते देखते थक गया और तूने मेरी सारी संध्या विगाड़ दी!" धीरू के गुस्से का पार नहीं।

"अम्मा ने बिठा लिया इसीलिये देर लग गई, कहीं भाग तो गई नहीं थी?" कमु जवाब देने में कब चूकने लगी। और तकरार तो कोने में बैठी रहती थी। परिणाम यह होता कि धीरू खाना न खाता; कमु उसे पूर्णतया मना न पाती, और दोनों भूखे सो जाते।

कमु अपने रूप को संवारती तो धीरू कहता—"यह बहुत सजधज टीक नहीं लगती।" और धीरू परीक्षा पास करता तो कमु मुंह बिगाड़ कर कहती—"फर्स्ट क्लास तो आया ही न होगा।" कमु को चार आदमियों में चमकने का मन होता, तो धीरू को इसमें आर्यत्व की भावना की न्यूनता लगती; और यदि धीरू समाज-सुधार-परिषद् में वालिंटियर की जगह नाम लिखा लेता, तो इसमें कमु को वाहियातपना लगता। लड़ने बैठते तो दोनों ऐसे लड़ते कि क्या कहना। पर यदि कोई तीसरा बीच में पड़ जाता तो दोनों फिर एक-के-एक हो जाते और तीसरे की मुसीबत आ जाती।

लेकिन सबसे विचित्र बात तो यह थी कि इतना होने पर भी दोनों एक दूसरे को बहुत चाहते थे। एक की अंगुली दुखती तो दूसरे का जी कट जाता। केवल लड़ने का कुछ दोनों का स्वभाव ही हो गया था, और जब धीरू बड़ा सरकारी वकील हो गया और कमु चपरासियों की बहूजी बन गई, तब भी चंचल स्वभाव वाला धीरू ज्यों का त्यों रहा। सरकारी वकील के रूप में जब धीरू अफसरों में आगे बढ़ने का प्रयत्न करता, तो कमु—कमलिनी—देशभक्ति की बातें करती। धीरू घर में नये नये कपड़े सिलवाता और कमु को जब धुन

चढ़ती तो विदेशी कपड़ों को घर से बाहर करने की बातें करती। पर अरविंद घोष का भाषण पढ़कर जब एक बार धीरू का सरकारी नौकरी छोड़ने का मन हुआ, तब तो कमु ने युद्ध मचा दिया और तब से धीरू को ऐसी पागलपन की बातें करना छोड़ देना पड़ा।

इस प्रकार धीरू और कमु बड़े हुए, इनके बाल बच्चे हुए, उनके शादी-ब्याह किये और इस बीच में वे अनेक बार लड़े, झगड़े, रूठे, पर धीरू के जीवन में कमु का और कमु के जीवन में धीरू का स्थान अद्वितीय ही रहा। इन दोनों को अलग करने का दुस्साहस परमेश्वर भी बहुत डरते-डरते ही करता।

वृद्ध हो जाने के उपरान्त—

धीरजराम मार्कंडराम, वृद्ध रिटायर्ड सरकारी वकील, उम्र में लगभग पैंसठ वर्ष के, और उनकी धर्मपत्नी कमला बहूजी बासठ के आसपास आ रहीं थीं। इनके बच्चों के घर बच्चे और फिर उनके घर भी बच्चे हो गये थे। यहां तक बात पहुंच गई थी। बूढ़ा दिन-भर घर में बैठा रहता, वेदांत और शांकर-भाष्य का पाठ करता, अपने पौत्र-पौत्रियों को लड़ाता, बीच-बीच में कमला बहू के साथ लड़ता और शाम को विक्टोरिया में बैठकर नगर के बाहर घूम आता। और कमला बहू भी बड़े रोब के साथ, खड़े पैरों घर और विशेषकर बूढ़े की चौकसी करतीं, और बहुओं पर शासन चलाने में भी न चूकतीं। इन्हें धर्म और पूजा की धुन नहीं थी परन्तु स्वभाव भीतर से स्नेहशील था। पर इनका स्नेह इनके शब्दों से बहुत अधिक नहीं झलकता था।

बूढ़ा घर से बाहर निकलता कि कमला बहू तुरन्त चेतावनी देतीं, "मफलर पहन लो, नहीं तो रात भर खौं-खौं करोगे?"

"भाई! तुम से भी तोबा। जैसे दिन भर खौं-खौं करने के सिवाय मुझे कोई और काम ही न हो।" और भूल-चूक से यदि कमला बहू मफलर देना भूल जातीं तो—"रात भर खांसते-खांसते दम फूल जायगा, पर तुझे क्या पर्वाह। ला, मफलर ला, नहीं तो कहीं सरदी-वरदी लग जायेगी।" बच्चों की फरियाद कमला बहू कदाचित् ही कभी लेती! "अब इतनी उम्र में

भी यह चक-चक ! इस अवस्था में तो चैन से बैठो।" पर कभी अगर बूढ़े को क्रोध चढ़ जाता और कमला बहू बच्चों की ओर से दो शब्द कह देतीं, तो उस समय बूढ़ा कदाचित् ही शांति से बैठ सकता। और यह सब कुछ होने पर भी अगर कोई बच्चा कमला बहू की ओर जरा भी चूं या चां कर देता तो उसकी कम्बख्ती ही आ गई समझो ।

बूढ़ा कमला बहू से विना पूछे कुछ भी न करता, पर करने के विषय में दोनों एकमत बड़ी देर में हो पाते। विशेषकर घर में यह अवसर आने पर मतभेद बहुत तीव्र हो जाता, पर फिर यह प्रसंग बीत जाने पर धीरज और कमला बहू में कुछ विशेष अंतर दिखाई नहीं देता था ।

धीरजराम स्वभाव में जरा उदार थे, कमला बहू जरा कंजूस थीं। सगे सम्बन्धी धीरजराम से बराबर पैसा मांग कर ले जाते और कमला बहू को जब यह पता लगता तो वे बहुत बिगड़तीं। कमला बहू की कंजूसी धीरजराम को अच्छी लगती थी, पर जब कंजूसी करने का समय आता तब उन्हें बिल्कुल अच्छा न लगता, और बासठ तथा पैंसठ वर्ष के बूढ़े-बुढ़िया ऐसे अवसरों पर छोटे-छोटे बच्चों की तरह लड़ते। लड़ाई समाप्त हो जाने पर कभी कमला बहू और कभी धीरजलाल क्षमा मांग लेते और लड़ाई का फैसला हो जाता, पर फिर यदि कोई अवसर आता तो यह बात इन दोनों में से किसी को भी याद नहीं रहती थी ।

इस प्रकार लड़ने से दोनों की कसरत हो जाती थी और दोनों की तन्दुरुस्ती अच्छी रहती थी। धीरज की कमला बहू के विना और कमला बहू की धीरजराम के विना कल्पना करना एक असंभव बात थी, पर इससे भी असंभव बात तो इन दोनों के न लड़ने की कल्पना करनी थी। दो पक्षियों की तरह ये दोनों कचकच करते ही रहते और इससे इनका प्रेम और साहचर्य अनेक दिशाओं में विस्तृत होता रहता।

अन्त में यम के पैर आये और कमु कमलिनी तथा कमला बहू की तीनों रूपांतरोंवाली काया की खबर लेने के लिये उसने पहले बीमारी को भेजा। धीरज काका ने जितने हो सकते थे, सभी उपाय किये और देश-देश के

डाक्टर वैद्यों को बुलाया, पर क्रूर-काल ने बेचारी कमला बहू को नहीं छोड़ा, और नहीं छोड़ा।

और उस दिन से धीरजराम ने अन्न-पानी छोड़ दिया, और महीने भर में उनका प्राण-पखेरू कमला बहू की खोज में कि—'मुझे छोड़कर जल्दी क्यों चली आई?' इस लड़ाई का फैसला करने के लिये ईश्वर के दरबार की ओर उड़ गया।

—११

चिर-कुमार

राजनगर की एक गली में स्त्रियों की एक टोली विवाह के बर्तन ले जाने की तैयारी कर रही थी। गली के सहन के कुंए पर एक स्त्री पानी भरती-भरती उनमें से एक स्त्री के साथ बात कर रही थी। आस-पास के घरों के चबूतरों पर थोड़ी सी प्रौढ़ अथवा वृद्ध स्त्रियां जाती हुई स्त्रियों को देखने के लिये और सलाह देने के लिये खड़ी थीं। प्याऊ में थोड़ी सी चिड़ियां दाने चुग रही थीं और दो तीन कुत्ते घर के भीतर और बाहर इधर उधर भौंकते फिर रहे थे। उनको ललकार कर वहां से खदेड़ने का प्रयत्न घर का नौकर यशवा और ढोलवाला, दोनों मिलकर कर रहे थे।

गली में एक विधवा आई। वह इन सौभाग्यवतियों के समूह को देखकर अपशकुन न हो जाये, इसलिये आड़ी काटकर दूर से दूर ही चली गई। अभी अच्छा सुगन न होने के कारण स्त्री-वर्ग वहीं का वहीं रुक गया था। एक वृद्धा चबूतरे पर से बोली:—

"अरी! ठीक ठीक सुगन देख कर काम करना, इस बार तो बिचारे का घर बस जाये। चार चार बार विवाह हुआ पर फिर भी चौक पुराया ही नहीं। इस पांचवीं में तो परमेश्वर ही आवेंगे! अरी बहिनों। एक गीत तो गाओ। इस तरह गूंगी बनी हुई क्यों खड़ी हो?"

खड़ी हुई स्त्रियां आपस में एक दूसरे से गीत की टेक उठाने के लिये कहने लगीं और इतने में सामने से एक गाय आई। "शकुन की बात है, शकुन की बात है"—दो चार स्त्रियां एक साथ बोल उठीं और लावण-दीवा पक

कर टेहले करने वाली बड़ी काकी ने, "शकुन जोई ने संचर जरे रे !" का गीत उठाया। स्त्री वृन्द ने उसमें सहयोग दिया और गीत चलने लगा। शहनाई वाले ने तुरही फूंकी; ढोलिये ने ढोल बजाया और सारी गली इस स्वर से गूंज उठी।

गाने वालियों की आवाज प्रतिक्षण दूर और अधिक दूर पहुंचने लगी। पड़ोसी घर में गये कुत्ते दो-तीन बार गली के नाके तक भौंककर फिर जहां थे वहीं आ गये। घर में झूले पर बैठा हुआ त्रीकम नये लग्न के उल्लास में चूं-चूं करते हुए कड़े के संगीत के साथ झौंटे खाता रहा।

यह त्रीकम ही इस उत्सव का नायक था। इसके माथे पर ताजा कुंकुम और चावल चढ़े हुए थे। रेशमी कमीज़ और लाल किनारी की धोती उस के शरीर पर शोभायमान थी। उसके पतली नसों वाली अंगुली की गांठ के सहारे रुकी हुई माणिक की अंगूठी सारी अंगुली का गोलाकार चमक कर काट लेती।

पहली दृष्टि में उसकी उम्र का ठीक-ठीक अनुमान नहीं होता था, पर उसकी उम्र तीस-बत्तीस वर्ष से अधिक नहीं थीं। उसके गालों में गड्ढे पड़े थे। उसकी अस्थिर-आंखें इधर-उधर घूम रहीं थीं, उसका असाधारण रूप से विशाल माथा था जिस पर थोड़े से काले और थोड़े से सफेद मिले-जुले चितकबरे बालों को उसने ऊपर की ओर बांध रक्खा था। बीड़ी से काले हो गये ओठों पर पान की लालिमा चढ़ी हुई थी। कानों में पहनी हुई तीन मौलियों की बाली उसके मुख की शोभा बढ़ा रही थी या घटा रही थी यह नहीं कहा जा सकता।

आज रात को उसका पांचवां विवाह था, और एक महीना पहले ही सुवावड़ में उसकी चौथी पत्नी कमला का देहांत हो जाने के कारण उसके शोक में इस बार कुछ अधिक धूम-धाम करने का विचार नहीं था। बर्तन लाने तथा गणेश बैठाने की सब छोटी-मोटी रस्में आज एक ही दिन में करने के उपरांत घोड़े के बदले गाड़ी में बैठ कर और मौर तथा जामे के बदले एक सादा रेशमी कोट तथा एक नये चलन की लाल रंग की पगड़ी

पहन कर रात में नई बहू को लेने के लिए चला जाये, यही सर्वानुमति से निर्णय हुआ था।

त्रीकम लोगों के कथनानुसार बेचारा भलामानुस था। चार बार मेट्रिक में फेल होकर बाप के मर जाने पर अपनी विधवा मां और दो छोटे भाइयों का भार अपने सिर पर ले लिया था। सराफ की दुकान पर वह ब्याज गांठे का धंधा करता था। संध्या को ब्यालू करने के लिए घर आता और फिर घूमने निकल जाता तो रात को साढ़े ग्यारह बजे तक घर लौटने में उसे फुरसत ही फुरसत थी। पर अपनी शक्ति के अनुसार वह दो पैसे ठीक कमाता था और केवल ग्रह-दशा कमजोर होने के कारण उसकी गृहस्थी नहीं चलती थी। यदि इतनी बात का अभाव न होता तो पांच दिन में उसकी गिनती सुखी आदमियों में होने लगती।

त्रीकम की मां नीचे काम कर रही थी। यशव भी नीचे बैठक में बैठा हुआ चावल बीन रहा था। दोनों भाई बाहर गये थे, उनकी पत्नियां बर्तन लेने गई थीं इसलिये वहां ऊपर त्रीकम को छोड़ कर और कोई नहीं था।

विवाह जैसा शुभ प्रसंग होने पर भी आज उसका जी जरा उदास था। आज-जैसे भूतकाल में अनुभूत चार चार घटनायें उसे याद आ रही थीं, और वे उसकी खिन्नता को बढ़ा रही थीं।

उसके जीवन में सपनों के लिये बहुत अवकाश नहीं था पर एकांत में या किसी असाधारण प्रसंगवश उनको बरबस ले आया हो, इस प्रकार धीरे-धीरे झोंटे खाते हुए त्रीकम के मस्तिष्क में भूतकाल के चित्रों का साम्राज्य चल रहा था, और इसी कारण से भावी सुख में भी विघ्न की आशंका से उस का मन डोल रहा था। यह ठीक है कि उसके मन में आने वाले चित्र ब्यौरेवार जिस प्रकार नीचे लिखे हैं बिलकुल उसी प्रकार नहीं थे पर विमान में उडने वाले मनुष्य की दृष्टि जिस प्रकार नीचे दिखाई देने वाले सृष्टि-पट पर एक साथ घूम जाती है उसी प्रकार भावी सुख के विचारों में उड़ता उसका मन भूतकाल पर एक साथ एक दृष्टि डाल रहा था।

आज-जैसी ही घटना का अनुभव उसने आज से बीस-बाइस वर्ष पहले

किया था। तब तो वह केवल दस बरस का बालक था, और छगन महता की पाठशाला में तीसरी पुस्तक पढ़ रहा था। उसका शरीर उन दिनों बड़ा कमजोर रहता था। सब लड़के उसे 'सींक सिलाई' कह कर चिढ़ाते थे। हरेक आदमी को उसे चिढ़ाने में मजा आता और जब-जब उस पर दृष्टि पड़ जाती तो महताजी अपनी बेंत उठाये बिना न रहते।

पर जब से उसके विवाह की बात निकली थी सब उसकी ओर प्रशंसा की दृष्टि से देखने लगे थे। इतना छोटा सा लड़का पति की पदवी प्राप्त करने वाला था इतनी बात ही उसकी ओर सम्मान की भावना पैदा करने के लिये काफी थी। उसकी क्लास के और क्लास के बाहर के लड़के उसके मुख से उसकी बहू का नाम सुनने की आतुरता प्रकट करते, पर इतनी छोटी उम्र में भी वह इतना पक्का था कि उसने कभी अपनी बहू का नाम नहीं बताया। त्रीकम को अपने वे दिन याद कर इस समय जरा हंसी आ गई।

तदुपरांत एक दिन रात में वह आधा नींद में और आधा जाग्रति में अपने से उम्र में दो वर्ष बड़ी बहू ब्याह लाया था। लड़की का कन्याकाल समाप्त हो जाने के कारण बिजली को उसके माता-पिता ने उतावली में ब्याह दिया था। बिजली के साथ विवाह के लिये मिला हुआ पहला वर यदि सीतला-मां के कोप का पात्र न बन गया होता तो कदाचित् त्रीकम को यह बहू मिलने का सौभाग्य इतनी जल्दी प्राप्त न होता। पर दुनिया में तो एक की भाग्यहीनता में ही दूसरे का सौभाग्य निहित होता है न।

और बिजली तो सचमुच बिजली ही थी। वह त्रीकम को चुपचाप इशारा कर के बुलाती। कभी जब अकेली होती तो उसका हाथ खींचती, और जब पीहर से लौटती तो एक पाई की पेन या एक पैसे का कुछ खाने का ला रखती और सबकी नजर बचाकर त्रीकम को देती। नासमझ त्रीकम जितनी देर पेन का या खाने का लालच रहता उतनी देर कुछ न बोलता पर फिर "ओ, मां! देख यह मेरे साथ क्या कर रही है।" कह कर भाग जाता। परिणाम यह होता कि माताजी बेचारी बहू के पीछे पड़ जातीं, "क्यों री! क्या है? मेरे लड़के को क्या कह रही है?" और सांझ होते-

होते सारे मुहल्ले में बहू की बात फैल जाती।

साल दो साल में बहू जवान हो गई और 'छोटे वर की नार' की तरह गली के छैलाओं की आंखें उस ओर घूमने लगीं। यह बाहर जाती तो लोग इसके पीछे पड़ जाते। इसके आगे लोग अपशब्द कहते। जात में जीमने जाती तो वहां जवान लड़के बोली बनाकर इसे छेड़ते। यह रास्ते में मिलती तो विविध प्रकार की शैतानियां कर उसे परेशान करने का लोगों में कुछ रिवाज सा हो गया था।

पहले तो बेचारी बालिका बहुत घबराई पर जैसे दिन बीतते गये वैसे ही वह उसे प्रतिदिन की बात समझकर निर्लज्ज होती गई। और घड़ी-घड़ी में मा के पास दौड़ने वाले दूल्हे से और सासू के जुल्म से त्रस्त होकर उसे इन सारी बातों में बड़ा आनन्द आने लगा। चौदह वर्ष की उम्र में उसमें चौबीस वर्ष की स्त्री का ज्ञान था। रास्ते में निकलती तो नखरे वाली चाल चले बिना न रहती। अभी तक उसमें कोई विशेष बुरा लक्षण नहीं था पर बेजोड़ पति को देखकर निरंतर जलता हुआ हृदय अवसर मिले तो पतन के गड्ढे में गिरने के लिये तैयार था।

सासूजी को बहू के लक्षण ठीक नहीं लगे, इसलिए उसकी उभरती हुई जवानी को संतुष्ट करने के लिये, जब लड़का तेरह वर्ष का हो गया तो उन्हें एक अलग कमरा दे दिया गया। संसार-व्यवहार की रसिक विजली बहू ने स्वयं जिसे बड़ी होशियार समझती थी ऐसी अनघड़ रीति से त्रीकम को संसार-ज्ञान का प्रथम पदार्थ पाठ सिखाना आरंभ कर दिया।

त्रीकम को इस समय वे सब दिन याद आये। उसके नासमझ अंतर में एक समय जिस त्रास और जिज्ञासा का संचार हुआ था वह भी याद आया, और इस समय भी उसका असंस्कारी हृदय उसे याद कर कांप उठा।

बिजली का अपने पति की ओर का असंतोष दिन-दिन बढ़ता गया और उसकी मानसिक प्रवृत्ति तथा आंखें दिन-दिन अधिक बाह्यमुखी होने लगीं। केवल अवसर नहीं मिला था इसीलिये अभी उसकी निर्दोषिता नष्ट नहीं हुई थी।

पर सासूजी बहू के लक्षण देख कर समझ गईं और तब से उसकी गति-विधि पर देख-रेख रखने लगीं। छोटे देवर उसकी हर एक बात को बढ़ा-चढ़ा कर मां के आगे कहते; पड़ोसी इसके चाल-चलन की लंबी निंदा करने में नहीं थकते थे, और गली के तथा स्कूल के लड़के त्रीकम के सामने ही उसकी बिजली बहू की मजाक उड़ा कर उसके पौरुष और पति के अधिकार का प्रयोग कर बिजली बहू को सीधा कर देने की आकांक्षा को उकसा देते। नादान और दुनियादारी से नावाकिफ बिजली पर इस प्रकार सब ओर से एक साथ आक्रमण होना शुरू हो गया और उसकी रक्षा करने का भार सबने अपनी अपनी शक्ति अनुसार अपने कंधों पर ले लिया। सारी जाति में उसे कुलक्षणी कह कर उस पर कीचड़ उछाली जाती थी। सब उसके बालक वर और दुखियारी सासू पर दया खाने के लिये तथा सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिये उमड़ पड़ते थे और इसके लिये बिजली को दबाने के हर एक प्रयत्न में सारे समाज का नैतिक बल इन दोनों के पीछे रहता था।

बिजली पहले तो इन सब से डरी पर फिर ढीठ हो गई और जो भी मुंह में आता वही उनके मुंह पर बकने लगी। बेचारे पंद्रह सोलह वर्ष के त्रीकम के लिये औरत को सीधी करने का युग-युगों से चला आया हुआ एक ही प्राचीन उपाय बाकी रह गया था, और जरूरत पड़ने पर पटला, थाली, कटोरा, पत्थर जो कुछ भी हाथ में आता उसी का उपयोग करने लगा।

एक दिन बिजली पीहर गई थी और संध्या को घर आ जाने का समय हो जाने पर भी नहीं आई। त्रीकम और उसकी मां दोनों का जी कब से नीचे-ऊपर हो रहा था, और जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसेही उनकी चिंता और मिजाज की डिग्री का पारा बढ़ता गया। इस प्रकार चिंता करने से उसे खोजने जाने का विचार दोनों में से एक के भी मस्तिष्क में नहीं आया। पर इतने में तो सौभाग्य से अथवा दुर्भाग्य से बिजली रात के आठ-एक बजे अंतर में कांपती होने पर भी बाहर से ढीठ बनी हुई घर में दाखिल हुई। उसके आते ही त्रीकम यथाशक्ति जोर से चिल्लाकर बोला—
"रां···किसके घर थी अब तक ? बोल नहीं तो कमर तोड़ दूंगा।"

दोनों का विकराल स्वरूप देखकर बिजली भय से थर-थर कांप उठी। "कहीं नहीं गई थी। मेरी मां को एक दम दौरा पड़ गया और घर में कोई था नहीं, इसलिये देर लग गई।"

"मां को दौरा पड़ गया, ? क्यों मां को दौरा पड़ गया, क्यों ? खड़ी रह, अभी सब तेरा दौरा-वौरा निकाल देता हूं।" और पहले से तैयार रक्खी हुई बेंत तड़ातड़ बिजली की कमर पर पड़ने लगी, और जैसे बेटे को प्रोत्साहन दे रही हो इस प्रकार सासूजी ने भी बहू को गाली देना शुरू कर दिया।

"ओ बाप रे ! मर गई। मैय्या रे ! मैं सच कह रही हूं और कहीं नहीं गई थी। मेरी मां को दौरा ही पड़ गया था।" पर जैसे ही वह अधिक बोलने का प्रयत्न करती वैसे ही अधिक आवेश में त्रीकम उसे और मारता। उसमें उसे अपने कर्तव्य-पालन का-सा आनन्द आ रहा था।

आस पास के चबूतरे पर और खिड़की में से पड़ोसी तमाशा देख रहे थे। पति अपनी बहू को मार रहा था इसलिये उसमें दूसरे आदमी क्या कर सकते थे ? पर उनमें से एक दो आदमी त्रीकम के साथ उनकी पूरी सहानुभूति होने पर भी बिजली पर पड़ने वाली मार की वेदना न सह सकने के कारण आगे आये और बड़ी मुश्किल से त्रीकम का हाथ पकड़ा। "भाई, बस हो गया। बालक है, भूल हो गई होगी, फिर ऐसा नहीं करेगी। इतना ही दंड क्या कुछ कम है।" और अचेत पड़ी हुई बिजली को उसने उठा कर कोठे के कोने में ले जा कर डाल दिया।

"फिर जायगी क्या ?" त्रीकम गरजा, "रां...की सारी हेकड़ी भुला दूंगा।"

धीरे-धीरे मां-बेटे शांत पड़े और पड़ोसी घर में चले गये। लड़-लड़ कर दोनों थक गये थे और दोनों को भूख भी जोर की लगी हुई थी। बिजली को तो आज के दिन इतने बड़े अपराध के बाद खाना देना गुनाह होगा, इस लिये उससे तो उन दोनों में से एक ने भी पूछा नहीं और खा पीकर दोनों मां-बेटे अपनी खाटों पर जा कर सो गये।

सहसा आधी रात में गली के सहन वाले कुंए में जोर का धड़ाका हुआ

और जिज्ञासा तथा कौतूहल के मारे सारी गली जग पड़ी। सब के मन में पिछली रात की बात ही घूम रही थी, इस लिये सबने सबसे पहले यही सोचा कि 'कहीं बिजली बहू तो कुंए में नहीं गिर गई?'

खूब हल्ला-गुल्ला हुआ। कोई कुंए में उतरने वाले को खोजने गया, कोई रस्सी लाया और दो तीन घंटे में शव निकला। वह बिजली बहू का ही था, सब को यह विश्वास हो गया। सब का जी घबरा जाने पर भी ऐसी अधमता उनके बीच से दूर हो गई इससे सब ने चैन की सांस ली। खबर मिली कि सुबह बिजली बहू की मां बीमार थी और इसी कारण से उसे घर आने में देर हो गई थी, पर जो होने वाला था वह तो हो ही गया। होनहार को रोकने में कोई उपाय नहीं चलता।

बिजली बहू की मृत्यु के पांच-दस दिन बीत गये और माताजी दुहेजुआ त्रीकम का विवाह करने के लिये फिर आतुर हो गईं। इनका घर कुलवान समझा जाता था, इसलिये सगाइयों की कमी नहीं। एक पैसे वाले मां-बाप की होशियार और सुलक्षणी कन्या कान्ता के साथ त्रीकम का विवाह देखते ही देखते तै हो गया। मां-बाप जरा प्रगतिशील विचारों के थे इसलिये उन्होंने यह शर्त तै कर ली कि जब तक कन्या तेरह वर्ष की नहीं हो जायेगी तब तक विवाह नहीं करेंगे।

पर त्रीकम अब बालक न रह कर युवक हो गया था, और बिजली बहू के सतत संताप की चिंता से मुक्त हो जाने के कारण दुनिया के आनन्द लूटने के लिये उसका मन तड़प रहा था। पर कान्ता बहू की बाट तो तीन साल तक देखनी थी और इतने समय तक अपनी उठती हुई जवानी को संयम से रखना कठिन था।

समवयस्क मित्रों ने उसे सलाह दी और उसने इस दुख से मुक्त होने के लिये थोड़ा थोड़ा स्वच्छंद विचरना आरंभ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस कमजोर काठी वाले अनुभव-हीन युवक के शरीर में जीवन सड़ने लगा।

विवाह का समय पास आता गया, और तब इस ओर से कान्ता के मां-

बाप की आंखें भी खुलीं। उन्होंने विवाह एक साल पीछे और हटा दिया, पर इतने में तो त्रीकम का शरीर और ढलने लगा। त्रीकम की मां सब के सामने बचाव करने लगी, "समधी अगर अपनी लड़की का ब्याह न करें तो जवान लड़के क्या करें ? शादी नहीं करते इसी से इसका शरीर बिगड़ रहा है। विवाह हो जाये तो कल शरीर सुधर जाये।"

दिल में चाहे कितना ही कन्या का हित क्यों न हो पर जात के कायदों से कहीं बचा जा सकता है ? और एक लड़की की जात के लिये घर के सब लोग चिंता और दुख सहें यह भी तो ठीक नहीं। बेचारे कान्ता के मां-बाप को पूर्व-जन्म के कर्मानुसार कान्ता का भाग्य त्रीकम के साथ जोड़ देना पड़ा। और बारह वर्ष की बालिका कान्ता त्रीकम के लग्नातुर हृदय की इच्छाओं को पूरी करने के लिये आई। चार-चार वर्ष तक प्रतीक्षा कर लेने के उपरांत उस दिन त्रीकम के लिये सोने का सूर्य उगा। विवाह की क्रिया में भी जिस उमंग और आतुरता से उसने उस समय भाग लिया फिर वैसी उमंग कभी अनुभव नहीं की।

वर और सासू घर में बहू का आगमन देखकर फूले न समाये। बहू का शृङ्गार करने के लिये तथा उसे प्रसन्न करने के लिये दोनों के दोनों दिन-रात लगे रहते। रात में त्रीकम बाजार से भांति-भांति के खाद्य पदार्थों की पुड़िया नई बहू के लिये लाता और सदैव उसकी हर इच्छा को पूरी करने के लिये तत्पर रहता।

दो चार महीने बाद बहू की अघरणी आ गई, और त्रीकम तथा उसकी मां के हर्ष की सीमा नहीं रही। उनको ऐसा लगने लगा कि इस नई बहू के पैर ऐसे पड़े हैं कि अब उसके प्रताप से सुख ही सुख बरसेगा। दिन-दिन कमजोर होती जाती हुई बहू की तबीयत की दोनों बड़े मान सहित देख-रेख करने लगे। कितने ही तावीजों का पानी, कितनी ही पीर-पगारों की मानतायें और कितने ही मंत्रों से अभिमंत्रित डोरे उसके लिये लाये गये। पुत्र के घर पुत्र आये और स्वर्ग-लोक में पितृ-देवताओं को शांति प्राप्त हो, इससे शुभ और क्या हो सकता था ?

पर बेचारी कान्ता बहू न तो खिली न फूली और न फली; और इतने में ही स्वर्ग सिधार गई। एक अन्धी बालिका को जन्म देकर वेदना का एक भयावह आर्तनाद करते करते उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। उसके मां-बाप हाहाकार कर रोते रहे। त्रीकम और उसकी मां उतरे हुए चेहरों तथा उदास अन्तःकरण से अंधी बालिका को पालने की विकट खटपट के बोझ से दबती हुई कान्ता बहू को याद कर कर के आंसू बहाते रहे।

पर इक्कीस वर्ष का युवक पत्नी का शोक कब तक करता? संसार-व्यवहार के बीच इस भरी जवानी के समय कोई उससे सन्यासी थोड़े ही हुआ जाता था? उसके घर की कौन संभाल करता? उसके अंधी सन्तान की कौन संभाल करता? उसकी बूढ़ी मां की घर के काम-काज में कौन मदद करता और दो बार गर्म-गर्म रसोई बना कर कौन खिलाता? कान्ता बहू के पीछे उसका जीवन तो बिलकुल तिक्त हो गया था, पर इन सारी कठिनाइयों का कोई उपाय नहीं था, इसलिये त्रीकम ने एक दूसरे गांव में रहने वाले हेड-मास्टर की चौदह साल की लड़की, जो आते ही घर संभाल ले, उसके साथ पंद्रह दिन बाद ही बिना किसी विशेष धूम-धाम के विवाह कर लिया।

उसने अपने जीवन में यदि सबसे सुखी समय बिताया था तो वह इस बहू के राज्य में। हीरा बहू मास्टर की लड़की होने से गुजराती की पांच पुस्तकें पढ़ी हुई थी। उसे थोड़ा काढ़ना-बुनना भी आता था। घर के काम करने तथा भोजन बनाने में उसे किसी की मदद की जरूरत नहीं पड़ती थी। शरीर से वह पुष्ट थी और शीघ्रता से वह सारे घर को झाड़-बुहार कर झट स्वच्छ कर देती थी। उसने 'सती-मंडल' के दोनों भाग भी पढ़े थे, और वह उन जैसी ही बनना भी चाहती थी। उसके मां-बाप ने उसे सासू की मर्यादा का पालन कैसे करना चाहिये, पति को प्रसन्न कैसे रखना चाहिये, देवरों को कैसे खुश करना चाहिये, और सुमति के मार्ग पर कैसे चलना चाहिये, इन सब बातों के विषय में विवाह के समय उपदेश दिये थे। हीरा के मन में दोनों कुलों को उज्ज्वल करने की बड़ी भारी इच्छा थी।

त्रीकम का जीवन हीरा के राज्य में सचमुच सुखी था। हीरा की संगति

से उसकी आदतें थोड़ी-थोड़ी सुधरती जा रही थीं। हीरा उसके निर्बल शरीर की संभाल भी बड़े सुन्दर ढंग से करती थी। पिता की पिछले वर्ष मृत्यु हो जाने के कारण त्रीकम ने पढ़ना छोड़ दिया था और घर के व्यवसाय में लग गया था; और बचपन की सभी आदतें छोड़ कर वह घर के बड़े बूढ़ों के तरीके से गंभीरता से रहने का प्रयत्न कर रहा था। उसने रीति-अनुसार जन्म-मरण के अवसर पर जात में जाना शुरू कर दिया। उसने जाति की उन्नति करने का उद्देश्य समझाने वाले एक दो भाषण भी दिये। केवल एक पुत्र-जन्म की ही ऐसी लालसा थी जो पूरी नहीं हुई थी।

और यह शुभ समय भी जब तक पास आने वाला था तब तक कुछ समय के लिये सभी यह आश लगाये रहे। पर दुर्भाग्य से पुत्री-जन्म हुआ। "आज लड़की हुई तो कल लड़का भी होगा," यह कह कर सब ने उस का मन समझा दिया।

इस हीरा बहू के सद्‌गुण क्या भूले जा सकते हैं? एक बार त्रीकम खूब बीमार हो गया था। तब रात-दिन एक करके उसने जो सेवा की थी उसकी कद्र तो वही कर सकता है जिसने उसे अपनी आंखों से देखा है। उसे याद कर आज के इस शुभ-मंगल के प्रसंग में भी त्रीकम की आंखें भीगे बिना नहीं रहीं।

और फिर वर्ष भर बाद हीरा के लिये ऐसा ही शुभ अवसर आया। त्रीकम की बीमारी के समय इसका शरीर जरा कमजोर हो गया था, उस समय का श्रम इस समय ज़रा खला! पर नौ महीने बाद त्रीकम के यहां पच्चीस वर्ष में पहली बार पुत्र-जन्म हुआ तब तो सासू, बहू और पति तीनों के हृदय आनंद से फूल उठे। त्रीकम का जीवन इससे सुख की चरम सीमा पर पहुंच गया। पितृ-देवताओं को स्वर्ग में भेजने का अपने जीवन का महान् साधन उसने आज सफलता से प्राप्त कर लिया था।

पर विधाता ईर्ष्यालु होता है। उसे किसी का सुख अच्छा नहीं लगता। अधूरी वासनाओं को लेकर प्रेतयोनि में भटकता हुआ बिजली का भूत हीरा का सुख सहन नहीं कर सका। महीने भर के लड़के को लेकर हीरा जब पहले

पहल पति के घर गई, तब कहीं से आकर इसने छल किया। भय के कारण हीरा को उस रात को बुखार आया तो आ ही गया। और थोड़े दिनों में उससे ही क्षयरोग की शुरुआत हो गई।

खाट पर पड़ी हुई हीरा मांदी-मांदी भी पति और पुत्र का काम जितना उससे हो सकता था, करती थी। बीमारी तो कल जाती रहेगी पर घर का काम कौन करे? और वृद्ध सासू के देव-दर्शनों में बाधा पड़ जाय तो उसका बुढ़ापा बिगड़ जायगा, उसका क्या हो? हीरा का पति-व्रत उससे ऐसा अनुचित आचरण नहीं करने दे सकता था।

पर अन्त में तो उसकी नहीं ही चली। मानसिक बल के आधार पर चलने-फिरने वाले शरीर ने अन्त में मन का आग्रह होने पर भी उठने से मना कर दिया। हीरा बिलकुल खाट से लग गई।

त्रीकम और उसकी मां ने पहले तो बड़ी हौंस से उसकी सेवा-शुश्रूषा आरम्भ की, पर दिन खिंचते गये और हीरा के अच्छे होने की आशा कम होने लगी। त्रीकम की दशा बहुत बुरी थी। मरद आदमी अपना धन्धा छोड़ कर बीमार पत्नी के पास कब तक बैठा रहे? और माताजी बेचारी क्या करें? बुढ़ापे में प्रभु का भजन कर आत्मा को सुधारें या सारी जिंदगी लड़के और उसके कुटुम्ब की उठ-बैठ में माया में फंसी रहें? और यदि फंसी भी रहें तो बुढ़ापे में शरीर चले भी तो कितना?

हीरा की बीमारी को दो वर्ष होने को आ गये। दिन-दिन उसका शरीर क्षीण होता गया। वैद्य-डाक्टरों ने तो उसकी आशा कब की छोड़ दी थी, पर अब वह अपनी आयु की डोर पर ही जी रही थी। हमारे यहां एक कहावत है "अच्छा खाये अन्न और मांदा खाये धन", तदनुसार उसके पीछे पैसा भी बहुत खर्च हो रहा था। बेचारा त्रीकम कहां तक कमा कमा कर इस मरती हुई स्त्री की दवा-दारु में लगाता, यह भी एक प्रश्न था। धीरे-धीरे तो यह बेचारी कब पीड़ा से मुक्त हो और कब दूसरों को मुक्त करे, यहां तक बात आ गई। पर किसी की उम्र का अन्त अपने हाथ थोड़े ही है?

पर अन्त में बड़ी प्रतीक्षा कर करा-कर यह अन्त भी आ पहुंचा। हीरा

के मरते समय के अन्तिम शब्द इस प्रकार थे : "नाथ! मैं जानती हूं कि मैंने तुमको बहुत दुखी किया है, और मुझसे तुम्हारी कुछ भी सेवा नहीं हो सकी। प्रभु से मैं इतना ही मांगती हूं कि जन्म-जन्मान्तरों में भी मुझे यही पति मिले।" कमजोरी के कारण थोड़ी देर वह चुप रही पर फिर बोली, "प्रिय! मेरे जाने के बाद तुम्हारी तबीयत की और बच्चों की देखभाल कौन करेगा, मुझे इसकी बड़ी चिंता हो रही है। मांजी का भी अब तो बुढ़ापा आ गया, इसलिये मुझे एक वचन दो ताकि मरते समय मेरी आत्मा को शांति प्राप्त हो जाये।" त्रीकम भावावेश के कारण इस समय कुछ भी नहीं बोल सका। पर मरती हुई स्त्री की इच्छा पूरी करने के लिये उसके हाथ में हाथ रख कर बिना पूछे अंतिम बार वह जो भी कहे उसे ही करने का वचन दिया। हीरा ने तुरन्त ही वह हाथ अपने दुर्बल हाथ में लेकर बड़ी मुश्किल से उठाकर अपनी आंखों से लगाया और कहा, "प्राणेश्वर! तुम इस समय इस वचन से बंध रहे हो कि मेरे मरने के बाद अपना विवाह फिर कर लेना। हां! अब मेरे मन का बोझ उतर गया और अब मैं शांति से मर जाऊंगी।" उमड़ते हुए आंसुओं को रोकने का असफल प्रयत्न करते हुए त्रीकम वहां से उठ गया।

दो घंटे बाद जैसे जीवन के सब कर्तव्य पूरे हो गये हों, इस प्रकार हीरा की आत्मा उड़ गई। त्रीकम जीवन में पहली बार दहाड़ मार-मार कर रोया। बालक बेचारे अकेले-अकेले अनाथ-से हो गये। वृद्ध माताजी की आंखों से भी अविरल अश्रु-धारा बह रही थी। "यह तो मेरे घर की लक्ष्मी थी।" उन्होंने कहा "ऐसी दिव्य-आत्मा हमारे गरीब घर के योग्य कहां थी?"

त्रीकम का शरीर हीरा की बीमारी की चिंता तथा रातों के जागरण से बिल्कुल पछड़ गया था, और उसे दमे तथा खांसी की बीमारियां भी लग-गई थीं। हीरा के बिना घर में पग-पग पर अड़चन होती। हीरा की मृत्यु को एक महीना हो गया। माताजी ने हिम्मत लाकर कहा, "भाई! अब तू कुछ विचार करे तो ठीक है।"

"क्या विचार करूं? मेरी तो सारी जिंदगी बरबाद हो गई।" शोक

में डूबे हुये त्रीकम ने कहा।

"ठीक बात है भाई! हीरा बहू जैसी तो कोई न तो हुई और न होगी ही, पर हम ठहरे इस दुनिया के आदमी। इस तरह हठ ठान लेने से कहीं काम चलता है? मेरा बुढ़ापा आ गया, ये बच्चे छोटे-छोटे हैं। कल मैं मर गई तो तेरा और तेरे बच्चों का होगा क्या?" माताजी ने स्वर में दीनता लाकर कहा, "और अपने शरीर की तरफ भी देखता है या नहीं?"

"मेरे भाग्य में सुख है हो नहीं।" निराशा से त्रीकम ने अपने सिर पर हाथ रख लिया "नहीं तो तीन तीन विवाहों में मेरा यह हाल होता? मुझे अब विवाह नहीं करना है।"

माताजी के आंसू आंखों ही आंखों में सूख गये और उनके स्वर में कठोरता आ गई, "अरे पगले, भला कहीं ऐसे काम चल सकता है? इतनी उम्र में इन बच्चों का जंजाल मेरे सिर पर डाल कर मेरे बुढ़ापे की दुर्गति करनी है? मैं तो साफ बात कहती हूं मुझ से तेरे घर का कार-भार नहीं होगा।"

त्रीकम दीन वदन से, सिर नीचे झुकाये हुए, माता जी की बात सुनता रहा। फिर विवाह करने की आवश्यकता के आगे उसे अपनी भावनाओं को संतुष्ट करने के लिये कोई स्थान नहीं था। मनमें इच्छा न होते हुए भी उसको अपनी सम्मति देनी पड़ी। जाति में उस समय कोई बड़ी लड़की न होने से एक दस वर्ष की कन्या से उसका विवाह ठीक हुआ—"आज छोटी है तो कल बड़ी भी हो जायगी। कहीं जवान आदमी से कुंवारा रहा जाता है।" माताजी ने कहा।

फिर त्रीकम भाई का विवाह पक्का हुआ, और लोगों को लगा कि यह चौथी जरूर चौक पूरेगी। चार बार विवाह होने पर तो आदमी का घर अवश्य ही बसना चाहिये। बहुत से त्रीकम की ग्रहदशा पर दया खाते, बहुत से इसके सिर पर मंगल की दशा है यह मानते थे, पर यह भी सोचते थे कि यह अंतिम विवाह सुखद ही सिद्ध होगा।

कन्या तो दस वर्ष की थी, पर सिंहस्थ का वर्ष होने के कारण विवाह

दूसरे वर्ष के लिये निश्चित हुआ। यह सारा साल त्रीकम ने अनेक पीड़ाओं में व्यतीत किया। बीच में बीमारी ने भी जोर किया और उसके सारे शरीर में फोड़े निकल आये। स्त्री को छोड़ कर ऐसे समय पर और कौन सेवा कर सकता है तथा काम आ सकता है ?

जैसे-तैसे कर साल के आखिर में त्रीकम भाई का विवाह हो गया, पर इस बार कन्या इतनी मूर्ख निकली कि विवाह की पहली रात को ही त्रीकम से डर गई और फिर उसने तो ससुराल जाने से ही मना कर दिया। घर लौटने का समय होता कि रो-पीट कर, कोठरी में घुस कर, या खिड़की के सींकचे पकड़ कर, न जाने की हठ लेकर बैठ जाती। पर हिंदू समाज में विवाहिता अर्थात् दूसरे को दी हुई लड़की को मां-बाप अपने घर में कैसे रख सकते हैं ! बहुधा उसे संध्या के समय हाथ-पैर बांध कर उठा कर घर छोड़ आना पड़ता और रात में भयभीत कन्या के चिल्लाने की आवाज या रोना जब पड़ोसियों को सुनाई देता तो या तो वे उसकी मूर्खता पर हंसते थे और या 'बेचारे त्रीकम के भाग्य में सुख ही नहीं,' यह कह कर उस पर दया दिखलाते थे।

त्रीकम ने इतनी बार विवाह किया, पर इस पत्नी जैसा अनुभव उसे कभी नहीं हुआ था। जो बात उसे बड़ी ही स्वाभाविक लगती थी, जिस पति के अधिकार का उसने तेरह वर्ष की उम्र से लाभ उठाया था वह एक नादान लड़की की हठ के कारण अस्वाभाविक हुआ जा रहा था। एक छोटी सी लड़की को वस में न कर सकने के कारण सारी दुनिया उस की हंसी उड़ाती। घर-घर और मुहल्ले-मुहल्ले त्रीकम की घर-गृहस्थ की बात एक कान से दूसरे कान में सुन पड़ती। बहुत से लोग इस ग्यारह वर्ष की कन्या के अज्ञान पर और ससुराल न जाने की हठ के कारण सारे हिंदू-समाज के भविष्य को जो भय पैदा हो सकता था, उसके प्रति सजग थे। बहुतों की यह धारणा थी कि इस कन्या से क्षेत्रपाल देवता ने विवाह कर लिया है। बहुत से त्रीकम की कायरता पर हंसते। एक चार अंगुल की लड़की की वजह से बेचारा त्रीकम आंखें ऊपर नहीं उठा सकता था। कभी-कभी इससे उसका पागलपन भी बढ़

जाता था और परिणाम-स्वरूप रात में रोती तड़पती हुई कमु का चिल्लाना पड़ोसियों को थोड़ा सा अधिक सुनाई पड़ता।

माताजी को भी बहू के ऐसे व्यवहार से कुछ कम गुस्सा नहीं आता था। बुढ़ापे में उसे शांति देने के बदले ऐसी कुपात्र बहू के कारण रोज फजीता होता और इससे उसकी आंखें छलकतीं और ऐसे समय वे सद्गुणी हीरा बहू को याद कर आंसू बहातीं।

प्रति-दिन के संताप से धीरे-धीरे कमु को दौरे पड़ने लगे, और रहे-सहे में उसकी अधरणी आ गई। थक-हार कर त्रीकम ने और उसकी मां ने कमु को पीहर भेज दिया।

सात महीने में कमु को एक मरा हुआ लड़का हुआ, और यह दुनिया जैसे उसके लिये असह्य हो गई हो, इस प्रकार उसने भी उस समय प्राण त्याग कर दिये। मरते-मरते भी भयावह मुख और फटी हुई आंखों से यह खूब भयंकर लग रही थी।

इस प्रकार झूले पर अकेले बैठे-बैठे त्रीकम के मन के आगे अतीत की ये घटनायें स्मृति-पट पर एक के बाद एक आती रहीं। और हर्ष-शोक और दुख इन सब के मिश्रित भाव उसके अंतर को प्रति-पल विभिन्न छायाओं से रंगते रहे। अंत में जब कमु के संक्षिप्त जीवन के चित्र उसके मन के आगे से गुजरे तो उसका हृदय इस प्रकार धड़क उठा कि जैसे वह एक बड़ा भारी दुस्वप्न हो; और इन सब के अंत में पल भर के लिये उसे बिजली, कान्ता, हीरा और कमु अंतरिक्ष में लटकती हुई दिखाई दीं। जैसे चारों एक साथ कह रही हों, "किसलिये चिंता करते हो? मृत्यु के उपरांत जो पुनर्जन्म होता है इसमें पति-पत्नी फिर मिलते हैं यह शास्त्र में लिखा है, इसलिए हम भी पति-पत्नियों के रूप में फिर मिलेंगे ही। आत्मा तो अविनाशी है, शरीर की भांति क्षणभंगुर नहीं। और हमने मन, वचन और कर्म से पिछले जन्म में तुम्हें छोड़ कर और किसी का ध्यान नहीं किया, इसलिए आने वाले जन्म में भी तुम अवश्य मिलोगे। त्रीकम जी! हम तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हैं; देखें जल्दी-से-जल्दी कब आते हो।" और इस

नवीन सत्य के दर्शन करा कर, आनंद-प्राप्त सुन्दरियां अट्टहास करती हुई अदृश्य हो गईं।

त्रीकम के पैर झौंटे खाते-खाते रुक गये। उसने आंखें मलीं। क्या वह प्रेतलोक में विचरण कर रहा था? क्या वह प्रेत सचमुच सो गया था या जाग्रत स्वप्न देख रहा था? क्या सचमुच ये सारी स्त्रियां जब फिर जन्म होगा तो उसमें मिलेंगी? यदि केवल हीरा मिलती तो ठीक था। यह तो बेचारी सदैव सेवातुर रही थी। उसके गिरे हुए बोल को उठा लेती थी, उसकी अच्छी-बुरी सभी इच्छाओं को पूरा करती थी। इसने तो उसे इस पृथ्वी पर परमेश्वर समझ कर पूजा था। पर ये दूसरी सब? उनका क्या? एक-एक ने इतना दुख दिया, फिर यदि सब इकट्ठी मिल गईं तो क्या ठिकाना? इसका मन शंका में इधर-उधर डोलने लगा।

पर इतने में तो दूर से लग्न के बर्तन ले कर आती हुई स्त्रियों के गाने की आवाज आई, और साथ तुरही और ढोल के स्वर, जैसे इसके समस्त स्वप्नों तथा शंकाओं को मथे डाल रहे हों, सुनाई दिये। वह खिड़की पर जा कर ध्यान से सुनने लगा। गीत के शब्द स्पष्ट सुनाई दे रहे थे—

एक आये, दूसरी आये, तीसरी तड़ामार,
मेरा बीजना रे।
चौथी चिट्ठी भेज बुलावे 'जल्दी आना'
मेरा बीजना रे।

"चौथी क्या अब तो पांचवीं आयेगी।" त्रीकम के मुंह से मन ही मन हंसते हुए ये शब्द निकल पड़े। उन आनन्ददायक स्वरों के प्रताप से क्षणभर में उन सब पुरानी स्त्रियों का ध्यान विलुप्त हो गया, और उसी क्षण मन नई बहू की आकृति का साक्षात्कार करने में लीन हो गया।

स्त्री-वृन्द प्रति-पल पास आता गया और स्त्रियों ने दूसरा गीत उठाया—

लाडडी चढ़ी रे कमाड, बालावरने नीरखवा रे,
दादा जी, ए वर जोजो ऐणे मारा मन वश्यां रे!

त्रीकम के आशातुर अन्तर में इन शब्दों ने एक नया तूफान जगा

दिया। उसने नई बहू की अपनी प्रतीक्षा करते हुए कल्पना की और उसका मुख हास्य से खिल उठा।

गाने वाली स्त्रियां घर में आई और टूट न जायें इस प्रकार बर्तन ठीक से संभाल कर रक्खे। थोड़ी देर चौक में बतासे और छुहारे बांटने की तैयारियां चलती रहीं। छज्जे की खिडकी पर से त्रीकम, गीत गाती हुई, जोर से चिल्लाती हुई और छुहारे, बतासे लेने की उतावली करती हुई स्त्रियों को लालसा पूर्ण दृष्टि से देखता रहा और इस विचार में डूब गया कि नई बहू के आने पर इनमें से किसके जैसे वस्त्राभूषण देकर उसे रिझायेगा।

पाठको! इस रात को त्रीकम का पांचवीं बार विवाह हुआ, इसमें तो कोई शंका है ही नहीं। सब के साथ हम भी इसे आशीर्वाद दें कि इस बेचारे का सौभाग्य—आया कि इस शब्द का प्रयोग स्त्रियों के लिये होता है, पर इस जमाने में हम पुरुषों के लिये भी प्रयोग कर लेने जितनी स्वतन्त्रता ले सकते हैं—अखंड रहे और प्रभु! इसे बार बार विवाह करने की पीड़ा से मुक्ति दो!

—१२

जीर्ण मन्दिर और यात्री

यात्री से—

यात्री ! तू किस लिए आया है ? तुझे यहां कौन ले आया ? पृथ्वी पर बहुत से दूसरे मन्दिर हैं। निर्दय ! तू मेरे पास कहां से भूल पड़ा ?

पगले ! मेरा गुंबज टूट गया है। मेरे गर्भद्वार के स्तम्भ झुक गए हैं। मेरी पैढ़साल की कोर झड़ गई है। अरे, मेरी दीवारें भी टूटी हुई हैं। उनकी दरारों में से पीपल के पत्ते झांकने लगे हैं और जहां-जहां दरार नहीं है वहां वर्षों से काई लगी हुई है। मुझमें तूने ऐसा क्या देखा कि तू यहां खिंचा चला आया ? तुझे यह क्या सूझा कि तू मेरे पास आ गया ? वर्षों से यहां कोई भी श्रद्धालु नहीं फटका, किसी के भी पादस्पर्शों से यहां की धूल नहीं उड़ी, और किसी के भी भक्ति-वचनों से यहां की निस्तब्धता भंग नहीं हुई। मेरे अन्तर में तो घोर शांति फैली हुई है। मैं अब आशाहीन होकर अपने विनाश की प्रतीक्षा में खड़ा हूं।

भाई ! वर्षों पहले तू क्यों नहीं आया ? उस समय मेरी सीढ़ियों पर मोंगरे के फूल शोभायमान थे। मेरी दीवालों पर हरी लता झुकी थी, मेरा गुंबज सदैव स्तोत्रध्वनियों से गरजता रहता था। मेरे देवता की सदैव पूजा होती रहती थी और देवता अपने श्रद्धालुओं को सदैव वरदान देता था।

यात्री ! तेरे मन में तनिक भी दया नहीं ? अरे भाई ! जरा धीरे चढ़ ! मेरा हृदय तेरा अपरिचित उत्साह देखकर कांप रहा है।

भाई ! भाई ! तुझसे भी अधिक उत्साही चरण इन सीढ़ियों पर थे।

तुझसे भी अधिक श्रद्धाशील व्यक्ति मुझे देख कर अहृष्ट होते थे। रूपगर्विता युवतियों के रसिक-हास्य की प्रतिध्वनियां मेरे अन्तर में गूंजती थीं। हाय! ये सब तो केवल अब स्मरणरूप में ही रह गये हैं—अरे! स्मृति-पट भी धूमिल हो गया है और अब तू आया! शांति से किस लिए नहीं बैठने देता भाई! अब तो यहां निशीथ का पवन केवल भयंकर प्रतिध्वनि करता है। निठुर चांदनी बरसती है, तब उड़ते हुए चिमगादड़ मेरे एकांत-मंडल में भयंकर और चंचल छायायें डालते हैं। कभी कभी कबूतर, मेरे पूर्वाश्रम के मित्र, पुराने शिखर में निर्लज्जता से अपने पंख फड़फड़ा देते हैं। और कभी-कभी तो अधीर सिमार प्राणघातक निराशामय आक्रंद की प्रतिध्वनि उठा देते हैं। ये मेरे वर्षों के साथी हैं। तुझ जैसा-सहचर अब मुझे अच्छा नहीं लगता। यात्री! तू किस लिए चला आया?

अरे भाई! तू चारों ओर क्या देख रहा है! इससे मुझे क्षोभ होता है। क्या मेरा समग्र गौरव देखकर तुझे हंसी आ रही है? निर्दय! ऐसा मत कर। मुझे हास्य और तिरस्कार बहुत बुरा लगता है। मुझे मेरी दुसह्य दशा का भान होते ही मेरे प्राण आकुल हो उठते हैं।

तू यह क्या कर रहा है? मूर्ख! मेरे स्थिर सूने घंटे की ओर किसलिए आ रहा है? अरे नहीं—यह घंटा तो कभी मेरे गर्व का आभूषण था। इसकी रजतमयी डोरी पर मेरा अन्तर अवलम्बित था। इसकी मधुर ध्वनि में मेरी आत्मा का उल्लास-गान सुनाई देता था। यह वर्षों से निस्पंद पड़ा है। इसकी डोरी टूट गई है। इसे स्वयं अपनी ध्वनि याद नहीं रही।

हाय! हाय! तू घंटनाद करना चाहता है? भाई, ओ भाई, नहीं, जरा तो दया कर! यह क्या कर रहा है? तुझे घंटनाद करना खेल लगता है—तेरे उत्साह का यह स्वाभाविक परिणाम है, पर मेरा क्या! मेरी अपूर्वता के समय में अपने हृदय से उतरा हुआ नाद अब कैसे सुन सकूंगा! इस नाद में मोह है, उत्साह है, मद है और मग्नता है। मुझसे अब यह नहीं सुना जायगा—यह नाद विस्मृत प्रतिध्वनि को फिर जगा देगा। इससे मेरे मनोरथों की भस्म में फिर चिनगारियां प्रज्वलित हो उठेंगी। विनाश

की प्रतीक्षा करती हुई मेरी आत्मा फड़फड़ा कर उड़ने लगेगी। मेरा जला हुआ हृदय फिर जल कर खाक हो जायेगा। भाई। ऐसा निर्दय आचरण किसलिए ? तुझसे कितना कहूं ?

अररर ! बहुत हो गया ! भाई ! बस कर ! तेरे किए हुए घंटनाद से तो मैं गूंज उठा हूं। उसने मेरे नीरस अन्तर में अकस्मात् एक माधुर्य उंडेल दिया है। इससे मेरी मृतप्राय स्मृतिदेह में फिर नवचेतना जाग उठी है। मेरी सूखी हुई अश्रुसरिताओं के अंचल में फिर से नवीन झरने झरने लगे हैं।

देवमन्दिर से—

मंदिरराज ! इतना क्रंदन किसलिए ? एक आवारा यात्री तेरे आश्रय में न आये तो कहां जाये ?

निर्जनता से तेरी भव्यता कम नहीं होती। तेरे टूटे हुए गुंबज में से विराट आकाश के दर्शन हो रहे हैं। तेरे झुके हुए स्तम्भ तेरी प्राचीनता का विश्वास करा रहे हैं। तेरी टूटी हुई दीवारें और सीढ़ियां ऐसी लगती हैं कि जैसे जगद्विजयी काल का भी तिरस्कार कर रही हों। तेरे भीतर की तरेड़ों में से फूटती हुई पीपल की डालियां बहुत से बाल-विहगों को आश्रय देती हैं। इतना आत्म-तिरस्कार ! यह किसलिये ?

और दुनिया से दूर खड़े हुए ओ देवमंदिर ! तुझे पता है कि मैं यहां क्यों आया हूं ? सनातन सत्य की भांति तू अपने गौरव में अचल खड़ा है। वहां तेरे गर्भद्वार में, चिंतनमग्न पुजारी की तरह अकेले ही घंटा बजाकर इस सनातन सत्य की प्रतिध्वनि उठाने के लिए और ग्रहण करने के लिए। कितनी ही प्रतीक्षा करती हुई युवतियां एक प्रेमी की आंखों से प्रभु के दर्शन प्राप्त करने के लिए आई होंगी। कितने ही भक्त हृदयों ने भक्ति में डूबकर, तेरी देहली के आगे बैठे-ही-बैठे अजर-अमर पद प्राप्त कर लिया होगा। कितनी ही श्रद्धालु माताओं ने बालकों के हृदयों को संस्कारी बनाने के लिए उनकी तोतली भाषा में सुन्दरसत्य की प्राप्ति यहां आकर ही करायी

होगी। राजनीतिज्ञों का सम्मान भयभीत सेवक की भांति मंदिर के द्वार के बाहर ही छिपा खड़ा रहता होगा। तुझमें से निकलती हुई धूप के सूत्र ने साथ-साथ कितनी ही आत्माओं को सुवासित कर ऊपर चढ़ा दिया होगा। भू-देवताओं के प्रतापी वेदोच्चारण ने कितने ही दुखियारों को घड़ी भर के लिए पृथ्वी से उस पार के दर्शन करा दिये होंगे। क्या तू इन सबकी कथा अपने घंटनाद द्वारा व्यक्त नहीं करेगा।

संसार को देख देख कर तो तू थक गया है। इसका आर्तनाद सुनते-सुनते मेरे कान बहरे हो गये हैं। सुख और शांति को खोजने में मैं पृथ्वी के चारों कोनों में घूमा फिरा, पर मुझे वह कहीं भी नहीं मिली। बालक की किलकिलाहट में वेदना का आभास होता है। कौमार्य के कानन में भूल-भुलैया का भय है। दम्पति के दिल में सामंजस्य के स्वर नहीं। वृद्धों के अति-विवेक में स्वार्थ की गन्ध आती है। महालयों की अटारियों में मुझे हृदय का सुख दिखाई नहीं दिया। दरिद्रों की झोंपड़ियों की पुकार ने मुझे आरपार बींध डाला। प्रकृति की हिंसक-वृत्ति ने मेरे अन्तर में उत्पात मचा दिया। हताश होकर मैं तेरी अखंड शांति में से प्रेरणा प्राप्त करने का अंतिम प्रयत्न करने के लिए आया हूं। ओ निश्चल ध्यान में डूबे हुए योगीराज ! तू जाग और मेरी बहरी होती हुई वृत्तियों को जगाने का पुण्य ले। अपनी समाधि में से तुझे इस प्रकार जगा देने से तू नाराज तो नहीं हुआ न ?

बाबा ! तुझे कहां पता है कि मेरी सहवास-प्राप्त सब वस्तुएं मुझे एक अद्‌भुत रूप में आकृष्ट करती हैं ? तेरे प्रतिदिन के साथी गीदड़ों का रुदन और कबूतरों की फड़फड़ाहट में भी मुझे एक अद्‌भुत संगीत सुनाई देता है। तेरी एकांत पैड़ियों पर बैठ कर शीतल चांदनी में स्नान करना जीवन की एक अनुपम आनन्द-प्राप्ति लगती है।

वर्षों से अपने नीरव अन्तर में, तू अपने घंटे द्वारा, अपने भव्य-भूत-काल के स्मरणों और श्रवणों को फिर से सजीव नहीं करने देगा ? अपने तिरस्कार से मुझे निरुत्साह मत कर, अपनी भव्यता से मुझे घबरा मत दे।

मैं तेरी शांति को विनष्ट करने नहीं आया हूं। मेरे गुंजन से तेरी

गंभीरता भंग नहीं होगी। तेरी शांति और सहवास को तो मुझे अद्वैत-भाव से जोड़ना है।

मेरे अधिकार की उपेक्षा मत कर। सब दुखियों को देवमंदिर में आश्रय पाने का अधिकार है। यदि मैं तेरी मुरझाई हुई लताओं और तुलसी की क्यारी को सींचने का अपराध कर दूं तो भी क्या तू अधिकार का प्रश्न उठायेगा?

तेरे घंटनाद की प्रतिध्वनि मंदिर में ही नहीं, बल्कि मेरे अन्तर में भी ध्वनित हो रही है। अकेली पड़ी हुई देवमूर्तियों में भी इससे चेतना प्रवाहित होती हुई दिखाई दे रही है। तेरे पत्थर में लिखी हुई कुछ पुरातन कथाओं में भी सजीवता आ रही है। क्या अब भी तू मना कर देगा?

तुझे भय लग रहा है। या तुझे ऐसा तो नहीं लग रहा कि तेरे गौरव की क्षति हो जायगी? अपनी विशालता में क्या तू मुझ-जैसे एक भी प्रवासी को नहीं समा सकता?

यात्री से—

यात्री! तू जानता है कि तू क्या कह रहा है? तू सच कह रहा है अथवा झूठ! मेरी हंसी उड़ा रहा है या बाल्यावस्था से मंदिर-मंदिर भटक कर प्रत्येक मंदिर में इस प्रकार के भक्तिवचन बोलने की आदत पड़ जाने से, बोले चला जा रहा है? यह बात हो तो भी भले ही पल भर के लिए तो मैं छला जाना चाहता हूं। मैं यह माने लेता हूं कि तेरे शब्दों में सत्य निहित है।

पर भाई! यहां निवास करने से पहले तू विचार तो कर! मैं तो खंडहर हूं और तू नये मन्दिरों की मोहकता के पीछे मर मिटने वाला प्रवासी है! मैंने शताब्दियों की सहनशीलता से निश्चलता और स्वास्थ्य प्राप्त किया है। तेरे लिए जीवन का अर्थ चंचलता तो नहीं? तू यहां निवास करके क्या करेगा? तुझे यहां कैसे भायेगा?

क्या तू समझता है कि तुझे यहां अच्छा लगेगा? शांति मिल जायेगी? विचार कर, अधीर! जरा अन्तर के गाम्भीर्य का निरीक्षण कर। यह क्षणिक

शौक तो नहीं ? इस मोह का केवल वैविध्य-लालसा से तो जन्म नहीं हुआ ? कभी मैं अन्धकारमय एकान्त में डूबा रहता हूं, कभी मैं कर्त्तव्यपरायण की तरह कठोर धूप में तपता रहता हूं। कभी भावना-सदृश शांत और क्रूर चंद्रिका में पड़ा रहता हूं। पता है तब तुझे कितनी आकुलता का अनुभव करना होगा ? तू दूसरे ही क्षण ऊब कर यहां से चल देगा—तब मेरी स्वाभाविक निर्जनता तुझे अस्वाभाविक लगने लगेगी और मेरे हृदय का घाव फिर हरा हो जायेगा, इसलिए एकदम निश्चय पर मत आ।

भाई ! तू पूछ रहा है कि क्या मैं तुझे समा सकूंगा ! वास्तव में पूछना तो यह है कि तू मुझे समा सकेगा ? अगणित वर्ष बीत गए जब मेरे शिविर का सुवर्ण-कलश उदित रवि की किरणों को भी सोने से मंढ़ा हुआ लगता था, तब—कोई एक आया था। वह तुझ जैसा प्रवासी नहीं था। पर उसे तो अलकापुरी का जीवन चाहिए था और मुझे देख कर उसने तेरी तरह—अरे, तुझसे भी अधिक सत्ताधिकार से—यहां रहने का निश्चय किया। उसके पैरों में तुझसे भी अधिक कूदने की शक्ति थी। मेरे प्रति उसमें तुझसे भी अधिक अचल श्रद्धा थी। वह यहां रहा—केवल थोड़े ही दिन। फिर उसे कारावास का निमंत्रण आ गया। उसे उठा कर ले गये। यात्री ! उस समय मुझ पर क्या बीती। यह मैं तुझ से कैसे कह सकता हूं ? मेरे लिए तो सृष्टि जैसी थी वैसी फिर कभी हुई नहीं।

वर्षों तक—कितने वर्षों तक, यह तो मुझे याद नहीं—मैंने उसके स्वनिर्मित लता-मंडप को सुरक्षित रक्खा। प्रतिदिन उसके उल्लासपूर्ण पगध्वनि की प्रतीक्षा की। प्रतीक्षा करते-करते युग बीत गए—आशा ही आशा में, पर वह नहीं लौटा। यात्री ! कभी तूने बैठ कर किसी की पगध्वनि की प्रतीक्षा की है ? हृदय में तो पगध्वनि सुनाई दे पर बाहर सुनाई न दे, ऐसी हृदय-भेदक स्थिति का अनुभव किया है ? तेरे भाग्य में मेरी तरह गर्व और स्वस्थ-भाव से खड़ा रहना नहीं लिखा है।

जब तू आया तब मुझे भ्रम हुआ, और तेरा बाहरी दिखाव तथा तेरा उछलता हुआ उत्साह देख कर मेरा भ्रम और भी बढ़ गया। मुझे ऐसा

आभास हुआ कि जैसे मेरे जीर्ण कलेवर में नवजीवन का संचार होता जा रहा हो। मैंने पल भर के लिए कल्पना-विलास की पराकाष्ठा का अनुभव किया, फिर तुझे देखा। मैंने भ्रम में से निकलने का प्रयत्न किया। तू किसलिए मेरे इस प्रयत्न को सफल नहीं होने देता? भाई, जहां से आया है वहीं चला जा। तू कहे तो तुझे रास्ता दिखा दूं।

देख! तू आराधना-प्रेमी प्रवासी है। तू यहां रहेगा और क्षणिक भक्ति की मादकता में सब डुबा देगा। जहां शांति है वहां तू तूफान मचा देगा, जहां समाधिस्थ के योग्य वीरता है वहां तू नरसिंह महता की तरह पद गा-गा कर उसे भंग कर देगा। जहां से रज भी नहीं खिसकी वहां से तू पैर ठोंक-ठोंक कर धूल का ढेर का ढेर उड़ा डालेगा। मैंने तेरा स्वभाव परख लिया है। तू निवास करेगा—धृष्टता से, एक स्वामी के-से अधिकार से। पर तू ऐसे पड़े हुए पुराने मंदिर को पथिकों के विश्राम-स्थान की तरह धर्मशाला की अधोगति पर तो नहीं पहुंचायेगा?

यात्री! नाराज मत होना। मैं तेरे गुणों का कीर्त्तन नहीं करना चाहता। यदि तू सदियों पहले यहां आया होता—तेरे और मेरे भाग्य में यहां रह कर जीवन बिताना लिखा होता—तो काशी विश्वेश्वर मंदिर का-सा सौंदर्य और भव्यता मुझे प्राप्त हो जाती। पर विधि ने महत्ता, अपूर्वता और सौंदर्य को असाध्य रखने का व्रत ले लिया है, यह तुझे पता नहीं? इसलिए अब ऐसा लगता है कि जैसे इनको साधने के स्वप्न भी पागलपन के चिह्न हों।

पथिक! इस असाध्यता का पता लगते ही मैंने यह पागलपन छोड़ दिया था, और अपनी इस टूटी-फूटी स्थिति में मैं एक ही आशा को लिये बैठा था कि काल की उपेक्षा करते हुए भग्न होने पर भी स्वस्थ तथा प्राचीन भव्यता की साधना का प्रयत्न करते हुए मैं खड़ा रहूंगा और जब गिर कर खंडहर हो जाऊंगा तब मेरे टूटे हुए स्तम्भों की काल्पनिक कारीगरी देखने के कोई विस्मृत वस्तुओं का प्रेमी आकर मेरे आंगन में खड़ा हो जायगा।

भाई! पर यदि तू यहां रहेगा तो मेरी यह आशा भी नष्ट हो जायगी, मुझे यही शंका हो रही है। यदि तेरे संस्कार केवल शोभा के ही होंगे, और

यदि तेरी श्रद्धा केवल उड़ते हुए प्रवासी की-सी ही होगी तो मेरा कथन तेरी समझ में नहीं आ सकता। यदि मनस्वी पूजा और वैविध्य के मोह से तू प्रत्येक मंदिर में घंटनाद करने में ही आनन्द का अनुभव करता होगा तो पल भर में तुझे मेरे इस मंडप का वातावरण अरुचिकर हो जायेगा। यात्री! देख! यदि तुझे जरा भी ऐसा लग रहा हो तो स्पष्ट कह देना। तुझे कदम-कदम पर मंदिर मिलेंगे—और मेरी निर्जनता कोई नवीन नहीं।

पर यात्री! तुझ से पूछूं! संकल्प और श्रद्धा तेरी रुचि के अनुकूल है? मेरे व्योमविहारी शिखर, दारुण धूप में तपने वाले मंडप तथा शीत से भरे हुए गर्भद्वार में तुझे संतोष मिल जायेगा? सहना तो पड़ेगा, हृदय निरुत्साह हो जायेगा, वर्ष त्रास में बीतने लगेंगे, पर तप के बिना फल सिद्धि सुनी है? विविधरंगी काल की किसी भाग्यशाली घड़ी में हम निर्मल एकाकारिता को साध सकेंगे। तब अरे एकाकी पथिक! तू उच्चाभिलाषी मुनिवर का पद प्राप्त कर लेगा और मैं जीर्ण मंदिर पूज्यता के आवास सदृश दिव्य मंदिर बन जाऊंगा? तू यदि यात्रा का क्षणिक मोह छोड़ देगा तो मैं विनाश की प्रतीक्षा करना छोड़ दूंगा। और भविष्य के श्रद्धालु जन मान और गर्व छोड़कर प्रेरणा की खोज में यहीं आया करेंगे और उत्साहपूर्ण हृदय से हमारी भावनाओं द्वारा साधी हुई एकाकारिता से पवित्र बनी हुई पुण्यभूमि के दर्शन कर कृतार्थ हो जायेंगे।

यात्री—एकाकी यात्री! हंसी आ रही है क्या? या किसी दूसरे मंदिर के अधिक आदर्शपूर्ण निमंत्रण याद आ रहे हैं? या मूढ़ और जर्जरित मंदिर की पगली बातों पर तिरस्कार छूट रहा है? तो खुशी से मेरे यात्री! अपना रास्ता पकड़ और मौज कर। जैसे श्रद्धालु के स्मरणों को मैंने अपने पास रक्खा वैसे ही तुझे भी रख लूंगा—और विनाश की प्रतीक्षा में जैसे खड़ा था वैसे ही खड़ा रहूंगा।

देवमन्दिर से—

मन्दिर राज! तेरे आश्रम में आकर बसे हुए, बहुत समय बीत गया। तेरी

घंटाध्वनि को हृदय में उतरते-उतरते आज तो वर्षों हो गये। तेरी अकेली भव्य निर्जनता में सहयोग देते हुए अथवा उसी का एक भाग बनते हुए तेरे अन्तर में बसने का लोभ देने वाले वर्षों को गिनना भी मुझे याद नहीं रहा। इन वर्षों का आरम्भ कब हुआ, उसे लिख लेने की बात मुझे नहीं सूझी। चाहे इनका अन्त ही आनेवाला हो, पर मुझे इस बात को सोचने तक की पर्वाह नहीं। स्मृति की सीमाओं में हमारा साहचर्य संकीर्ण नहीं होगा। विस्मृति के सागर में यह डूबेगा भी नहीं। आकाश सदृश यह तो सदैव व्याप्त ही रहेगा।

देव मंदिर ! वर्षों पहले जब मैं तेरे दर्शन के लिये भिक्षुक सदृश आकर खड़ा हुआ था, वह दिन तुझे याद है ? अपने अडिग और अडोल शिखर पर फहराती हुई ध्वजा से तू मुझे निमंत्रण दे रहा था अथवा विदा की सूचना ! ऐसा लगता था कि जैसे युगों के एकांत से तेरे हृदय में ध्यानस्थ योगी की सी निर्विकारता आ गई हो। मेरे चरणों से अपने में मानवता का प्रवेश देखकर तू घबरा गया था, वह तुझे याद है ? चिरकाल से मनुष्य का पदसंचार होने के कारण तेरा गर्भद्वार उपेक्षा से मेरा तिरस्कार कर रहा था। मुझ-जैसे दीन याचक को देखकर भूदेव और श्रीदेवी के प्रिय शुभ अतिथियों से पावन भव्यभूत काल तुझे याद आ गया था। तेरे स्मरणदेश में फिर मदभरी चाल से डोलती हुई सुन्दरी-समुदाय के कंठों की स्वर-लहरी सतेज हो गयी थी। वेदों के गान और धूप की गंध की स्मृति ने तेरी खिन्नता को और भी बढ़ा दिया था। फिर भला ऐसे भव्य भूतकाल के उत्तराधिकारी को दीन याचक का अर्घ्य स्वीकार करते हुए खेद न होता क्या ? तेरे गौरव की क्षति हो जायगी, यह बात तुझे कष्ट नहीं दे रही थी क्या ?

ब्राह्मण की पवित्रता अथवा योद्धाओं का प्रताप मुझमें नहीं था। सुन्दरियों की-सी सुकुमारता और लालित्य भी मुझमें नहीं था। वेदगान से अनुभूत शांति और सहृदयता भी नहीं थी। मस्तिष्क को मस्त करने वाली सुवास भी नहीं थी। मेरे शरीर पर तो व्यर्थ के प्रवास की धूल चढ़ी हुई थी। मेरे वस्त्रों की मलिनता मेरी दरिद्रता का दर्शन करा रही थी।

घूम-घूमकर जैसे मेरी आत्मा थक गयी हो , इस प्रकार सुस्त अथवा शून्य की तरह मैं विश्राम की प्रतीक्षा में खड़ा था । मेरी मलिनता और दुर्बलता देखकर तुझे दया आयी थी या तू कांप उठा था ?

तेरे महानुभाव हृदय में मेरी दीनता देखकर उदारता के झरने फूट पड़े और तूने मुझे आश्रय दिया । तेरे अंतर्भाग में विश्राम करते-करते बहुत वर्षों तक मैं सुख की नींद सोया । मुझे ऐसा लगा कि जैसे चुपचाप मेरे हृदय का भार ढलता चला जा रहा हो, घटता चला जा रहा हो । दूर बोलते हुए गीदड़ के स्वर भी मुझे संगीत की भांति मीठे और मेरी निद्रा को मधुर करते हुए लगे । विभावरी के श्यामल अथवा श्वेत वस्त्रों की सुरसुराहट में मृदंग सदृश तरुओं के स्वर, अनिल से फरफराती हुई ओढ़नी ओढ़ कर बाजे बजाती हुई नदी की भांति मनोरंजक बन गये । उड्गणों के प्रकाश-स्वरों में से मेरे नयनों की चमक बढ़ी । तेरी अपूर्व एकांत भावना को अपनी वीणा के तार से भरने के लिए नहीं, बल्कि इसकी अपूर्णता को भरने के लिए । तेरे द्वार पर बैठ कर किसी को सुनाने की पर्वाह न कर तेरी गुण-गाथाओं के गान दिशाओं को सुनाने बैठा हूं । अब पलों की गणना नहीं रही । सूर्य प्रति-दिन इधर झांक कर चला जाता, प्रत्येक पूर्णिमा को आश्चर्य-मुग्ध निशानाथ, इधर भी दृष्टि डालने के लिए आता । पृथ्वी कितने वर्षों की परिक्रमा कर गई । युग अथवा कल्पों का कोई हिसाब नहीं रहा और तेरे कीर्ति-स्तोत्र गाते-गाते मेरा कंठ अथवा मेरी वीणा थकेगी भी नहीं ।

जीर्णता का तिरस्कार करने वाले मन्दिर ! तेरे पास रह कर मैंने क्या क्या पाया है यह तुझे पता है ? पृथ्वी का परिभ्रमण करते-करते और विविध धामों की यात्रा करते-करते, घर की कलुषता देख-देख कर मेरी दीनता बढ़ गई थी । तेरे शांत और स्वस्थ आवास में आते ही पता नहीं मेरी यह दीनता कहां पिघल गई । रात्रिवास करने की प्रति-दिन की चिन्ता के बदले निर्भयता की रजाई में आराम करने की ऊष्णता प्राप्त हो गई । तेरे गर्भद्वार में स्थापित देवों को जगाने का प्रयत्न करने में मुझे

जीवन की सार्थकता का अनुभव हुआ। निद्रा-सदृश तेरी चेतनामयी स्थिरता में घंटनाद गुंजा कर उसकी प्रतिध्वनि में तुझे डोलते हुए देख कर मुझे ऐसा लगा कि जैसे यह ही मेरा परम कर्तव्य हो। और इस घंटध्वनि से मेरी प्रेत-सदृश तेजविहीन देह में भी नवप्राणों का संचार हो गया, इसका तुझे पता है। जीवन निरुद्देश्य था, तेरे साथ रह कर मुझे इसका परम मर्म मिल गया। तू पापों को भस्म करने के लिए और पुण्य का पथ दिखाने के लिए यहां खड़ा है। मेरे चित्त की मलिनता तेरे गंभीर प्रभाव के दर्शन करते ही कहीं लुप्त हो जाती है। तू तो महाजनों से पूजित है, पर गरीब यात्रियों की भी पूजा स्वीकार कर। जो तू उन्हें कृतार्थ होने का अवसर देता है, यह तेरी महानुभावता है। भूले-भटके को तूने विश्राम-स्थल दिया और इस प्रकार निराश्रित का तू आश्रयदाता बना।

तेरी सीढ़ियों पर बैठ कर मैंने क्या देखा उसकी कहानी सुनने में तुझे आनन्द आयेगा ? यात्रियों को पावन करने के लिए तेरे तीर्थकुंड की पवित्र जल-तरंगावलियों में मैंने अनेक पुण्यात्माओं के संकल्प देखे । उसमें तैरती हुई सारस की जोड़ी देख कर मैंने एकता का पाठ सीखा। इसमें उगे हुए कमलों की निर्लेपता देख कर मुझे संसार में सन्यास-साधना की कुंजी मिल गई। रात्रि के समय दूर होने पर भी जैसे पास हो इस प्रकार तारकों को इस जल की गंभीरता में छिपते हुए तथा क्रीड़ा करते हुए देख कर दूर होने पर भी पास बसने वाले प्रेमियों के अन्तर के रहस्य से परिचय हो गया। गाढ़ तिमिर की घिरी हुई गहनता में मैंने विराट के चरणों की पग-ध्वनि सुनी। पवन से हिलती हुई वृक्षावलियों में होकर आती हुई अनन्त की आवाज भी मैंने तेरे चबूतरे पर बैठ कर ही सुनी। रसीली वर्षा में मैंने निर्मल और स्वच्छ हृदयों के दर्शन किये। शीतकाल की लम्बी रात्रियों में मैंने प्रेमियों की समाधि परखी। वसन्त की नवोत्फुल्लता में मैंने सृष्टि का विकास देखा। मैंने क्या क्या नहीं देखा ! शास्त्रों का यह कहना है कि एक को जान कर सबको जाना जा सकता है। तुझ एक को जान कर इस निर्जनता तथा नीरवता में भी विश्व के रहस्यों से परिचित होने का सौभाग्य मुझे मिला। मेरी अज्ञानता का

आवरण केवल तेरे सान्निध्य मात्र से ही दूर हो गया। तेरे देवताओं की आरती उतारते हुए मुझमें प्रकाश अवतरित हो गया। कितना कहूं! मुझे क्या नहीं मिला, बस अब यही खोजना शेष रहा है।

पर मंदिर-राज! सच कहना। अपनी उदारता से चाहे तुझे संकोच ही क्यों न हो, पर फिर भी एक बार इस संकोच को दूर कर सत्य कहने में मत हिचकना। यात्री का दीवानापन क्या तुझे कभी-कभी अरुचिकर नहीं हो जाता? इसकी दीनता देख कर अनुकम्पा बढ़ती होगी। तब भी कभी-कभी क्या तेरा अन्तर कांप नहीं उठा था? इस पागल की वीणा को बेसुरी बजते देख कर तूने कभी घृणा से अपना सिर नहीं धुना क्या? तेरे एकाकीपन और गौरव में यात्री की पगध्वनि का विघ्न क्या कभी तुझे असह्य नहीं हुआ? जैसे तेरी सहिष्णुता को अपनी कसौटी पर कस रहा हो ऐसे अपने पागल-प्रलाप से क्या कभी तेरी अभंगता भी भंग नहीं हो जाती होगी? क्या कभी मेरे दुर्बल देह की विरूपता देखकर सौंदर्य दर्शनों से अभ्यस्त तेरी आंख मेरी ओर देख दया से नहीं हंस पड़ी होगी?

जलधि सदृश तेरे हृदय की सब को अपने में समाहित कर देने वाली विशालता के साथ यदि मैं अन्याय कर रहा होऊं तो मुझे क्षमा कर देना। तेरे गांभीर्य में डुबकी मारते हुए मैं घबराता हूं। तेरा अंतर तो अमृत-विष, जल-अनल, रत्न-कंकड़ सभी को अपने में समाहित किए हुए है। मुझे यह देखना नहीं आता तो इसमें मेरा क्या दोष? विशाल समुद्र में से भी घड़ा तो अपनी योग्यता के अनुसार ही ग्रहण करता है। निर्जीव दिखाई देने पर भी तू सजीव रहा है। दृढ़ और अडिग लगते हुए भी तूने अपने में जीवित द्वन्दों को समाये रक्खा है। इसे परखने की मेरी अशक्ति को तू जानता है, तूने कहीं कम प्रसाद भाव दर्शित नहीं किया, फिर मैं शंका किस लिए करूं?

चिरकाल के साथी! मेरी आयु की अवधि अब पूरी होने को आ गई है। तेरे आंगन में उगी हुई मोंगरे की कलियों के हार गूंथ कर अलका की मंदार-मालाओं सदृश उसके तोरण तेरे द्वार पर बांध कर और उनकी शोभा निरख कर मैंने अपने जीवन के सुख और सौभाग्य को यहीं प्रत्यक्ष कर लिया

है। विभिन्न पवनों द्वारा लायी हुई एक-एक कण में अनेक प्रदेशों के इतिहास की कथा पुस्तक की तरह धूलि की आश्चर्य भरी कहानियां सुनकर दो पहर यहीं बिताये हैं। तेरे शिखर के कलश से टकराकर लौटती हुई प्रकाश की धाराओं को पकड़ने वाली चकाचौंध आंखों ने यहीं हर्ष के आंसू बरसाये हैं। तेरी भूत-काल के पर्दे के पीछे देखने की और भविष्य को प्रकाश में लाने की शक्ति की मैंने मूक प्रशंसा की है। वह स्थल भी यही है। तेरी गंभीरता के पीछे से अकस्मात् कूद पड़ने वाली मानवता के चमत्कार को विस्मित नेत्रों से देखने का सौभाग्य प्राप्त करने का तीर्थ-स्थल भी दूसरा कोई नहीं।

और अब तू ही मित्र है, सखा है, प्रियतम-बन्धु है, जो कुछ भी है—तू ही है। आज तुझसे विदा मांगता हूं। मृत्यु ने मुझे निमंत्रण भेजा है तो युगों का सहवास छोड़कर जाने वाले मेरे प्राण आज मेरा कहना ही नहीं मान रहे हैं। तुझे अन्तिम बार देख लेने के लिए दृष्टि स्पर्धा करने लगी है। तू तो अपनी उन्नति और दृढ़ता से काल को पराजित करता हुआ युगों तक अकेला और अडोल खड़ा रहेगा, और मुझ-जैसे अनेकों-भूले भटके यात्रियों का आश्रयदाता बनेगा। तेरी इस महत्ता से मैं ईर्ष्या नहीं करता। तेरी महत्ता के अनुरूप ही तेरे कार्य हैं। पर अपने भूतकाल के बहुत से संस्मरणों की पुस्तक में मेरे नाम के एक अक्षर जितनी जगह भी यदि तू रख लेगा तो मैं अपने को कृतार्थ हुआ समझूंगा।

प्रिय मन्दिर! यह मेरा अन्तिम प्रणाम! शब्द कण्ठ में अटके जा रहे हैं, पर अभी कहने को बहुत कुछ शेष है। दृष्टि के आगे धुन्धलापन आता जा रहा है फिर भी तुझे पूर्णतया देख लेने का संतोष नहीं होता। शरीर जड़ होता जा रहा है, पर तेरे पत्थर के स्पर्श का अब भी मैं अनुभव कर रहा हूं। गोपियों को ब्रज प्रिय था इसलिए उन्हें बैकुण्ठ नहीं जाना चाहिए था। मुझे मन्दिर छोड़कर यमराज के अज्ञात देश में जाना ठीक नहीं जंचता, पर यह आमंत्रण अब नहीं लौट सकता। प्रिय मं-दि-र! इ-स-प्र-वा-सी-का-प्र-णा-म-!

यात्री से—

यात्री को प्रश्नों का उत्तर देने का अवकाश नहीं मिला—नहीं मिला। हां, उत्तर में मेरी वाटिका के जो जंगली फूल तोड़े थे उन्हें ही मेरे चरणों पर चढ़ा दिया।

शाबाश! यात्री, तुझे भी यही शोभता था, और मुझे—आशा का अधिकार न होने पर भी आशा रखने की धृष्टता करने वाले को भी यही दंड उचित था। तुझे यह भी विचार नहीं आया कि ये मुरझाये फूल भी किसी दिन कोई स्मरण करा सकते हैं? कुछ नहीं तो एक प्रकार का विनोद का साधन ही रहता।

जीर्ण और जर्जरित—मुझ को तेरे सहवास का अधिकार कहां से हो सकता है? तू जा अपने रास्ते, मैं फरियाद नहीं करता। क्रन्दन से आकाश को गुंजाना मुझे शोभा नहीं देता।

तुझे जाना है? जा। मैं अपनी एकान्तता के वसन में लिपटकर जैसा खड़ा हूं वैसा ही खड़ा रहूंगा—विनाश की प्रतीक्षा में। शिवास्ते पंथानः सन्तु।

दो बहनें

प्राचीन काल में कौशांबी नगर में जीवदत्त नाम का एक व्यापारी था। वह भगवान महावीर का धर्मानुयायी था और दिन-रात जीव-दया में चिंतित रहता था। वह चार करोड़ रुपये की संपत्ति का स्वामी था।

उसकी चंद्रकला सदृश अत्यंत लावण्यमयी सुकला और सुमाला नाम की दो लड़कियां थीं। दोनों के रूप, कला और चातुर्य से आकर्षित हो कर देश-विदेशों के सेठ उनसे विवाह करने के लिये उत्सुक थे। पर उन दोनों रूप-गर्विता बहिनों की दृष्टि में कोई भी प्रीति के योग्य नहीं जंचता था।

इन्हीं दिनों मगध में श्रेणिक नाम का राजा राज्य करता था। वह अत्यंत पराक्रमी, समस्त विद्याओं का ज्ञाता और विद्वानों का आश्रयदाता था। दसों दिशायें उसके कीर्ति-गान से गूंज रही थीं। इस के नाम मात्र से शत्रु-स्त्रियों के कंकण सरक कर गिर पड़ते थे। इसका आठ बुद्धियों वाला अभय कुमार नाम का महा-विचक्षण मंत्री था, और इस मंत्री का रूप था कामदेव को भी पराजित करने वाला। इस प्रकार यह राजा मित्रों के आनंद और शत्रुओं के त्रास का कारण बन कर सुख से राज्य कर रहा था।

इस राजा के बल, पराक्रम और स्वरूप के वर्णनों से जिसके कान भर गये थे ऐसी, व्यापारी जीवदत्त की बड़ी लड़की सुकला ने उस राजा से विवाह करने की बात सोची।

एक दिन पिता के प्रासाद के पास वाले उपवन में सुकला अपनी बहिन सुमाला के साथ फूलों की गेंद से खेल रही थी, इतने में जैसे कुछ याद आ

गया हो, इस प्रकार सुकला सुमाला से बोली, "बहिन तू मुझे बड़ी प्रिय है, तुझसे मुझे एक गुप्त बात कहनी है यदि तू सावधान हो कर सुने।"

बड़ी बहिन की बात सुन कर सुमाला अत्यंत आश्चर्य-चकित हो वीणा के-से मीठे और आनंद-दायक स्वरों में बोली "बहिन ! ऐसी कौन सी बात है जो तूने मुझसे आज तक गुप्त रक्खी हो ? बचपन से हम आज तक जैसे भिन्न शरीर हों और एक आत्मा हो इस प्रकार रहते आये हैं, फिर भी तूने अपने अंतःकरण में प्रच्छन्न रूप से कोई गुप्त बात रक्खी है इससे मुझे आश्चर्य होता है, और इसे जानने के लिये मेरे मन में कुतूहल भी है। इस लिये हे बहिन ! वह बात तू मुझे जल्दी ही बता दे।"

अपनी बहिन की ऐसी आतुरता देख कर अत्यंत मृदु-हास से सुकला कहने लगी "हम दोनों सेठ कुल में पैदा हुई हैं और हम दोनों युवा भी हो गई हैं। हमारे रूप-गुण से आकर्षित होकर देश-विदेश के श्रेष्ठिपुत्रों की याचनाओं से हमारे पिता के कान बहरे हो गये हैं, और हम को युवा देख कर इन्हें भी हमारे विवाह की उतावली है, पर मेरी प्रिय सखी सदृश बहिन ! मेरा मन किसी भी श्रेष्ठिपुत्र में आसक्त नहीं होता। पुरुषों में सर्व श्रेष्ठ महाराज श्रेणिक के अतिरिक्त दूसरे किसी व्यक्ति से विवाह करने की मेरी इच्छा नहीं। इस लिये हे सुमाले। या तो मैं नरशार्दूल महाराज श्रेणिक से विवाह करूंगी और या काष्ठभक्षण कर अपने प्राण दे दूंगी, यह तू निश्चय ही समझ।"

बहिन की बात सुन कर सुमाला आश्चर्य चकित हो गई और कुछ भी न कह सकी। इतने में छिपती हुई सूर्य की किरणों से मुंदती हुई कमलिनी को देख कर सुकला तुरन्त बोली—"बहिन ! कामियों में श्रेष्ठ महाराज श्रेणिक के पास मैंने अपने मनोभाव को व्यक्त करने वाला संदेशा भेजा था। उसने अपनी कामकला नाम की चतुर दूती द्वारा आज रात के पहले पहर में आने का संदेश कहलाया है। इसके आने का समय लगभग होने ही वाला है, इस लिये महल से जब तक मैं अपने रत्नाभरणों का डिब्बा लाऊं तब तक तू यहीं रुक, और मेरी

अनुपस्थिति में यदि वे आ जायें तो उन्हें मेरे आने की सूचना दे कर यहीं रोक लेना। मैं जल्दी ही आ पहुंचती हूं।"

इतना कह कर स्त्री-स्वभाव के वशीभूत हो सुकला सुमाला को अकेले छोड़ कर रत्नाभरणों का डिब्बा लाने के लिये विद्युत-गति से प्रासाद की ओर बढ़ गई।

तदुपरान्त सुमाला, जैसे उसकी बड़ी बहन ने मजाक की हो, इस प्रकार हंसती हुई इधर-उधर घूमने लगी। उस मनोहारिणी बाला की गति देखने के लिये बालेन्दु, जैसे आकाश की अटारी में स्तब्ध हो गया हो, इस प्रकार जरा अपने स्थान पर स्थिर-सा हो गया, और वह सुन्दरी ओठ पर तर्जनी रखकर कुछ गंभीर विचार करने लगी।

इतने में जैसे अंतरिक्ष में से आ रहा हो ऐसा वेगवान अश्वों वाला एक रथ किसी दिशा से धूल के बादल उड़ाता हुआ आया और सुन्दर रूप-वाली उस बाला के सामने खड़ा हो गया। अन्दर से एक सुन्दर पुरुष निकला और उस बाला का मनोहारी रूप देख कर जैसे उसे बड़ी प्रसन्नता हुई हो, इस प्रकार क्षण भर के लिये देखता रहा। रथ से उतर कर वह उस बाला के पास आया और मुग्ध करने वाली वाणी में कहने लगा "सुन्दरी! तुम इस रथ में बैठ जाओ, इस समय यहां मैं तुम्हारे ही लिये इतना कष्ट उठा कर आया हूं। तुम्हें देखकर मुझे लगता है कि मेरा आना सफल हो गया।"

उस समय सुमाला कुछ बोलने ही वाली थी पर देर हो जाने के डर से उसे बोलने का अवसर न देकर उस पुरुष ने उसे हाथों में उठा कर रथ में बैठा दिया और भयभीत मृगी की भांति वह भी कुछ न बोल सकी।

अभी उस रथ से उड़ी हुई धूल के बादल भी पूर्णतया शांत नहीं हुए थे, इतने में रत्नाभरणों का डिब्बा लिये हुए सुकला वहां आ पहुंची। जैसे कोई अमंगल हो गया हो इस प्रकार उसका दायां नेत्र फड़क रहा था। अपनी बहिन को वहां न देखकर वह धक् रह गई और अधिक ध्यान पूर्वक देखने पर किसी पुरुष के चरण-रथ के पहियों के चिन्ह इत्यादि देख कर

अनुमान से उसने घटना की कल्पना कर ली।

पंख कटे हुए पक्षी की भांति वह भूमि पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी और धूल में लोटने लगी तथा अत्यंत करुण-स्वर में क्रंदन करने लगी— "हा धिक्! हा धिक्! बहिन मैंने तेरा विश्वास किया था, पर तू ही विश्वास-घातिनी बन कर मुझे धोखा दे कर चली गई? प्रेम में स्त्री के लिये विश्वास-घात से अधिक कातर और कोई दुख नहीं। हे प्रियतम! तुम भी दूसरी सुंदर स्त्री को देख कर, जो केवल तुम पर ही आश्रित थी और जिसके प्राण तुम पर ही टिके हुए थे, उसकी प्रतीक्षा न कर सके?" सुकला के इस प्रकार के आक्रंद से घोसलों में छिपे हुए पंछी भी उद्विग्न हो कर रोने लगे और बहुत से अपने भयभीत बच्चों को आश्वासन देने लगे।

"अहा! इस संसार को धिक्कार है कि जहां स्वार्थ के वशीभूत हो कर अपने प्रियजनों को धोखा देते हुए भी लोग नहीं शरमाते। मुझ-जैसी विश्वास में डूबी हुई भोली बालिका का जीवन नष्ट करने वाले इन दोनों का कभी भी कल्याण होने वाला नहीं। हा विधाता! मेरी बहिन के हाथ से ही मेरे जीवन को विषमय बनाने की अपेक्षा थी, तो पैदा होते ही तुमने मेरे प्राण क्यों नहीं ले लिये?"

इस प्रकार अत्यंत शोक से व्याकुल होकर सुकला बारंबार मूर्च्छा को प्राप्त होने लगी और मूर्च्छा उतर जाने पर रुदन करने लगी।

धीरे-धीरे अत्यन्त निराशा के परिणाम-स्वरूप उसके हृदय में कोप का संचार हुआ, और किसी भी तरह अपने अनर्थ का प्रतिशोध लेने की चिंता करने लगी।

"बहिन! मुझ निर्दोष और विश्वास में डूबी हुई को धोखा दे कर तू भी सुख नहीं पा सकती। हे प्रियतम! जो तुम्हारे लिए ही जी रही थी, उसके साथ कपट कर तुम भी क्या सुख पा सकोगे? हा दैव! तू ऐसा अन्याय किस प्रकार सहन कर सकता है?"

रात्रि का अन्धकार भी जैसे सुकला के रुदन से अत्यन्त विषादपूर्ण हो गया हो, इस प्रकार धीरे-धीरे क्षीण होने लगा। तारागण भी निस्तेज होकर

छिपनें लगे और दया-सिक्त हृदय वाला मलयानिल अपने मृदु कर-स्पर्श से उस बाला को आश्वासन देने लगा।

जिसका हृदय वैर से पूर्ण हो गया है, ऐसी सुकला भी अन्त में मूर्च्छा में से जागी और किसी निश्चय को हृदय में धारण कर वह मगध-देश की ओर को प्रयाण करने लगी।

अब हमें यह देखना है कि सुमाला का क्या हुआ। वह पुरुष, जो मगध देश का स्वामी श्रेणिक राजा था, वह सुमाला को रथ में बैठा कर वेग से अश्वों को हांकता बना। सुमाला भी विधि-वैचित्र्य के कारण कुछ न बोल सकी। उसको इस प्रकार शून्यमनस्का और बैठी हुई देख कर श्रेणिक राजा ने नाना प्रयत्न किये कि वह बोल पड़े, "हे शुभ्र अंगवाली! तू मुझे अत्यन्त प्रेम से पहले बुला कर अब इस प्रकार मौन धारण कर क्यों बैठ गई है? हे सुन्दर मुख-वाली! मैं तुझे कोई बल-पूर्वक थोड़े ही लिये जा रहा हूं? फिर भी तू मुझसे क्यों नहीं बोलती? तेरा अद्भुत रूप देख कर मेरा हृदय आश्चर्य से भर जाता है। मेरा मन तुझमें ही आसक्त है, तू ऐसा ही समझ। हे भीरु! तू अपने इस भय को त्याग दे और लज्जा छोड़ कर मेरा आलिंगन कर।"

जब प्रत्युत्तर में सुमाला कुछ न बोली तो राजा ने सोचा कि पितृ-गृह छूट जाने के कारण इसका अन्तर खिन्न है, इसलिए वह अनेकानेक मनोरंजनों की बातें करने लगा—"हे शुभ्रु! दोनों ओर से पास आई हुई वृक्ष-राशि से सुशोभित इस मगध के राज-मार्ग को देख। मानो तेरा स्वागत ही करने के लिए दोनों ओर फूल बिखरे पड़े हैं। हे चन्द्रानने! तुझसे स्पर्धा करने वाला वह बाल-चन्द्र, तेरे रूप से शर्माकर छिपने की तैयारी में आकाश के छोर पर जा खड़ा है। और अपनी-अपनी प्रियाओं को लेकर विहार करने के लिए निकले हुए कामी पुरुष हमारे रथ की ओर चकित दृष्टि से देख रहे हैं, वह तो देख! तुझ-जैसी सुन्दर प्रियतमा न मिलने के कारण वे अपने-अपने भाग्य को कोस रहे हों, ऐसा लगता है।" इस प्रकार नाना प्रकार के वार्ता-

लाप से लंबी रात एक क्षण की भांति व्यतीत हो गई। अहा! प्रेम में पड़े हुए मनुष्यों को समय कब लंबा लगता है!

प्रभात हुआ न हुआ कि पवन-वेगी अश्वों वाला रथ मगध की राजधानी राजगृही नगरी की सीमा पर आ लगा। पूर्णतया प्रभात न होने के कारण ब्रह्ममुहूर्त में उठने वाले बहुत से धार्मिक मनुष्य और मक्खन के लिए तथ्य अर्थात् छाछ बिलोती हुई स्त्रियों के अतिरिक्त सारा नगर मीठी नींद में डूबा हुआ था। सुमाला को सुकला समझने वाला वह राजा सूने राज नगर की गलियों में रथ को जाते हुए बीच-बीच में आने वाले स्थलों का नाम निर्देश कर अपनी नव-वधु का समस्त स्थानों से परिचय कराता हुआ चला।

जब राज्य मार्ग को पार कर दूर से अपना राजप्रासाद दिखाई दिया तब वह नव-वधु से बोला "सुकले! रौप्य और सुवर्ण का बना हुआ तथा मणिमय कंगूरों से सुशोभित कोट जिसके चारों ओर खिंचा हुआ है और जो बढ़िया किस्मों के वस्त्रों की ध्वजाओं से शोभायमान हो रहा है, ऐसा यह मेरा भवन, प्रासाद देख! आकाश के साथ स्पर्धा करने वाला वह जैसे तेरे स्वागत में ऊंची गर्दन किये हुए खड़ा हो ऐसा लगता है। हे बाले! इस अपूर्व प्रासाद और इसके उद्यान में स्थित उत्तम विहार-स्थल तेरी क्रीड़ा के लिये ही हैं। तेरे पिता के यहां अकल्प्य तथा अनेक प्रकार का वैभव और देवांगनाओं सदृश अनेक दासियां सदैव आज से तेरी सेवा में उपस्थित रहेंगी।"

अब इस प्रकार राजा के प्रेम से हर्ष को प्राप्त होती हुई और बहिन के वियोग से दुखी वह सुमाला एक ही साथ मोद और खेद का अनुभव करने लगी। और मन में सोचने लगी कि जिसका दर्शन मेरे नयनों को आनंद देने वाला है, तथा जिसकी वाणी मेरे अंतर में अमृत सदृश शीतल और सुखद लगती है ऐसे राजा से मैं 'सुकला नहीं हूं,' यह बात कैसे कहूं? कदाचित् यह मुझे वापिस वहीं पहुंचा आया तो फिर मैं जीवित नहीं रह सकूंगी। दूसरी ओर, रत्नाभरण लेने जाने के रूप में दैव से ठगी हुई बहिन! तेरा दुख भी मेरी कल्पना के बाहर है। इसलिये किसी उचित अवसर पर इस प्रियदर्शन राजा को सब बातें बता कर अपनी बहिन को यहां बुलवा लूंगी,

और दोनों सगी बहिनें आमरण सपत्नियों के रूप में रहेंगी। हृदय का इस प्रकार समाधान कर वह बाला सुख से काल-यापन करने लगी।

अब दैवविडंबना से छली हुई सुकला परिव्राजिका के वेश में रात-दिन श्रेणिक राजा के प्रति प्रेम का और अपनी बहिन के प्रतिशोध का भाव लिये हुए राजगृही नगरी में फिरने लगी, और किस प्रकार राज्य-प्रासाद में जाया जाये ऐसी युक्तियों पर विचार करने लगी। इसका असाधारण रूप देखकर लोग विस्मय से उसकी ओर देखते रह जाते और कोई श्रद्धालु व्यक्ति पूज्य-भाव प्रदर्शित करता तो कामुक-जन उसका उपहास भी करते। इस प्रकार दुख सहन करते हुए कुछ समय बीत गया। इतने में सुमाला की मंदारिका नाम वाली एक दासी के साथ कपट से वह सद्भाव की स्थापना करने में समर्थ हो गई।

एक दिन दैव-वशात् मंदारिका दासी को ज्वर आ गया, और वह राज्य महल में न जा सकी। नौकरी छूट जाने के भय से व्याकुल हो कर उस दासी ने सुकला को बुला कर कहा—"हे सखी! आज नई रानी की सेवा में मेरी बारी है और यदि आज मैं न पहुंची तो दूसरी ईर्ष्यालु दासियां मेरे विरुद्ध जरूर कुछ कहेंगी और मेरी नौकरी छूट जायेगी। इसलिये मेरी जगह यदि आज तू चली जाये तो मैं तेरा उपकार कभी नहीं भूल सकूंगी।" बहुत दिनों से प्रतीक्षित अवसर मिलने से हर्षित-हृदय सुमाला ऊपर से आनाकानी करने लगी, पर मंदारिका के बारंबार विनती पूर्वक किये जाने वाले आग्रह के कारण वह जाने के लिये तैयार हो गई।

उसने धीरे-धीरे अपने परिव्राजिका वेश का परित्याग कर दिया और मंदारिका द्वारा दिये हुए दासी के वस्त्र पहन कर एक तीक्ष्ण छुरी वस्त्रों में छिपा कर राज महालय की ओर रवाना हो गई।

वहां जाकर दूसरी दासियों के सामने उसने अपना परिचय मंदारिका की सखी के रूप में कराया, और अपने रूप तथा मीठी वाणी के कारण वह सब की प्रिय हो गई। उसने धीरे से, क्या सेवा करनी है यह पूछा। एक दासी चन्दन घिस रही थी उसने उस चन्दन को स्वर्ण पात्र में भर कर सुकला रानी

के आगे ले जाने के लिये कहा। दासियों से कुतूहल पूर्वक देखी जाने वाली वह छद्मवेषी बाला हाथ में चन्दन पात्र लेकर रानी के पास जाने के लिये उठी। उसके चले जाने के बाद, परिचारिकायें आपस में ताली बजा कर हंसने लगीं कि, 'हमारी स्वामिनी से भी अधिक रूपवती इस बाला पर यदि महाराज की दृष्टि पड़ गई तो निस्संदेह इसके भाग्य खुले समझो।'

अनुराग और वैर के विरुद्ध भावों से जिसका हृदय प्रदीप्त हो रहा था, वह इस समय अपनी कामनाओं की सिद्धि का समय पास आया हुआ देख कर, अशांति से जिसका अंग-अंग जल रहा था ऐसी सुकला हाथ में चन्दन-पात्र लेकर नई रानी को सर्वत्र खोजने लगी, पर संसार में कहीं भी न देखे होने के कारण वह प्रासाद के उपवन में स्थित क्रीड़ा-स्थलों को देखती हुई इधर-उधर घूमने लगी। इतने में एक लता-मंडप में से आते हुए पूर्व परिचित सुमाला का स्वर सुन कर रुक गई। उसका मन सहसा उद्वेलित हो उठा। वह वार्तालाप को सुनती हुई एक वृक्ष की छाया में छिप गई।

"हे सुन्दरी! हे सुकले! तू आज मुझ पर प्रसन्न क्यों नहीं होती? प्रभात में फीके पड़े हुए चन्द्रमा की भांति आज तुम निस्तेज क्यों दिखाई दे रही हो?" श्रेणिक राजा उदास और अनमनी सुमाला से कह रहा था।

तब आंख में आंसू लाकर गद्‌गद् कंठ से सुमाला बोलती हुई सुनाई दी, "हे प्रियतम! मुझसे एक महान् अपराध हो गया है। तुम्हारे प्रेम में डूब कर मैं आज तक भी उस अपराध को स्वीकार नहीं कर सकी, पर जब तक मैं तुम्हारे सामने उसे स्वीकार नहीं कर लूंगी तब तक मेरे हृदय में शांति नहीं होगी।"

"हे प्रियतम! हे स्वामीनाथ! तुम मुझे सुकला समझते हो पर मैं सुकला नहीं हूं, बल्कि उसकी सगी बहिन सुमाला हूं। जब तुम उसे लेने आये थे, तो तभी एक क्षण पहले वह रत्नाभरणों का डिब्बा लेने घर की ओर चली गई थी और तुम्हारे प्रताप के वशीभूत हुई मुझको जब तुमने उठा कर रथ में बैठा लिया, तो मैं एक क्षण के लिये कुछ भी नहीं बोल सकी और इतने में तो निमिष-मात्र में तुमने रथ भी हांक दिया। हे प्राणनाथ! विश्वास

में डूबी हुई मेरी बहिन ने तुम्हारे और मेरे वियोग में अवश्य ही प्राण-त्याग कर दिया होगा।" यह कह कर वह अत्यन्त रोने लगी, और थोड़ी देर में चित्त स्वस्थ हो जाने के उपरांत बोली,—"हे नाथ! यदि मेरी बहिन जीवित हो तो तुम उसे ले आओ और उस साथ पाग्रहण कर लो।"

तब चमत्कार डूबे हुए श्रेणिक राजा उसका मन रिझाने के लिये कहने लगा, "हे, मिष्टभाषिणी प्रिया! तेरी बहिन से अब मेरा काम निकल गया। मेरे कुल की लक्ष्मी और हृदय की रानी तो तुम्हीं हो। इसलिये चाहे सगी बहिन ही क्यों न हो पर तुझे सपत्नी के रूप में कांटा नहीं खड़ा करना चाहिये। अब यदि सुकला भी आ जाये तो वह मेरे किसी काम की नहीं। मेरी सुकला तो तू ही है।"

प्रच्छन्न रूप से सुकला ने यह वार्तालाप सुना तब वह एक दम मूर्च्छित हो कर पृथ्वी पर गिर पड़ी। उसके गिरने की आवाज सुन कर लता-गृह में बैठे हुए दम्पति एकदम चौंक कर बाहर आ गये सुकला को वृक्ष के नीचे पड़ी हुई देखकर सुमाला दौड़ कर उसके पास गई, और सुकला को पहचान कर "हा, बहिन! हा सहोदरा! यह तूने क्या किया?" यह कहती हुई वह उस पर गिरकर विलखने लगी। महाराजा श्रेणिक, यह क्या हुआ, यह न समझने के कारण तथा सुकला के सुन्दर स्वरूप को देख कर हृदय में चमत्कृत हो विमूढ़-सा खड़ा रह गया।

जब सुकला की मूर्च्छा समाप्त हो गई तो उसने अपनी बहिन और अपने प्रेमी को वहां खड़ा देख कर क्षण भर पहले के वार्तालाप को याद किया और तत्काल उसके मन में वैराग्य का उद्भव हुआ। "अहा! यह संसार केवल असार है। बहिन, पति, माता, पिता ये सब स्वार्थ के सगे हैं। इस संसार में कौन किस का प्रिय है? और कौन किस का पति है? अरे रे! राग के वशीभूत हो अभी क्षण भर पहले मैं क्या कर्म करने के लिए उद्यत हो गई थी? इसलिये दुष्कर्म का नाश करने वाले रागादि वृत्तियों को छोड़ कर मुझे वीतराग की शरण में जाना चाहिये।" यह विचार कर उसने छिपी हुई छुरी से अपने घनश्याम-सुंदर केशपाशों को तत्काल काट डाला।

"अरे, अरे" कहते हुए विस्मय-प्राप्त मोह-मुग्ध राजा ने उसे थोड़ा रोकने का प्रयत्न किया, पर उससे पहले तो आकाश में से 'सुष्ठु ! सुष्ठु !' ऐसी शब्द-ध्वनि हुई और पुष्प-वृष्टि से देवता आकर साध्वी सुकला के चरणों में नतमस्तक हो गये और उसके साध्वी के योग्य देव-कुलों का दान दिया। साध्वी ने उनको और सुमाला सहित राजा को संसार की असारता पर प्रवचन दिया। उसके वैराग्य से प्रतिबोधित होकर और उसके उपदेश से बोध को प्राप्त हो तत्काल राजा-रानी ने अनेकों व्रत स्वीकार किये और समस्त देश में अहिंसा की दुंदुभि बजाने में प्रयत्नशील हो गये।

तदुपरांत राग-द्वेष के परित्याग से प्रशांत हुई चित्त वाली वह साध्वी सुकला भगवान महावीर की एक परम साध्वी के रूप में देश-देश में विचरण कर अनेक सांसारिक जीवों का उद्धार करने लगी।

उपकार

वे दोनों बहुत वर्षों के मित्र थे, पर उन दोनों की मित्रता भिन्न-भिन्न प्रकार की थी। जन्मेजय के लिए यदुनन्दन उसका जीवन-सर्वस्व था, और उसके हृदय की गति उसके हास्य के साथ-साथ संचालित रहती थी। यदुनन्दन का प्रत्येक शब्द उसके लिए कर्तव्य था और यदुनन्दन की सहज सेवा करने में ही उसे स्वर्गीय सुख की अनुभूति होती थी।

पर जन्मेजय के प्रति यदुनन्दन का स्नेह बिलकुल इस प्रकार का नहीं था। जन्मेजय पर उसका भारी स्नेह था और उसे बालक या स्त्री की भांति उसकी रक्षा करने तथा स्नेह से उस पर शासन करने में आनन्द भी आता था; पर उसके स्नेह में नारी जैसी कोमलता नहीं थी। जन्मेजय उसका मित्र था। समय पड़ने पर वह यथासंभव उसके लिए सब कुछ करने को उद्यत था, पर उसको जीवन-सर्वस्व समझने वाले जन्मेजय की सीमा यदुनन्दन की मित्रता नहीं छू पाती थी।

दोनों के स्वभाव में भी इतना ही महान् अंतर था। जन्मेजय का मन पानी जैसा पारदर्शक था—प्रत्येक प्रकार का चित्र उस पर तुरन्त ही अंकित हो जाता था और जल में अंकित चित्र की भांति तुरन्त मिट भी जाता था; केवल यदि नहीं मिट पाता था तो वह था यदुनन्दन के प्रति उसका स्नेह। इसका सारा स्वभाव भाव-प्रवण था। इसके आनन्द अथवा शोक में जितनी तीव्रता थी, उतना स्थायित्व नहीं था। स्त्री की भांति इसको भी मानसिक पूजा करने के लिए एक प्रतिमा की आवश्यकता पड़ती थी। गुंजराती की

छठी क्लास में जब उसकी भेंट यदुनन्दन से हुई, तभी से उसकी पूजा, भक्ति और स्नेह की समस्त भावनाएं पूर्णतया उसकी ओर ही मुड़ गई थीं। उसके स्वभाव में निहित स्त्रैण्य के समस्त तत्व यदुनन्दन के बल और पौरुष से सहज रूप में सुशोभित हो उठे। स्त्री और पुरुष जैसी उन दोनों की जोड़ी, मैत्री की अखंड शृङ्खला से बंध गई।

वर्षों से दोनों के परिवार अहमदाबाद में रह रहे थे। दोनों की उम्र पच्चीस वर्ष से अधिक नहीं थी। जन्मेजय ने बी. ए. पास कर सवा-सौ रुपये मासिक की नौकरी बैंक में कर ली थी, और यदुनन्दन को गुजरात कालेज में साइंस की प्रोफेसरी मिल गई थी।

दोनों प्रति-दिन संध्या को रानी के बाग में मिलते थे। दिन भर की सब घटनायें धर्म समझ कर एक दूसरे से कह देते थे। मन में स्फुरित नव विचारों तथा योजनाओं पर चर्चा करते और रात के आठ बजे भोजन के समय विदा होते। इनके इस कार्य में कदाचित ही कभी भूल-चूक होती थी।

प्रतिदिन के नियमानुसार जब एक दिन वे दोनों संध्या को मिले, तो यदुनन्दन जरा खिन्न दिखाई दिया। थोड़ी-सी सीधी-टेढ़ी बातें करने के उपरांत यदुनन्दन ने कहा, "जनु, मेरे लिये अब आगे बढ़ने का और दूसरा उपाय नहीं।"

"क्यों ?" विस्मित होकर जन्मेजय ने पूछा।

"देखो न, यहां मैं कितना भी करूं, मेरे लिये बहुत आगे बढ़ने का अवसर नहीं है। बहुत हुआ तो पंद्रह बीस वर्ष की नौकरी के परिणामस्वरूप बढ़ते-बढ़ते तीन-सौ चार-सौ तक पहुंच सकता हूं। इससे आगे बढ़ने की तो कोई आशा ही नहीं। यदि विलायत हो आऊं, तो कितना अंतर पड़ सकता है। पर यह संभव कैसे हो सकता है ? कम से कम दस हजार रुपया चाहिये। वह मैं कहां से ला सकता हूं।" उसका मुंह जरा हतप्रभ हो गया, "मेरे मन में तो कभी-कभी ऐसा आता है कि चाहे चोरी भी करनी पड़े, पर विलायत जाना ही चाहिये।" एक क्षण में उदासीनता दूर करने के

लिये यदुनन्दन ने हंसकर मजाक करते हुए कहा, "इस देश में ही ऐसे पड़े रहने से कुछ नहीं होगा।"

जन्मेजय ने कोई जवाब नहीं दिया। उसका मन इसी विचार में उलझ गया था कि किसी तरह यदुनन्दन को रुपया मिलना चाहिये।

"यदु, मेरे पास थोड़ा सा रुपया तो है।" उसने विचार करते-करते कहा।

"उंह! पर उससे क्या हो सकता है! यदि इस भाग्य में क्लर्क रहना ही लिखा है, तो और क्या होगा?" यदुनन्दन ने निराशा प्रदर्शित करने के लिये उपेक्षा से अपने खवे उचकाये। सूर्य की छिपती हुई किरणों ने उस की सुन्दर मुखमुद्रा को प्रभासित कर दिया।

जन्मेजय को मित्र की यह निराशा असह्य हो गई। यदु जैसा महापुरुष और उसका मित्र केवल साधन के अभाव में विलायत न जा सके, यह वह कैसे सह सकता था!

"इस प्रकार हिम्मत क्यों हारता है? इस बात पर निश्चित मन से सोचेंगे।" उसने झूठी हिम्मत दिलाते हुए कहा।

"जो तू कर सकता हो, तू भी कर देख। मैंने तो बहुत किया, पर मुझे कुछ सूझता नहीं।" यदुनन्दन टोपी हाथ में लेकर खड़ा हो गया।

उस दिन वह बात यहीं समाप्त हो गई थी। आज भी बहुत देर तक बात हुई, पर यदुनन्दन के मन में उसी दिन की बात लगी रह गई। उसने घर जाते-जाते और रात को भी उसी समस्या पर विचार किया।

जन्मेजय के पास लगभग हजार रुपये इकट्ठे हो गये थे। प्रतिमास उसे सवा सौ रुपये वेतन मिलता था। उसमें से वह पचहत्तर रुपये तक बचा सकता था। उस अकेले को महीने में पचास रुपये से अधिक क्या चाहिये? केवल किसी दूसरी जगह से यदि एक दो हजार का प्रबन्ध और हो जाये, तो फिलहाल जाने के लिये तो काफी रुपया हो जायेगा। पर समस्या यह थी कि रुपये मिलें तो कहां से मिलें?

जागते हुए और रात को नींद में तथा सपने में भी उसे यही विचार

और क्या ?" जन्मेजय ने मुंह फेर लिया। उसने जरा रुद्ध स्वरों में कहा, "पर कुछ भी हो जाये तू मुझे छोड़ेगा तो नहीं न ?"

"जा जा, लड़की, तुझे कुछ नहीं होगा। तू केवल अब जन्मेजय है, तब जन्मेजय राय हो जायगा, बस इससे अधिक कुछ नहीं।" यदु खिल खिलाकर हंस पड़ा।

पर अशांति का कारण दूसरे चार-पांच दिन के बाद ज्ञात हुआ। जन्मेजय पर बैंक का पांच हजार रुपया गबन कर लेने का वारंट निकला। वह छिपा तो था ही नहीं कि खोजना पड़ता, इसलिए पुलिस उसे तुरन्त पकड़ कर साबरमती जेल में ले गई।

बेचारे यदुनन्दन की स्थिति बड़ी बुरी हो गई। उसकी आशा के महल बिलकुल अंतिम घड़ी में न केवल टूट गये, बल्कि बहुत से यह कहने में भी नहीं चूके कि चोरी इसके जानते हुए ही हुई थी। कोर्ट में केस चला तब जन्मेजय ने यदु की सहमति के विषय में साफ इनकार कर दिया और उसके विरुद्ध दूसरे कोई सबूत न मिलने से उसे कोई पकड़ भी नहीं सका। पर जन्मेजय को चोरी करने के लिये ललचाने के रूप में लोगों के हृदय में इसके प्रति काली छाप तो पड़ ही गई। अधिक खर्च किया हुआ पैसा भरना तथा जन्मेजय के बचाव में खर्च करना पड़ा, सो अलग।

उस दिन से यदुनन्दन के सिर पर साढ़े-साती शनीचर सवार हो गया। उसके अच्छे से अच्छे मित्र उसकी ओर शंका से देखने लगे। उसके साथ सब के व्यवहार में एक प्रकार की विचित्रता आ गई। अब कोई तनिक भी विश्वास करने के लिये तैयार नहीं था। स्त्रियां उसके साथ बात करने में सहमतीं। क्लास में पढ़ने वाले लड़के उसके संपर्क में आने में सकुचाते। वह जहां भी जाता, वहीं लोग आंखें फाड़कर देखा करते।

और बड़े प्रयत्न होने पर भी जन्मेजय पर चोरी का अपराध सिद्ध हो गया। उसने यह चोरी अपने मित्र के लिये की थी, इस शुभ-लक्ष्य को ध्यान में रखकर जज ने बड़ी दया प्रदर्शित कर केवल दो साल की सादी कैद

की सजा ही दी, केवल इतनी ही आश्वासन की बात थी।

इन दो वर्षों में यदुनन्दन में बड़ी शुष्कता और कठोरता आ गई। उसने स्वयं ही सबसे मिलना छोड़ दिया। उसे अपनी महत्वाकांक्षाओं पर, उनको कभी भी मुक्त न कर सकने वाली वज्र-शृङ्खलायें दिखाई दीं।

इस समस्त नीरसता में यदि कोई सुधा बिंदु था तो वह थी मैना। वह यदुनन्दन की मां के किसी दूर के सम्बन्धी की लड़की थी और कॉलेज में साइन्स पढ़ती थी। यदु के विलायत जाने के निष्फल प्रयास के पहले एक-दो बार उसके साथ उसके विवाह की चर्चा हुई थी।

वह कभी कभी यदुनन्दन के घर आती। ऐसा लगता कि उसे यदुनन्दन के प्रति कुछ सहानुभूति है। कॉलेज में भी कभी-कभी उसके साथ उड़ती-उड़ती-सी बातें कर लेती। इस छोटी विद्यार्थिनी की ओर यदुनन्दन के मन में एक प्रकार का निःस्वार्थ और नैसर्गिक भाव उमड़ता। उसने कभी भी इस भाव का विश्लेषण नहीं किया था। कभी अनजाने में वह उसकी ओर उसी भाव से देख लेता। बहुत से अज्ञात पलों में विचार करते-करते जब होश में आता, तो अपने को मैना का विचार करते हुए देखकर, जैसे चोरी करते हुए पकड़ लिया गया हो, इस प्रकार विस्मित होकर शरमा जाता। उस छोटी-सी एक-एक बात ने उसके स्वभाव की मधुरता और कोमलता को नहीं मरने दिया था।

यदु के जीवन का सबसे महान् कर्तव्य जन्मेजय की खबर रखना और जेल में आवश्यक वस्तुयें भिजवाना था। थोड़े-थोड़े समय के बाद वह उससे मिल भी आता था। जेल के एकांत-वास से जन्मेजय में कुछ थोड़ा सा परिवर्तन होता जा रहा था, वह भी उसकी दृष्टि से नहीं छिपा था; पर जेल की संक्षिप्त मुलाकातों में इस विषय में कुछ कहने-सुनने का समय नहीं मिलता था।

इस प्रकार यदुनन्दन और जन्मेजय की सृष्टि में सुख का आश्वासन अथवा दुख, आकुलता लाए बिना ही काल ने दो वर्ष की लम्बी लगने वाली

छलांग, जैसे बहुत छोटी हो इस प्रकार भर डाली। और एक दिन सुबह यदुनन्दन साबरमती जेल के फाटक पर जरा जल्दी जा पहुंचा। जन्मेजय उस दिन छूटने वाला था और वह उसे घर ले चलने के लिये आया था।

उसकी आतुरता को थका-थका कर एक घंटे में जेल का दरवाजा खुला। अन्दर से बीमार-सा दिखाई देने वाला एक आदमी दो वर्ष पहले जो कपड़े पहन गया था, उन्हीं कपड़ों में जैसे किसी नई दुनिया की यात्रा कर आया हो, इस प्रकार बिलकुल परिवर्तित रूप में बाहर निकला। उसके मुख पर कड़ुवाहट और आतुरता के चिह्न थे। उसकी आंखों में गड्ढे पड़ गये थे। उसके गाल बैठ गये थे, और माथा खूब आगे की ओर को निकल आया था। उसके हाथ शक्ति न होने के कारण कांप रहे थे। उसका कोट जैसे उसके शरीर पर बहुत बड़ा हो, इस प्रकार लटक रहा था। यदु की खोज में उसने चारों ओर अपनी अस्थिर दृष्टि दौड़ाई।

यदुनन्दन उसे देखकर आगे आया। उसने स्नेह-पूर्ण हाथ जन्मेजय के कंधे पर रक्खा, "जनु! मैं आ गया हूं भाई!"

जन्मेजय उसे देख कर केवल जरा हंसा। उस हंसी में न तो जीवन था और न संतोष, "हमें ट्रेन में या गाड़ी में चलना है?" उसने बीमार, थके हुए स्वरों में पूछा। उसके स्वर में न तो उत्साह था और न यदु के उमड़ते हुए हृदय की तनिक सी प्रतिध्वनि ही।

"मैं गाड़ी ले आया हूं। घर काका और बा बैठे-बैठे तेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

जैसे गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहा हो, इस प्रकार जन्मेजय कुछ भी जवाब दिये बिना चुपचाप खड़ा रहा।

यदुनन्दन एक किराये की टमटम ले आया था। उसने गाड़ीवान को हांक मारी और गाड़ी आ जाने पर दोनों उसमें बैठ गये। जन्मेजय ने जाते-जाते पीछे मुड़कर जेल की ओर देखा। दबे हुए हृदय के बन्धन टूट पड़े और उसकी आंखों में से आंसू बहने लगे। जैसे वह अपने हृदय का सारा बोझ हलका कर रहा हो, इस प्रकार वह सहसा बालक की तरह रो पड़ा। यदुनन्दन

वे उसकी कमर पर और माथे पर हाथ फेरा, "जनु ! यह क्या कर रहा है ? हिम्मत रख ।" हिम्मत देनेवाले की आंखें भी सूखी नहीं थीं ।

आये हुए आंसुओं को जन्मेजय ने पोंछ डाला, "दो वर्ष बीत गये यदु ! दो वर्ष । अब फिर सब कुछ नये सिरे से आरम्भ करना पड़ेगा । मुझ, जेल में हो आये हुए को कौन अपने पास खड़ा होने देगा ?"

"जनु ! ऐसी बात क्यों कहता है ? हम दो हैं न । तू दुनिया में अकेला थोड़े ही रहेगा ?"

जन्मेजय जरा शांत हुआ, पर बात करने का जरा भी मन नहीं था, इसलिये रास्ते में बाकी के डेढ़ घंटे में दोनों बहुत कम बोले । चलती गाड़ी में सर्पाकार टेढ़ी-मेढ़ी बसी हुई साबरमती ऊंची-ऊंची चट्टानों के बीच से बारबार दिखाई दे जाती । पेड़ों पर से कभी-कभी रास्ते में फाख्ताओं की आवाज भी सुनाई दे जाती, रास्ते में टोलियों में घूमते हुए बन्दर गाड़ी की आवाज सुनकर छलांग मारकर पेड़ों पर कूद पड़ते और जानेवालों की ओर जिज्ञासा के अभिनय से देखते रहते । जैसे किसी अपरिचित प्रदेश को देख रहा हो, इस प्रकार जन्मेजय ने बोलने की जरा भी इच्छा प्रदर्शित किये बिना बहुत वर्षों के उपरांत इन सब वस्तुओं की ओर आश्चर्य से देखा ।

दोनों मित्र अन्त में ग्यारह बजे के लगभग घर पहुंचे । यदुनन्दन नदी पार कॉलेज के रास्ते में एक छोटे-से किराये के बंगले में रहता था । उसके माता-पिता और एक अविवाहिता छोटी बहिन उसके साथ थे । सब इन दोनों की प्रतीक्षा में चबूतरे पर बैठे थे । गाड़ी कम्पाउंड में घुसी और छोटी सरु दौड़ती हुई आगे आई, "भाई आ गये क्या ?" भगीरथी काकी ने भी जन्मेजय का हंसते मुख से स्वागत किया । यदु के पिता धननन्दन ने भी आकर उसे गले से लगाया, "बेटा ! आ गये ?" सबके उत्तर में जन्मेजय फीकी और निर्जीव हंसी हंस दिया, "हां, काका !"

संध्या होने से पहले तो अनेकों सम्बन्धी, मित्र और केवल कुतूहल और जिज्ञासा से प्रेरित व्यक्ति जन्मेजय से मिलने के लिये आये । उनमें से बहुत से यदुनन्दन की ओर जन्मेजय की मित्रता का अनुचित लाभ उठाने के रूप में

कुछ विचित्र रीति से देखते; जन्मेजय के शरीर और मन की स्थिति देखकर एक रहस्यमय ढंग से गर्दन हिला देते और जन्मेजय को अनेक प्रकार के आश्वासन दे जाते।

सब के व्यवहार में यदुनन्दन उनके विचारों का प्रतिबिंब देख सकता था, और उन्हें देखकर उसके मन में अवर्णनीय दुख उमड़ पड़ता। उसे ऐसा लगता, जैसे उसके साथ अन्याय हो रहा हो। पर ऐसा विचार ही मन में लाने में मित्रद्रोह होता है, यह सोचकर वह बरबस अपनी इस भावना को दबा देता। गम्भीरता से चुपचाप वह सबसे मिलता, समय पर कॉलेज जाता और बाकी समय वह जन्मेजय के पास बिताता।

इस दो वर्ष के एकांतवास ने जन्मेजय के मन और शरीर पर बड़ा भारी परिवर्तन ला दिया था। वह दुर्बल और पांडुरोगी हो गया था। उसकी आंखें, कपोल, ललाट सब पर काले दाग पड़ गये थे। एक प्रकार के अनिश्चय की छाया उसके हाथों पर और उसकी गति में दिखाई देती थी।

उसके मन की अवस्था भी इससे कुछ अधिक अच्छी नहीं थी। अति विचार के परिणामस्वरूप उसके मस्तिष्क को इधर-उधर भटकने की आदत पड़ गई थी। उसको ऐसा लगने लगा था कि उसके साथ बड़ा भारी अन्याय हुआ है। उसे समाज पर और राज्य के कानूनों पर क्रोध आता था। मित्र की सहायता करने के स्तुत्य उद्देश्य को इन दोनों ने केवल चोरी की ही संज्ञा दी थी।

जेल से बाहर निकलने तक रक्खी हुई हिम्मत जेल के बाहर आते ही कम हो गई। निर्बलता के कारण उसे नित्य तपानेवाला जीर्णज्वर आने लगा।

इस बीच मैना यदुनन्दन के यहां अधिक आने जाने लगी थी। ऐसा लगता था, जैसे उसके हृदय में भी यदुनन्दन के प्रति कोई विशेष भाव हो। वह उसके साथ घंटों गप्पें मारती। उसके आने का विशेष कारण यदुनन्दन के अतिरिक्त और नहीं दिखाई देता था।

घर के आदमियों ने तो इन मुलाकातों का एक स्पष्ट अर्थ लगा ही

लिया था। यदुनन्दन के स्नेह से खिंच आती इस बाला को वे प्रत्येक अवसर देते थे। यदु के माता-पिता के विचार से उसे सुखी करने का यही अकेला उपाय था। उनकी यह धारणा थी कि जैसे किसी भी वस्तु में रस न रह गया हो, इस प्रकार उदास और गंभीर दिखाई देने वाले यदु में इससे नवीन रस-स्रोत फूट निकलेंगे। मैना के मां-बाप की सम्मति भी इस बात में थी, इसलिये यद्यपि इस विषय में अभी सलाह-मशविरा नहीं हुआ था, फिर भी सब मैना को यदुनन्दन के साथ और अधिक बातें करने की तथा पढ़ने की स्वतन्त्रता और अवसर देते थे। कभी-कभी अध्ययन में जो कुछ समझ में न आता, वह मैना पूछती। कभी-कभी वह केवल बातें ही करती। धीरे-धीरे वह लगभग इस घर की-सी ही हो गई थी। किसी दिन वह न आती, तो सब उसकी प्रतीक्षा भी करते।

जब जन्मेजय आया, तो पहले तो मैना को इस प्रकार आते-जाते देख कर जरा विस्मित हुआ, पर धीरे-धीरे वह सबकी मनोवृत्तियों को समझ गया। उसने यदु की चिकित्सा भी आरंभ कर दी और उसे यह विश्वास हो गया कि उसके अंतर में मैना के प्रति ऐसा स्थान है कि वह कभी भी उसकी अवगणना नहीं कर सकता। यदुनन्दन इस विषय में कम ही बोलता था, पर जब बोलता था तो छिपी होने पर भी भावना की ध्वनि उसमें सुनाई देती थी।

जन्मेजय यदुनन्दन के मन का भाव समझ गया, और उसके हृदय में क्रोध की ज्वाला का संचार हुआ। यदुनन्दन उसे छोड़कर किसी को भी प्रेम करे, तो इसमें उसे स्पष्ट कृतघ्नता दिखाई देती थी। इतने सारे आत्मत्याग का अंत में परिणाम क्या? वह जेल गया, नौकरी खोई, बीमार पड़ा; हो सकता है मर भी जाये और जिसके लिये इतना किया, वह यदुनन्दन तो मैना रानी से शादी कर मजा करेगा। दुनिया के किये हुए उपकारों को भूलने की शक्ति पर तिरस्कार के भाव उमड़े। वह जब मैना को देखता, तो बिना आज्ञा ही आ जाने वाले मनुष्य की भांति उसे घर से बाहर निकाल देने का मन होता।

उसके निर्बल मस्तिष्क को इस बात ने और भी निर्बल कर दिया। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा होने लगा। छोटी-छोटी बातों में वह यदुनन्दन के साथ

तकरार करने लगा। यदुनन्दन अधिकतर जन्मेजय के पास ही बैठा रहता था और जब मैना आती, तब भी वह उसी कमरे में आकर बात करने बैठती। यदुनन्दन को लगता कि मैना की उपस्थिति से तथा उसकी हंसी से इस कमरे में थोड़ी सी सूर्यकिरणें खिल उठेंगी और उनसे जन्मेजय के बीमार तन-मन को अवश्य ही थोड़ी ताजगी मिलेगी। जन्मेजय बिलकुल इसका उल्टा ही समझता था। उसे यह लगता कि उसके सामने मैना से वह निश्चिंत मन से बातें नहीं कर सकेगा, इसलिये उसे यहां बुलाता है। जब वह है तब भी मैना के बिना नहीं रहा जाता, इस विचार से उसे दुख भी होता था।

वह अब मैना के सामने जितना वस्तुतः बीमार होता था, उससे भी अधिक बीमारी का ढोंग करने लगा। जब यदु और मैना बात करते होते, तो वह बारबार कुछ न कुछ छोटी-छोटी बेकार की चीजें मांगकर उनका ध्यान आकर्षित करता। चाहे उसका कहना तुरन्त हो जाये, पर फिर भी उसे प्रसन्नता नहीं होती थी।

मैना जन्मेजय की बड़ी प्रशंसक थी। मित्र के लिये ऐसा अनुपम त्याग करने वाले के प्रति उसके मन में बड़ा सम्मान था। वह जन्मेजय की ईर्ष्या को केवल बीमारी का चिड़चिड़ापन समझती थी।

आत्मत्याग का इतना उज्ज्वल दृष्टांत दुनिया के सामने रखने वाला दूसरी किसी तुच्छ भावना के वशीभूत भी हो सकता है, यह परखना उसके लिये बहुत कठिन था। वह जन्मेजय की यथाशक्ति सेवा करने का प्रयत्न करती। उसके मन को प्रफुल्लित करने के लिये वह पहले की अपेक्षा अब अधिक आकर बैठती। जन्मेजय के हृदय की महत्ता के आगे यदुनन्दन उसे बहुत छोटा लगता था।

जन्मेजय यह बात कुछ-कुछ समझ गया और उसकी ईर्ष्या को एक नया रास्ता सूझा। जिसने इतना दुख भोगा, वह क्यों सभी बातों में यदुनन्दन को सुखी देखे और स्वयं इस प्रकार निराधार और निःसहाय बैठा रहे। उसके आवेश में डूबे हुए मस्तिष्क ने इसमें से रास्ता निकाल लिया। उसने मैना की सहानुभूति को और अधिक उकसाने का प्रयत्न किया। वह

इस प्रकार दिखाने लगा कि जैसे मैना की उपस्थिति से उसे बहुत सुख मिलता हो; उसके साथ बातें करने से या उसकी सेवा स्वीकार करने से अधिक शांति मिलती हो। यदुनन्दन से तो वह कभी ही बिना चिढ़े हुए बोलता। उसका पास आना उसे अच्छा न लगता, पर साथ ही उसका दूर रहना भी असह्य था।

मैना के जीवन में वीरपूजा के लिये बहुत अधिक स्थान था। वह स्त्री जीवन के नये आदर्शों पर आचरण करती और इस प्रकार उसमें नई वृत्तियां प्रबल हो गई थीं—जिसे वह वीर समझती थी, उसे पूजने की तथा अपने नये स्त्रीत्व के आवेश में दूसरे को आकर्षित करने की। दूसरे को प्रभावित करना उसे अच्छा लगता था। दूसरे के प्रभाव को भी वह जल्दी ही ग्रहण कर लेती थी। उसके भावना-प्रधान मन को जन्मेजय का आत्मत्याग बड़ा ही असाधारण और उच्च कोटि का लगता।

जन्मेजय ने इस स्थिति का लाभ उठाया। वह जहां तक हो सकता, मैना के हाथ से ही खाने और दवा लेने का आग्रह करता। उसे पढ़ते हुए सुनकर जैसे खूब आनन्द आता हो, ऐसे भावों का प्रदर्शन करता। यदुनन्दन मैना से थोड़ी-सी भी बात करता कि वह तुरन्त ही कुछ न कुछ काम मैना को सौंप देता।

यदुनन्दन इस स्थिति का ठीक विश्लेषण नहीं कर सकता था, पर उसके अंतर में खिन्नता दिन पर दिन अधिक गहरी व्याप्त होती जा रही थी। उसका मित्र जिसने उसके लिए इतना किया, उसके साथ विश्वासघात करने पर उतारू हो जायेगा? ऐसे भाव का जन्मेजय पर आरोप करने में क्या मित्रद्रोह नहीं हो रहा था? उसके मन में ऐसे प्रश्न उठते और शांत हो जाते। जो उत्तर मिल रहा था, उसकी उसे अवश्यकता नहीं थी। वह जन्मेजय के विचित्र व्यवहार को बीमारी का परिणाम समझने का ही प्रयत्न करता रहता।

और मैना इन दिनों कुछ अधिक उल्लास में थी। वह हंसती-हंसती नाचती हुई आती। बीमार जन्मेजय की वह उत्साह-पूर्वक सेवा करती।

मूक यदुनन्दन को वह बहुत-सी बातों से चिढ़ाने का प्रयत्न करती और जैसे सारे शरीर में विद्युत का प्रकाश हो गया हो, इस प्रकार इधर से उधर दौड़ा करती। दोनों ने इसका अर्थ अपनी-अपनी मनोदशा के अनुसार लगाया। यदुनन्दन इसे जन्मेजय पर के प्रेम का परिणाम समझता। जन्मेजय भी इसे अपने उंडेले हुए प्रेम का कारण समझता। इस धारणा के दृढ़ होने के साथ-साथ दोनों में विभिन्न प्रवृत्तियों ने जन्म लिया।

प्रतिदिन मैना का विलक्षण उल्लास किसी न किसी रूप में व्यक्त होता। यदुनन्दन के हृदय में उसका एक ही अर्थ होता। धीरे-धीरे उसके मस्तिष्क ने आकाश पाताल के चक्कर काटने शुरू कर दिये। उसके प्रत्येक अंग में और हृदय में एक प्रकार की घुटन आरंभ हो गई। वह क्यों ऐसी कथाओं का लक्ष्य बने ? क्यों दूसरे के पल भर के पागलपन से उसके जीवन भर का नाश हो जाये ? दुनिया में जैसे सब इच्छा करते हैं, वैसे ही उसने इच्छा की—निर्दोष से भी निर्दोष—दूसरे के आश्रय में योग्यता प्राप्त कर आत्मोन्नति करने की। इसमें न तो किसी का अनिष्ट था और न किसी का अवरोध। इसमें पाप या दोष कुछ भी नहीं था। पर केवल एक मित्र ने मूर्खता कर चोरी कर ली थी, उस पाप की प्रतिच्छाया जीवन भर उस निर्दोष को घेरे रहेगी। वह स्वयं अप्रामाणिक नहीं था, पर फिर भी सब उसे अप्रामाणिक समझकर उससे डरते रहेंगे। मित्र-द्रोही न होने पर भी सब उसके कृतघ्नी स्वभाव का तिरस्कार करेंगे और अन्त में वही मित्र यदि उसके जीवन की सब से प्रिय वस्तु ले जाये, तो भी उसे एक अंगुली तक उठाने का अधिकार नहीं। जिस मित्र ने उसके लिये ठीक तरह या गलत तरह एक महान् त्याग किया हो, उसकी किसी भी बात में—अपने जीवन की या उससे भी अधिक समझी हुई उसकी प्रियतमा की बलि भी चढ़ रही हो, तो भी वह बीच में कैसे आ सकता है ?

इस विचार में डूब कर वह पागल जैसा हो गया। मैना या जन्मेजय के सामने देखने का मन न होने पर भी उसे बरबस हंसकर देखना पड़ता। उसकी मुख-मुद्रा पर से उसके अन्तर में चलने वाले भीषण संग्राम को कोई

कदाचित् ही पहचान सकता था।

पर जैसे-जैसे दिन बीतते गये, हास्य का यह पर्दा असह्य होने लगा। उसकी अन्तर की छिपी हुई बात, मुख-मुद्रा या मनोव्यथा से आकुल वाणी यदि कभी व्यक्त करने को हो तो उससे पहले उसने मरने का निश्चय कर लिया था, 'विष की एक पुड़िया और इन सबका अन्त।' उसके मस्तिष्क में इस वाक्य की प्रतिध्वनि उठने लगी।

जन्मेजय के चित्त में भी अशांति की ज्वाला विशेष रूप से जल रही थी। मैना के प्रेम की अपने साथ कल्पना करते हुए थोड़े समय तक तो उसने विजय के आनन्द का अनुभव किया। उसकी ईर्ष्याग्नि पर राख फिरने लगी। उसे ऐसा लगा जैसे इससे यदुनन्दन की अपेक्षा उसकी उत्तमता सिद्ध हो रही हो। मैना जैसी सुन्दरी के साथ जीवन का शेष भाग सुख में बीतेगा और की हुई मूर्खता के परिणामस्वरूप पिछले दो-ढ़ाई वर्ष किसी दुस्वप्न की भांति केवल स्मरणों का विषय ही बन कर रह जायेंगे, इस विचार से उसके मन ने कुछ-कुछ स्वस्थता का अनुभव किया।

पर धीरे-धीरे यदुनन्दन का दुख उसकी पूर्वावस्था के स्मरण जगाने लगा। उसकी ईर्ष्या और दुख इन स्मरणों की धूप के सामने कोहरे की भांति गलने लगे। उसके चित्त में परस्पर विरोधी-भावों का युद्ध दारुण और दुसह्य होता गया, 'जिस मित्र के लिये जीवन का सरल मार्ग छोड़ कर ऐसा कंटकमय मार्ग स्वीकार किया था क्या वह सब अंत में उसके साथ इस प्रकार विश्वासघात करने के लिए किया था?' उसके हृदय में यह प्रश्न उठता, वह उसे भुलाने का प्रयत्न करता, पर भूल न पाता।

इस मनोव्यथा में से निकलने का उसे कोई भी उपाय नहीं सूझता था। जीवन में उसे किसी दूसरे सुख की आशा नहीं थी। इस प्रकार आये हुए सुख को वापस लौटा देने के लिये भी उसका मन नहीं करता था। मित्र चला गया, चला गया-सा ही था। मैना भी चली जाये तो फिर बाकी ही क्या रहेगा? ये दोनों विवाह कर लें और सुख से जीवन व्यतीत करें, तो फिर वह क्या करेगा? इसके सुख को देख कर जला करेगा और रोगी शरीर

लेकर दुनिया की दया पर जीवन व्यतीत करेगा ? उसके निर्बल मन को इससे मुक्ति पाने का मृत्यु के अतिरिक्त और कोई रास्ता दिखाई नहीं दिया।

मैना हंसती-हंसती कमरे में आई, "जनुभाई ? यदुभाई ?" उसकी आवाज में उत्साह और सुख का अपूर्व सम्मिश्रण था—"मैं तुमसे किसी का परिचय कराने लाई हूं। बताओ देखें, कौन है ?" उसने अपनी मादक आंखों से दोनों की ओर बारी-बारी से देखा।

दुख से और जागने से चेतनाहीन बने हुए दोनों के मुख पर बड़े ही असमंजस के भाव छा गये। बिना बोले हुए ही दोनों की दृष्टि मैना से प्रश्न पूछने लगी।

"इस प्रकार क्यों देख रहे हो ? प्रियंवद आया है, उसको मैं तुम दोनों से मिलाने के लिये लाई हूं।" प्रियंवद कौन है, दोनों में इतना पूछने का भी धैर्य नहीं था। "प्रियंवद ! प्रियंवद !" उसने आवाज दी। और एक ही पल में बाहर खड़ा हुआ सत्ताईस वर्ष का लगने वाला एक युवक दरवाजे में दिखाई दिया। "ये यदुभाई और जनुभाई मेरे मित्र हैं।" उसने यदु और जनु से प्रियंवद का परिचय कराने के बदले उल्टी तरह परिचय कराना शुरू किया।

दोनों पक्ष में किसी को भी इस उत्साह का तनिक-सा भी स्पर्श अनुभव नहीं हुआ। यदु और जनु इस नये आगन्तुक की ओर एकटक देखते रहे। प्रियंवद, जैसे प्राणी-बाग का प्रदर्शन देख रहा हो, उसने ठंडी, उपेक्षित और व्यंगभरी दृष्टि इन बीमार, दुखी और विचित्र दिखाई देनेवाले दोनों मित्रों पर फेंकी। अपनी भावी पत्नी के ये मित्र उसे कुछ आकर्षक नहीं लगे।

मैना इन तीनों की भावना को ठीक से नहीं समझ पाई। उसे भावनाओं को परखना आता ही नहीं था, पर उसे ऐसा लगा कि यह समागम जितना उसने सोचा था, उतना सफल नहीं हुआ।

"क्यों, कोई बोल ही नहीं रहा ?" उसने बारी-बारी से सबकी ओर देखा। वह थोड़ी देर उनमें से किसी के भी बोलने की प्रतीक्षा में खड़ी रही, पर उसे ऐसा लगने लगा कि इस दिशा में उसका कोई भी प्रयत्न सफल नहीं

होगा। उसने अपनी घड़ी निकाली "अरे, पर हां, अभी तो हमें नंदा बहिन के यहां जाना है। मैं तो भूल ही गई थी।" वह प्रियंवद की ओर मुड़ी, "चलो, हमें देर हो रही है। अच्छा, जनुभाई ! आज मैं नहीं आ सकूंगी। प्रियंवद दिन भर रहेंगे।"

जिस उतावली में वह आई थी, उसी उतावली से चली गई। एक दूसरे को प्रणाम कर एक भी शब्द बोले बिना तीनों युवक अपने-अपने रास्ते हो लिये। प्रियंवद ने जाते-जाते उस कमरे और उसमें रहनेवालों को भांप लेने-वाली एक तिरस्कार-भरी दृष्टि चारों ओर डाली।

एक क्षण के लिए जन्मेजय और यदुनन्दन आत्म-विमूढ़ से दरवाजे की ओर देखते रहे। दूसरे ही क्षण खाट पर पड़े हुए जन्मेजय की हृदय-विदारक सुबकियां सुनाई दीं। रुंधी हुई आवाज में उसने यदु को बुलाया, "यदु मुझे माफ कर; पर देख मैं क्या करनेवाला था ?" उसने तकिये के नीचे से फल काटने के नाम से रक्खी हुई तेज चमकती छुरी निकाली। उसकी आंखों में अर्ध विक्षिप्त-से भाव थे।

यदु ने उसे देखा और समझा। वह जन्मेजय के गले से लिपट गया। बहुत दिनों से रोके हुए उसके आंसू भी बन्धन तोड़ कर बाहर निकल पड़े। "और जनु ! मैं... देख।" उसकी आवाज टूट गई। उसने जेब में से एक छोटी सी पुड़िया निकाली।

जन्मेजय ने उसे देखते ही जल्दी से उठकर उसे उसके हाथ से छीन लिया और पास में रक्खी हुई पीकदानी में झाड़ दिया। वह फिर जोर से यदुनन्दन के गले से लिपट गया, "यदु, दोस्त ! हम दोनों को कौन अलग कर सकता है ?"

बुद्धिशालियों का अखाड़ा

निरंजना सूरत शहर की एक नवीनता थी। उसे नवीनता समझने के लिये बहुत-सी वस्तुयें एक जगह इकट्ठी हो गई थीं; सब से पहले तो यह स्त्री थी, दूसरे आकर्षक थी, तीसरे जवान थी, चौथे पैसे वाली थी, पांचवे वह विधवा तथा स्वतन्त्र थी। इन कारणों के बाद भी और बहुत से कारण थे। वह साधारणतया स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों से अधिक मिलती थी, और उसमें भी अधिकतर उसे बुद्धिमान पुरुषों के पानी देखने का बड़ा शौक था। वह कला के संरक्षण का दावा करती थी। सूरत शहर और वहां की संस्थाओं में होने वाली सभी क्रीड़ाओं में वह यथाशक्ति रस लेती थी। ऐसा लगता था कि जैसे उसने स्त्रियों की पुराण-पूनीत प्रणालिका से हटकर बिल्कुल एकाकी ही चलने का निश्चय कर लिया हो।

निरंजना का घर भांति-भांति के मनुष्य-प्राणियों के मिलने का संग्रह-स्थान था। वहां नये और पुराने सभी प्रकार के नमूने देखने को मिल सकते थे। उसकी दुनिया में मूर्ख और बुद्धिमान, गरीब और धनवान सभी के लिए स्थान था; और शौकीन आदमी जिस प्रकार विविध प्रकार की वस्तुओं का निरीक्षण करता है उसी प्रकार उन सब का निरीक्षण करने में भी उसे एक प्रकार का आनन्द आता था।

उसे किसी प्रकार की चिंता नहीं थी, बच्चों का जंजाल नहीं था, घर की नौकरी नहीं करनी थी। पैसे वाली थी इसलिये उसकी उपेक्षा का भी सगे-सम्बन्धी बुरा नहीं मानते थे और इतनी सारी विचित्रतायें होने पर

भी नगर में वह थोड़ी-बहुत लोकप्रिय भी थी।

तापी नदी के किनारे पर बड़े भारी कम्पाउंड वाला संगमरमर का तथा पैड़ियों से सुशोभित उसका एक विशाल प्रासाद दिखाई देता था। उसका बंगला खंड-खंड करने पर भी अखंड लगे इतना बड़ा था, और उसमें घूमने वाली परिचारिकायें, परिचारिकाओं की अपेक्षा नगर की गृहस्थ-कन्याओं-सी अधिक लगती थीं। हर जगह वैभव दिखाई देता था, प्रत्येक कोने में विस्तार के दर्शन होते थे, और इस सम्पत्ति की एक-मात्र स्वामिनी थी— निरंजना।

आज निरंजना का जन्म दिवस था। आज उसके इक्कीस वर्ष पूरे हो जाने पर कानूनन वह अपनी सम्पत्ति की पूर्ण अधिकारिणी बन गई थी, और इस कारण उसने आज पंडित ब्रिजमोहन, आई. सी. एस. पद्म, शास्त्रीजी रंगनाथ, पुरोहित विजय शंकर और ज्योतिर्विद जगन्नाथ जैसे अपूर्व व्यक्तियों का एक सम्मेलन किया था, और उनमें से एक महापुरुष ने इस सम्मेलन की ओर लक्ष्य कर के कहा भी था कि ऐसे विचित्र बंदर दूसरी किसी छत पर शायद ही कभी इकठे हुए हों। यह बात थी भी अक्षरशः सत्य!

साधारणतया ऐसे महापुरुष एक जगह इकठे नहीं होते और जब होते हैं तो उनकी समग्र महत्ता या तो अनेक गुनी बढ़ जाती है और या एक महाज्योति में समाहित हो कर विलीन हो जाती है। वे यथा संभव एक दूसरे की पर्वाह नहीं करते अथवा किसी के साथ एक मत नहीं होते। पर किसी अद्भुत कारण से जैसे सौ विद्वान एक मत हो जावें उसी प्रकार आज सब एक बात में एक मत दिखाई दे रहे थे और वह बात थी—निरंजना को प्रसन्न करना। सब अपनी महत्ता का और बुद्धि का अहंकार भूल गये थे। केवल इस बुद्धि और महत्ता के सतत ध्यान से उनके व्यवहार की गर्वपूर्ण रीति एक आदत के-से रूप में शेष रह गई थी।

विशाल अग्रखंड में सब बैठे-बैठे निरंजना की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनका सत्कार करने के लिये किसी को नियुक्त कर ट्रस्टियों के साथ वह कुछ आवश्यक बातचीत में फंस गई थी। पर आगन्तुकों में केवल एक पद्म को छोड़ कर

कोई भी ऐसा नहीं लगता था जो इस स्थान से अपरिचित हो।

संकोच कितना रक्खा जाये, इसकी कोई विशेष कसौटी न होने के कारण सब ने अपने स्वभाव के अनुसार अपनी-अपनी कसौटी बना ली थी, और इसकी माप थी उस व्यक्ति-विशेष के बैठने का ढंग। महाकवि अनिल, जैसे सारी दुनिया उनकी कविता पर आधारित है, इस प्रकार एक सोफे पर पैर फैला कर हवा में दुनिया को चकित करने वाली कविता लिख रहे थे। हेमराज जरा पैर को पैर पर चढ़ाये, पंकज के साथ अपने सबसे अंतिम नाटक की प्रस्तावना के विषय में रस-पूर्ण बातें कर रहे थे। सहस्रमुख, कैलाशनाथ और अवनीन्द्रनाथ एक कोने में चौरा-चौरी के हत्याकांड के समय महात्माजी का बर्ताव ठीक था या नहीं इसके तीखे वाद-विवाद में सबसे अधिक जोर से चिल्ला-चिल्ला कर अपने-अपने पक्ष का समर्थन करने में प्रयत्नशील थे। चंद्रमोहन छटादार-वाणी में ब्रिजमोहन, प्रवीणचंद्र और पद्म के आगे उनने पिछली कांग्रेस की व्यासपीठ को किस प्रकार अपने भाषण से गुंजाया था इसका हाल बता रहे थे, और ब्रिजमोहन तथा प्रवीणचंद्र जरा रस-से उसको बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। विलायत से ताजे ही आये हुए आई. सी. एस. पद्म, इन सब मनुष्यों और रीति रिवाजों से अपरिचित होने के कारण अधीरता और तिरस्कार से अपने टॉर्टोइज़ शेल के चश्में से बार-बार इधर-उधर देख लेते थे। शास्त्रीजी लाल कोर के दुपट्टे को दोनों पैरों और शरीर पर लपेट कर, पगड़ी गद्दी पर रख कर, शरीर को झुला रहे थे। पुरोहित जगन्नाथ शास्त्र भी किसी ऊंची चर्चा में उलझे हुए थे।

सब धीरे-धीरे अधीर होने लगे थे। निरंजना, जितना सोचते थे उससे अधिक रुक गई थी और सूर्य के बिना अंधकारपूर्ण पृथ्वी की तरह दीवान-खाना निस्तेज लग रहा था।

"क्या नीरु बहिन ने हम सब को इस प्रकार बैठाकर प्रदर्शनी के लिये बुलाया है?" महाकवि की गर्जना सुनाई दी और सब चौंके।

"बहिन को बहुत देर हो गई," पुरोहित जी बोले।

"कविराज! थोड़ी सी कविता ही लिख डालो। इस तरह समय मालूम

नहीं देगा।" शैतान हेनराज से बोले बिना नहीं रहा गया।

महाकवि ने आंखें निकालीं और उस क्षुद्र मानव-जंतु की ओर देखने लगा।

"चन्द्रिका-विहीन रात्रि की भांति इस समय सर्वत्र निस्तेज नहीं लग रहा?" पंकज के नेत्र जरा मस्ती से चमके।

पद्म इन सब की ओर अरुचि से देखने लगा। निरंजना के घर का यह प्रथम अनुभव उसे अधिक आकर्षक नहीं लगा।

सहस्रमुख के कान चौरा-चौरी के हत्याकांड से इस ओर मुड़ गये। उसकी आंखें जरा पंकज की ओर देख कर स्नेहयुक्त रीति से हंसीं और उसकी बात में भी वह रस ले रहा है इस प्रकार दिखाने के लिये, बात में योग देने लगा।

"मि. पंकज! नीरु बहिन तुम्हें हमारे यहां की साधारण स्त्रियों से कुछ विभिन्न ही प्रकार की नहीं लगती?" जैसे कोई बड़ी भारी खोज की हो उसने इस प्रकार बात कही।

पंकज के बदले अवनीन्द्रनाथ ने जवाब दिया, "You are right. she is a rare specimen among our woman-kind. And she is so intellectual, I should not be surprised, if she becomes another Sarojini Naidu some day. Perhaps she will surpass her."

चन्द्रमोहन से रहा नहीं गया, "She is not intellectual as you think her to be. But her other qualities will make her surpass her predecessors."

और जगन्नाथ ने समझे बिना समझे गर्दन हिला दी "हां, बहिन की कुंडली भी यही कहती है।"

"तुम्हारी कुण्डली में, बहिन के भाग्य में देशभक्ति लिखी है या नहीं? विलायत की तरह यदि बहिन जैसी देश-सेविका पैदा हों तभी कुछ देश का

उद्धार हो सकता है।" कैलाशनाथ का देश-प्रेम एक दम उछल पड़ा।

प्रवीणचन्द्र का मिजाज जैसे जरा बिगड़ गया हो ऐसा लगा, "अरे मिस्टर कैलाशनाथ! तुम झोली लेकर भिखारी हो गये तो अब निरंजना बहिन को भी भिखारी बनाने का विचार है क्या?"

"भिखारियों के देश में भिखारी बनने के अतिरिक्त और दूसरा धंधा हो ही क्या सकता है!" कैलाशनाथ ने उपेक्षा से उसकी ओर देखने का कष्ट किये बिना जवाब दिया और जोर से सिगार पीते-पीते कुरसी हिलाकर झूलने लगे।

इन सबमें जिन्होंने चुप रहने का निश्चय कर लिया था, ऐसे तीन ही आदमी थे ब्रिजमोहन, पद्म और विजयशंकर। पहले को ये सब तुच्छ लगते थे, दूसरे के पास तिरस्कार के अतिरिक्त और कोई प्रवृत्ति थी ही नहीं, तीसरे को क्या कहे यह कुछ सूझता ही न था।

उसी क्षण निरंजना कमरे में आई। उसने पहले श्वेत वस्त्र पहन रक्खे थे। सौभाग्य-सूचक अलंकारों को छोड़कर छोटे-छोटे नाजुक हीरे के अलंकारों से उसकी गर्दन, उसके हाथ और उसके कान झिलमिला रहे थे। अंदर आते ही उसने चारों ओर एक मन्द मुस्कान फेंकी "माफ करना, जरा अधिक देर हो गई।" जैसे सबसे एक साथ बात कह रही हो इस प्रकार उसने स्पष्ट कर दिया और पहली नजर जैसे पद्म पर पड़ी हो इस प्रकार उसके साथ बात करने लगी, "भाई आ गये? तुम तो बहुत बदल गये लगते हो?"

उत्तर में पद्म ने अंग्रेजी ढंग से नमस्कार किया, "तुमने मुझे बहुत वर्षों बाद देखा है इसीलिए ऐसा लग रहा है।" वह इस विभिन्न प्रकार के वातावरण में क्या कहे यह उसकी कुछ समझ में नहीं आया।

"क्यों, काका, भाई, सब आनन्द में हैं?" निरंजना ने और अधिक बात करने का प्रयत्न किया। पद्म ने केवल गर्दन हिला दी। उसका और अधिक बात करने को मन नहीं हुआ। निरंजना महाकवि की ओर मुड़ी?

"ओ-हो! कवि श्री! आज बड़े दिनों बाद दिखाई दिये हो?"

निरंजना का ध्यान पहले अपनी ओर आकर्षित करने के कारण गर्व का

अनुभव करते हुए कविराज आसन पर से उठे, "देवी ! आज के शुभ प्रसंग के लिए मेरा अभिनन्दन । जीवन में ऐसा अपूर्व अवसर एक ही बार आता है । अधिक तो क्या कहूं, पर—

इस विश्व के विषम मार्ग में तुम्हारा,
होवे प्रयाण सुखरूप अत्यन्त सुन्दर,
और गीतों भरे मधुर दिव्य सुकंठ में से,
गा कर प्रफुल्ल करना मन सज्जनों का ।

और हंसकर उसने कहा, "अथवा स्वजनों का ।"

निरंजना इस कवित्वमय प्रसादी को ध्यान में उतार रही हो इस प्रकार थोड़ी देर चुप खड़ी रही, फिर गंभीरता से बोली, "ऐसे सुन्दर काव्य के लिये बहुत-बहुत आभार कविराज !"

"तुम जैसी देवियों की प्रेरणा ऐसे काव्यों को स्वयं ही लिखा देती है ।" महाकवि ने जरा गर्व से कहा ।

पर इससे आगे बहुत ही कवित्वमय कुछ और कहता कि इससे पहले चंद्रमोहन का वक्तृत्व उमड़ा पड़ रहा था । वह आगे आया । "निरंजना बहिन ! तुम्हारे इक्कीसवें जन्मदिवस की बधाई ! आज तुम इक्कीसवें वर्ष में प्रवेश कर रही हो; मनुष्य के जीवन में यह समय कोई ऐसा वैसा नहीं, इतना याद रखना । तुम्हें अब नये नये उत्तरदायित्वों को उठाना है, अभी गधा-पचीसी का समय बिताने के लिये......"

उसके वाक्य पूरा करनेसे पहले ही निरंजना ने उसे रोक दिया, "चंद्र-मोहन ! इतनी सुंदर बातें बताने के लिये मैं तुम्हारी ऋणी हूं ।" और दृष्टि उधर से फेर ली ।

सहस्रमुख जरा खांसकर कोट के बटन ठीक करते हुए आगे आये, "नीरु बहिन ! अभिनंदन !"

इनको जवाब मिलने से पहले ही प्रवीणचंद्र अपने हाथ का बंडल खोलते-खोलते बोल उठे, "साल मुबारिक ! नीरु बहिन ! तुम्हारे लिये अपने कारखाने में बने हुए चमड़े के स्लीपर लाया हूं, उन्हें स्वीकार करोगी ?"

निरंजना ने जरा हंसकर स्लीपर हाथ में ले लिये "सुंदर हैं!"

"तुम्हारे लिये ही विशेष रूप से बनवाये थे।"

अब तक बिल्कुल चुप बैठे हुए ब्रिजमोहन का धैर्य अब टूटने लगा था। वह एक बार खांसा, एक बार हाथ कोट की जेब में डाला फिर बाहर निकाला और फिर डाला, और इतने प्रयास के परिणामस्वरूप एक सुंदर डिबिया जेब में से बाहर निकाली। प्रवीणचंद्र की ओर तिरस्कार की एक दृष्टि डालते-डालते उसने आवश्यकता से अधिक देर लगाकर आस-पास वालों की आतुरता को जरा उकसाया और "नीरु बहिन! मेरी यह निर्जीव भेंट स्वीकार करोगी" यह कहते कहते चमकती हुई सुंदर ब्रासलेट की जोड़ी उसने निरंजना के आगे रख दी।

सब आश्चर्यान्वित से दिखाई दिये, और निरंजना को भी कुछ कम आश्चर्य नहीं हो रहा था, "ब्रिजमोहन भाई! ऐसे अवसर पर इतनी बड़ी भेंट नहीं होती।" उसने रुकते-रुकते कहा।

"नहीं, मेरी कसम बहिन! अब तो तुम्हें रखनी ही पड़ेगी।"

निरंजना असमंजस में पड़ गई, "पर भाई—"

"एक भी अक्षर और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं और मैं सुनने वाला भी नहीं।"

निरंजना ने अपने असमंजस के भावों को छिपा दिया और डिबिया ले कर एक ओर रख दी। इस असाधारण प्रसंग को लेकर सब जरा मूक हो गये थे इसलिये उसने कैलाशनाथ की ओर जरा हंस कर देखा, "क्यों कैलाशनाथ, क्या खबर है?"

इस अकस्मात प्रश्न से कैलाशनाथ एक क्षण भर के लिये अवाक रह गया, पर फिर उतावली में उसने कहा, "Congratulations, निरंजना बहिन! मैं तो देने के बदले लेने आया हूं। मेरी झोली में क्या डालेगी?"

निरंजना के मुख पर मुस्कान खेल उठी, "जो मांगोगे वही। तुम्हें कहीं मना किया जा सकता है?"

" आज तो तुम बालिग हो गई हो, इसलिये तुम्हें कम से कम हमारे

फंड में दस हजार रुपये देने पड़ेंगे।"

जैसे इस प्रकार मांगने में कोई अविनय की बात हो गई हो इस प्रकार सबने उसकी ओर कटाक्ष से देखा। पर निरंजना ने उतनी ही प्रसन्नता से जवाब दिया, "मांगे भी तो इतने हीं?" और वह पंकज तथा हेमराज की ओर मुड़ गई, "क्यों पंकज! क्या सोच रहे हो?"

"मैं सोच रहा था कि मेरे उपन्यास की तपस्विनी सदेह तो नहीं उतर आई?"

निरंजना जोर से खिलखिला कर हंस पड़ी, "तपस्विनियां गहने नहीं पहनतीं।"

पंकज इस बात से जरा कट सा गया पर उसने साहस पूर्वक कहा, "नये युग की तपस्विनियां भी नहीं क्या? और कल्पना को और अधिक क्या चाहिये? शुभ्रवस्त्र, रम्य आकृति..." फिर उसने जीभ काट ली और फिर हिम्मत ला कर आंखें फाड़ कर वह लाक्षणिक हंसी हंसा।

निरंजना को यह ढंग कुछ अच्छा नहीं लगा पर हंसी में उड़ाते हुए उसने कहा, "योगिनियों को तो उपवास कर के तथा सरदी और धूप सह कर कठोर और काला बनना चाहिये।" वह ऐसी नहीं है इस प्रकार की सूचना देते हुए यह वाक्य भी उसके मुंह से निकल ही गया पर फिर ठीक नहीं लगा। उसने वाक्य अधूरा ही छोड़ दिया और हेमराज से प्रश्न किया, "ओहो हो! हेमराज! तुम कब आ पहुंचे? मैं तुम्हें कल ही याद कर रही थी।"

हेमराज जैसे इस साधारण-से याद करने से फूल गया हो ऐसा दिखाई दिया, "कल ही मुझे भी ऐसा लगा था कि नीरु बहिन अवश्य याद कर रही होंगी। 'व्यतिषजति पदार्थान् नान्तरः कोऽपि हेतुः', यह श्लोक याद है? तुम ने मुझे यहां याद किया, और मुझे ऐसा लगा कि नीरु बहिन मुझे याद कर रही होंगी। मन का मन साक्षी है, यह सिद्धान्त कुछ झूठ नहीं।"

निरंजना के लिये आज का यह दिन बात-बात पर शरमाने का ही दिन था। उसकी आवाज जरा शुष्क हो गई, "नहीं, नहीं, यह बात नहीं,

मैंने तो जरा शास्त्रीजी से पूछ लिया था कि अभी तुम बाहर से लौट हो या नहीं ?"

"यह तुमने जरा पूछ लिया, इसी से तो मेरा सिद्धांत खरा उतरता है।"

वाद-विवाद में उतरना अप्रासांगिक था इसलिये शास्त्रीजी तथा चन्द्र-मोहन आपस में बातें कर रहे थे। उनकी ओर देख कर उसने कहा, "चन्द्र मोहन ! तुम हेमराज को जानते ही होगे। ये 'चन्द्र-रजनी' इत्यादि प्रसिद्ध नाटकों के लेखक हैं।"

"नाट्यकार हेमराज को कोई न जानता हो, ऐसा कोई इस सूरत शहर में है क्या ? इनसे मिलने के लिए मैं बहुत समय से आतुर था। आज अनायास ही इस शुभ अवसर पर भेंट हो गई।"

हेमराज ने इस प्रशंसा से अपूर्व आत्म-सन्तोष का अनुभव किया और बड़ी ही कृपापूर्ण दृष्टि से चन्द्रमोहन की ओर देखा। "मैंने भी तुम्हारा नाम सुना था।"

इन दोनों को बात करते हुये छोड़कर, एक कोने में खड़े हुए आचार्य अवनीन्द्रनाथ और ज्योतिर्विद शास्त्रीजी इत्यादि की ओर मुड़ी। अब तक मौन बने हुए आचार्यजी ने अपनी शाल का पल्ला ठीक करते हुये बधाई दी। जगन्नाथ ने शक्कर-गोले का प्रसाद देकर इस वर्ष निरंजना की कुंडली में सुन्दर ग्रहयोग पड़ने की बधाई दी। शास्त्रीजी ने उसमें लक्ष्मी और सरस्वती का विरलयोग होने से अपूर्व परिणाम निकलने की शुभेच्छायें प्रदर्शित कीं। पुरोहितजी ने पवित्र भस्म देकर उसे सौ वर्ष की आयु होने का आशीर्वाद दिया, और उसके उदार तथा परोपकारी स्वभाव की प्रशंसा की और इस प्रकार सबकी बधाइयां स्वीकार करती हुई निरंजना सबसे बैठने के लिये कह कर, देर हो जाने से जीमने की तैयारी ठीक हो गई थी या नहीं यह देखने के लिये अंदर चली गई।

उसे जाते हुए देखकर महाकवि ने एक ठंडी सांस ली, और पास बैठे हुए पंकज की ओर देखकर जैसे कोई महासत्य का विश्लेषण कर रहा हो इस प्रकार बोले,—"पंकजराय ! अपने जीवन में मैंने बहुत सी स्त्रियां देखी

हैं । कोई सूर्य जैसी ज्वलंत तो कोई चन्द्रमा जैसी शीतल; कोई शची रानी जैसी सुन्दर तो कोई मोंगरा जैसी सुवासित । मुझे काठियावाड़ की कोकिल-कंठियों और गुजरात की गृहणियों, बड़ौदा सूरत की मधुरियों और बम्बई की अलबेलियों का भी अनुभव है, पर इन सबका विरलयोग जैसा मैंने यहां देखा है वैसा और कहीं नहीं देखा।"

पंकज का स्वभाव जरा मजाकिया था। उसने आंखों को एक-दो बार खोला मींचा, "और कविराज! मैंने कल्पना में बहुत सी सुन्दरियों की कल्पना की हैं और उससे भी अधिक के साथ मेरा गाढ़ा परिचय रहा है, पर इस मूर्ति के आगे सब पानी भरती हैं।"

पद्म इन दोनों के बहुत पास था। जैसे क्रोध में हो इस प्रकार उसकी आंखें जरा लाल हो गई, पर कुछ भी बोलना अनावश्यक था इसलिये मौन का ही अवलंबन लिया, और चारों ओर की बातें ध्यान से सुनने लगा।

एक ओर हेमराज और चन्द्रमोहन धीरे से कुछ बात कर रहे थे। उनकी बातों के थोड़े-थोड़े शब्द पद्म के कानों में भी पड़ रहे थे। उसने व्रजमोहन का नाम लिये जाते हुए सुना, "क्या नीयत है?" ऐसे टूटे-फूटे शब्द कान में पड़े। महाकवि की ओर देखकर दोनों ने आंख मारी यह भी उसने देखा। चन्द्रमोहन केवल मजाक ही कर रहा था पर हेमराज जरा ईर्ष्या से बोल रहा था, यह भी उसने अनुभव किया।

उसने अपने कान दूसरी ओर फेर लिये। सहस्रमुख, शास्त्रीजी और प्रवीणचन्द्र एक कोच पर साथ-साथ बैठे थे। प्रवीणचन्द्र ने सहस्रमुख की ओर देखकर बड़े विवेक के साथ गर्दन हिलाई। "तुम्हारी बात ठीक है। पर दुनिया व्यर्थ के लिए अर्थ का अनर्थ कर देती है। निरंजना बहिन को इन बंदरों को इतना चढ़ाना नहीं चाहिए था। ये स्वयं भी आवश्यकता से अधिक स्वेच्छाचारी हो जाते हैं।" उसने अन्तिम वाक्य रुकते-रुकते कहा।

सहस्रमुख सीधा जवाब देने के बदले मुस्कराया, "भाई! अब तो दुनिया ही नई बन रही है। जब new-woman का जमाना आता है तो ऐसा ही होता है।"

प्रवीणचन्द्र को लगा कि सहस्रमुख उसे उलटा समझ गया था, "सहस्र-मुख ! मेरी बात तुम लगता है ठीक-ठीक नहीं समझे । नीरु बहिन जैसी भली स्त्री मैंने और कोई नहीं देखी । इसकी भलमनसाही का लोग बुरा लाभ उठाते हैं, इसी से मुझे इतना बुरा लगता है ।"

"तुम यदि यह समझते हो कि नीरु बहिन इतनी कच्ची हैं तो इसमें तुम्हारी सरासर भूल है । उनको जितना मैं जानता हूं उतना और कोई नहीं जानता । यह पूरा type ही study करने योग्य है । आया कि मेरे साथ तो बड़ा ही सद्भाव का व्यवहार करती हैं और मैंने कितना ही अच्छे से अच्छा समय उनके साथ बिताया भी है ।"

"तुमको मां, बहिन, या पत्नी किस रूप में ऐसी स्त्री अच्छी लगती है ?" शास्त्रीजी ने बीच में ही प्रश्न किया ।

"बहुत गंभीर और विचारणीय प्रश्न पूछ लिया, शास्त्रीजी । पर इसका उत्तर विचार किये बिना तुरन्त नहीं दिया जा सकता ।" सहस्रमुख ने बात उड़ाने का प्रयत्न किया और धीरे से हंसते-हंसते पंकज की ओर देखकर कहा, "शास्त्रीजी का प्रश्न सुना ?"

पंकज ने जोर से पूछा, "क्या ?"

सब का ध्यान उसकी बात की ओर आकर्षित हुआ । सबने यह प्रश्न सुना, और जवाब दिये बिना सब फिर अपनी-अपनी बात में लग गये ।

केवल कैलाशनाथ और अवनीन्द्रनाथ बंगाली कला, पैसेवालों का कर्तव्य, गांवों की स्थिति इत्यादि विषयों पर बात कर रहे थे, और दूसरे किसी ग्रूप के साथ अच्छा न लगने के कारण ब्रिजमोहन इन दोनों की बात बहुत बोले बिना ही सुन रहा था । एक कोने में पुरोहित और जगन्नाथ शास्त्र-पुराण की चर्चा कर रहे थे ।

स्वागत के लिए नियुक्त किये हुए किसी सम्बंधी ने आकर कहा कि भोजन तैयार है और निरंजना भोजन-शाला में सबकी प्रतीक्षा कर रही है । बात का विषय बदल गया । सब कपड़े निकालने की खटपट में पड़ गये और सब समझदार आदमियों की तरह जैसे मास्टर के आगे-आगे स्कूल के छात्र

चल देते हैं इस प्रकार भोजनशाला की ओर चल दिये।

उपर्युक्त घटना को दो-तीन दिन बीत गये। निरंजना के दीवान-खाने में संध्या के लगभग चार बजे के समय निरंजना और पद्म जैसे किसी गम्भीर बात में उलझे हुए हैं ऐसे लग रहे थे। इन दोनों को देख कर ऐसा नहीं लगता था कि इनका अभी का परिचय हो। निरंजना शांत, गम्भीर और लापरवाह लगने के बदले आनन्दित और आतुर दिखाई दे रही थी; पद्म परिचित, अत्यन्त परिचित, दिखाई देने का प्रयत्न करने पर भी वैसा ही दिखाई दे रहा था।

"पद्म ! तू तो उलटा था इसी से तो बिगड़ आया। इससे तो जब तू गया था तब अच्छा था।"

शांति से पद्म ने जवाब दिया, "तुम बड़ी हो गईं इसलिये तुमको ऐसा लग रहा है।"

"और तू क्या बड़ा नहीं हुआ ?" निरंजना गुस्से हो गई, "बड़ा भारी कलक्टर हो जायेगा न, इसी से इतना रौब मार रहा है ?"

"कुछ भी हो जाऊं, पर मैं सूरत शहर की प्रसिद्ध श्रीमती निरंजना बहिन तो नहीं ही हो पाऊंगा।"

निरंजना जरा नरम पड़ी "तुझे ताने मारने हैं, क्यों ? मैं समझती हूं कि तू इतने वर्ष विलायत रह आया इसलिये स्त्रियों की स्वतन्त्रता में तो तेरा विश्वास होगा, पर तू तो हिन्दुस्तान के आदमियों से भी ज्यादा वहमी है।"

पद्म जरा शरमाया "नीरु बहिन ! तुम उल्टा अर्थ करती हो।"

"उल्टा अर्थ करती हूं ? कौन, मैं ? नहीं नहीं, जरा भी नहीं, स्त्री सन्मान की वृत्ति ने तो मुझे निरंजना बहिन की पदवी दिलाई है।" निरंजना के स्वर में स्पष्ट कटुता की ध्वनि थी। जैसे समझा ही न हो इस प्रकार पद्म उससे बोला :

"नीरु बहिन ! तुम्हें पता है कि यहां के और वहां के पुरुषों की स्त्री-सन्मान की वृत्ति में अन्तर है ?"

"क्या ?"

"वहां के पुरुष स्त्रियों को मित्र समझते हैं। यहां के पुरुष उन्हें सुन्दर पुतली के रूप में पूजते हैं। फिर उन्हें चाहे देवी कहें या दासी कहें यह दूसरी बात है।"।

"अर्थात् ?"

"वहां स्त्रियां पुरुष के संरक्षण पर जीवित नहीं रहतीं। वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में काम करती हैं और प्रत्येक स्थान पर वे अपनी योग्यता और शक्ति से पुरुषों के सन्मान का पात्र बनती हैं। यह सन्मान न तो कोई कृपा होती है और न ही पुरुषों की स्वामी-वृत्ति से ही प्रेरित होती है!" वह जरा देर रुका। निरंजना कुछ भी बोले बिना उसकी ओर देखती रही, "यहां स्त्री को जो सन्मान मिलता है वह दूसरी प्रकार का है।" विचार करके जैसे विश्लेषण कर रहा हो इस प्रकार उसने आरम्भ किया, "अधिकतर तो वह किसी पुरुष से संरक्षित होती हैं, इसलिये उसे सन्मान देना एक कर्तव्य हो जाता है, अथवा पत्नी होती हैं तो वह इतनी तुच्छ है कि उसे अपमान देने जैसी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।"

"मैं इन दूसरे वर्ग की स्त्रियों में आती हूं न ?" जरा तीखेपन से निरंजना ने पूछा।

"नहीं, तुम फिर एक तीसरा ही प्रकार हो। साधारणतया ऐसी स्त्रियां इस देश में बहुत ही कम होंगीं कि जिन्हें तुम्हारे जैसी स्वतन्त्रता, सम्पत्ति तथा निरंकुशता मिली हो, और जहां सम्पत्ति तथा स्त्री संरक्षण-विहीन होती है, वहां संरक्षण करने का तथा स्वामित्व भोगने का शौक प्रत्येक व्यक्ति को हो जाता है।" निरंजना का मुख क्रोध से लाल हो गया था पर उसकी पर्वाह न करते हुए उसने बात आगे चला दी, "जहां इस प्रकार खुले रूप में नहीं हो सकता वहां स्त्री के अभिमान को सन्मान के शृङ्गार से संतुष्ट कर देहली के ऊपर बिल्ली की तरह, कि कब दाव लगे, प्रतीक्षा करते रहते हैं।"

निरंजना का क्रोध बिल्कुल सातवें आसमान पर पहुंच गया था। "पद्म ! बहुत हो गया, मुझे आगे नहीं सुनना है।"

"मैं पहले से ही जानता था कि तुम इस कटु सत्य को गले नहीं उतार पाओगी ?" उसने टेबिल पर से टोपी उठायी, "क्यों, तो अब मैं जाऊं ?"

निरंजना एक दम नरम हो गई। उसे अपने बाल-स्नेही के साथ इस प्रकार अलग होना अच्छा नहीं लगा। फिर सत्य सुनना भी स्त्रियों को अच्छा नहीं लगता। वे निर्बल और असहिष्णु होती हैं। उसे अपना कृत्य इस आक्षेप के योग्य लगा, "नहीं बैठो, अभी चाय आ रही है।"

पद्म ने टोपी उतार कर रख दी और फिर बैठ गया। उसका भी जाने का विशेष मन नहीं था और बहुत-सी बातें जानने की उसे जिज्ञासा भी थी।

थोड़ी देर इन दोनों के बीच एक प्रकार की शांति फैली रही। निरंजना को इस प्रकार कथन में सत्य तो लग रहा था, पर उसके स्वतंत्रता से तीखे बने हुए स्वभाव को इस प्रकार की बातें सुनने का अभ्यास नहीं था। पद्म को छोड़कर कदाचित् ही कोई इस प्रकार की बातें कर सका होता।

थोड़ी देर में शांति भंग करते हुए निरंजना ने पूछा, "पर तू...तुमने वहां क्या किया यह तो बताओ।"

"पढ़ा, खाया, और मौज की।"

"बस इतना ही ?"

"मैं इतना ही करने के लिये वहां गया था और क्या करता ?"

"पर वहां के कुछ सरस अनुभव..."

"तुम्हें विशेष आनंद आये ऐसे कुछ अनुभव नहीं ! हां, एक दो लड़कियां मिली थीं, उन्हें किस प्रकार फटकार बतायी वह जानना हो तो है।"

निरंजना की आंखें मस्ती के भावों से चमक उठीं, "मजा आवेगा, बताओ तो।"

"वह बाद में। पहले मुझे यहां की बातें तो बताओ।"

"तुम्हें क्या जानना है ?"

"तुम्हारा विवाह कैसे हुआ, और फिर इतनी प्रख्यात किस प्रकार हुई, यह सब। मुझे तुम इतनी अधिक बदली हुई लग रही हो कि यह सब

पूछे बिना मुझसे रहा नहीं जाता।"

निरंजना का मुंह फिर एक दम लाल हो गया। पर पद्म से दबना नहीं है, जैसे यह निश्चय कर लिया हो, इस प्रकार उसने एक साधारण बात की तरह अपनी बात आरंभ की।

"मैंने विवाह इसलिये किया, कि मेरा विवाह किया गया। मैं विधवा इसलिये हो गई कि मेरा पति मर गया। प्रख्यात इसलिये हुई, कि वह हुए बिना मेरा कल्याण नहीं था।" पद्म आंखें फाड़कर देखता रहा। निरंजना के बाद अब उसका विस्मय में डूबने की बारी आई थी।

"मेरे लिये दो ही रास्ते बाकी थे, एक तो यह कि जाति की बुढ़ियाओं में बैठकर बुढ़िय बन कर माला फेरना, तीर्थ यात्रा और देह-दमन कर काया को गलाना, और दूसरा यह कि नये विचारों की स्वतंत्र स्त्री बन कर दुनिया को देखना और प्रख्यात होना। मैंने दूसरा रास्ता ही स्वीकार किया।"

पद्म क्या कहे उसकी समझ में नहीं आया। उसे चुप-चाप ही सुनने में अधिक रस आ रहा था।

"मुझे लगता है कि मैंने अपनी पसंदगी में कुछ भूल नहीं की।" जैसे कुछ सोच रही हो इस प्रकार निरंजना ने बात फिर आगे चलायी, "कुछ नहीं तो उससे मुझे अनेक प्रकार के मनुष्यों के संपर्क में आने को तो मिल ही जाता है। और स्त्रियां जिस दुनिया को कदाचित् ही देख सकें वह बाहर की दुनिया तो मैं देख ही सकती हूं।"

"पर किसी दिन तुम यह दुनिया देखती-देखती थकती नहीं या ऊबती नहीं?"

"किस लिये ऊबूं!" निरंजना ने उलट कर प्रश्न किया।

उत्तर में निरंजना से अपरिचित पर उसके घर की एक बार की मुलाकात में कल्पित बहुत-सी बातें कहने का मन हुआ, पर पद्म ने कुछ न कह कर बात फेरना ही ठीक समझा। थोड़ी देर उसने टेबिल पर पड़ी हुई टोपी को गोल-गोल फिराया और जैसे कोई नई बात आरंभ करने जा रहा हो, इस प्रकार उसने बहुत देर में कहा।

"निरंजना बहिन ! तुम्हारे यहां उस दिन आये हुए लोगों में से मैं किसी को भी नहीं पहचानता। उनमें से कुछ आदमी तो जैसे काफी बड़े आदमी हों ऐसे लग रहे थे। मुझे उनका परिचय तो कराओ कि किसी दिन मिलें तो काम आयें।"

निरंजना हंसी। उसने बात बदलने का यह प्रयत्न ताड़ लिया, उसे थोड़ी शैतानी करने का मन हुआ। नौकर उसी समय चाय की ट्रे रख गया था। उसने केटली की चाय हिलाते हुए पूछा, "तुम्हें किस के विषय में जानना है?"

"सभी के विषय में। मैं तो किसी को जानता ही नहीं।"

"ये सब मेरे मित्र हैं।" उसने गंभीर मुद्रा से जरा नाक फुलाकर कहा।

"वह तो मैं देख सका था।"

"कहां से शुरू करूं? उंह! देखो, जिन्होंने पीला दुपट्टा और लाल पगड़ी पहन रक्खी थी, वे मेरे शास्त्रीजी हैं। मुझे संस्कृत पढ़ाने आते हैं। और वे मेरी कुशाग्र बुद्धि पर मुग्ध हैं। उनकी एक जगदंबा जैसी पत्नी है, इस लिये उससे डरते और कांपते रहने के कारण उन्हें घर जाना बहुत याद नहीं रहता। परिणाम यह होता है कि शिष्यों के पढ़ाने में अधिक ध्यान देते हैं।"

पद्म ने चाय का प्याला हाथ में लेते-लेते बड़ी गंभीरता से केवल 'हूं' किया।

"दूसरे थे ज्योतिर्विद जगन्नाथ। हर बार ये मेरी कुंडली बड़ी सावधानी से बनाते हैं और इनका विशेष विश्वास है कि मेरा ग्रहयोग इतना विरला है कि लाखों में एक स्त्री का हो तो हो।"

पद्म ने एक चम्मच चीनी प्याले में डाली और ऐसी मुखमुद्रा कर ली कि जैसे बड़े ध्यान से सुन रहा हो—

"उनके साथ जो बैठे थे वे पुरोहितजी थे—हमारे खानदानी पंडित।" उनके विषय में निरंजना को कोई कहने योग्य विशेष बात दिखाई नहीं दी।

"उस बंगाली प्रोफेसर के साथ जो बैठे थे वे कौन थे?" सब सामान्य व्यक्ति समाप्त हो गये हैं, यह लगने के कारण पद्म ने पूछा।

"कौन वे भावनगरी पगड़ी वाले? उनका नाम विवेचक सहस्रमुख है। शाक लाने से लगाकर 'लौंगिनस ऑन सब्लाइम' तक सब विषयों में

निष्णात् होने का इनका दावा है और हर प्रकार के मनुष्यों के विषय में ये छटादार विवेचना कर सकते हैं। इनको शहर की फूली मालन से लगा कर कलक्टर तक सब जानते हैं, और जितने में सब इनको जानते हैं उनसे अधिक ये हर एक को पहचानते हैं और हर एक के खानदान का इतिहास जानते हैं। बड़े ही सभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति हैं।"

एक स्पष्ट स्मितहास्य पद्म के मुख पर प्रकट हुआ "मुझे भी इनको जानना पड़ेगा। बड़े आदमी मालूम होते हैं।"

"अवश्य।" निरंजना की मुख-मुद्रा अत्यन्त गंभीर हो गई थी, "इनको जाने बिना इस सूरत शहर में किसी का काम चल ही नहीं सकता। प्रत्येक बुद्धिशाली व्यक्ति इनके विचारों पर जीता है। प्रत्येक सभ्य और सुसंस्कृत स्त्री इनकी प्रेरणा के बिना संपूर्ण नहीं लग सकती ! समभाव इन्होंने संतोष से ही अधिक प्राप्त किया है।"

पद्म ने नोट-बुक निकाली और कहीं भूल न जाये इसलिये 'एस' के पन्ने में सहस्रमुख नाम लिख लिया।

"इनके साथ बैठे हुए अवनीन्द्रनाथ सरकार यहीं के सूरत कालिज के प्रोफेसर हैं" निरंजना ने पथप्रदर्शक की-सी रीती से उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना बात आगे चलायी, "गुजराती प्रोफेसरों की बड़ी से बड़ी कमी—अंग्रेजी न बोल सकना—से ये मुक्त हैं। मीठे स्वर में जैसे फूल बिखेर रहे हों इस प्रकार सुंदर अंग्रेजी बोल कर ये कृष्ण की बाँसुरी की तरह सबके मन मुग्धकर सकते हैं। इनका शरीर यद्यपि कृष्णवर्णी तथा स्थूल है पर फिर भी तेल से चमकते हुए इनके घुंघराले बाल और शाल ओढ़ने की अदा के कारण ये आकर्षक लगते हैं, और इनकी विद्वत्ता की तो कोई सीमा ही नहीं।" उनके गुणानुवाद में और क्या कहा जा सकता है जैसे वह यह याद कर रही हो, इस प्रकार जरा रुक कर थोड़ी देर में बोली, "यहां के कालिज की लड़कियां और कार्यकर्ता स्त्रियों में इनके आने के बाद से एक नया ही उत्साह आ गया है। मोहक मुस्कराहट और अमाप दिखाई देने वाली विद्या से ये बहुत कुछ कर सकते हैं।"

"विवाहित हैं या कुंवारे?" पद्म ने हंस कर पूछा।

निरंजना ने भी वैसे ही जवाब दिया, "विवाहित तो हैं, पर बेचारों के भाग्य में कुजोड़ स्त्री थी।"

"उनके सामने बैठा हुआ वह खादी की टोपी वाला कौन था?"

"कैलाशनाथ। इनके विषय में कुछ विशेष जानने योग्य नहीं। खेड़ा के सत्याग्रह के समय ये जेल में हो आये हैं, और अवधूत की तरह हर जगह जाकर भिक्षान्देहि कह कर अपना पल्ला पसार देते हैं। हमारे समाज में हर एक व्यक्ति के ये बड़े प्रेम-पात्र हैं इसलिये इनकी चिताओं का बोझ सब थोड़ा-थोड़ा अपने ऊपर ले लेने के लिये सदैव तत्पर रहते हैं।"

"कुछ शंका की बात लगती है।" पद्म ने निरंजना को चिढ़ाने के लिये कहा।

"तुम पुरुषों को किस बात में शंका नहीं दिखाई देती यह तो बताओ? निरंजना ने जरा गुस्से होने का अभिनय किया। "अच्छा, वह नाट्यकार तुमको कैसा लगा?"

"तुमने जिस का चंद्रमोहन कह कर परिचय कराया था वह न?" जवाब देने के बदले पद्म ने विरोधी प्रश्न कर दिया।

"अर रर! अभी तुम को पूछना पड़ रहा है? हेमराज से कोई पल भर के लिये भी अपरिचित रह सकता है? किसी कवि ने 'सूर्य छिपे नहीं बादल छाये' कहा है वह बात इन पर पूर्णतया घटती है।"

"तब तो मुझे इनके विषय में अवश्य बताओ", पद्म ने जिज्ञासा का अभिनय करते हुए कहा।

"इस दुर्बल शरीर में बिजली की चिंगारियां बसती हैं, और तलवार की धार सदृश तीक्ष्ण-वाणी से दुश्मनों को घायल कर मित्रों के कलेजे को हर्ष से कंपा डालते हैं। इनका ऐसा विश्वास है कि अमृत और जहर को पी-पी कर पुष्ट हुई इनकी लेखनी देवताओं से भी दुर्दर्प है, और श्रीकृष्ण की भांति युवतियों के हृदय हरने की और अरिदल को विध्वंस करने की शक्ति भी इनमें अमाप है।"

"और हृदय आकर्षित होने पर फिसले बिना भी नहीं रहा गया।"

"हा! हा! हा!" अब तक पद्म का सारा संयम जाता रहा और उसे खूब जोर की हंसी आ गई।

"अपमान कर रहे हो?" छोटे बालक को डांटने वाली बूढ़ी मां की तरह निरंजना ने कहा, "ऐसे महापुरुष के विषय में तुम ऐसी बात सोच ही कैसे सकते हो? पर इस में तुम्हारा भी कोई दोष नहीं। सामान्य जन उच्च भूमिका पर बसने वाले मनुष्यों की बात समझ ही नहीं सकते। तुमको पता है कि महाकवि के समस्त आकर्षणों का आधार प्लेटो है, अरिस्टोटिल नहीं।" निरंजना का क्रोध वास्तविक था अथवा कृत्रिम, यह कहना कठिन है।

पद्म घबराया, "क्षमा करो, मेरा इस सज्जन का अपमान करने का बिल्कुल इरादा नहीं था।"

"तुमको इन की महत्ता का बिल्कुल ध्यान नहीं इसलिये ऐसी बात कह दी। बिल्वामंगल की भांति इन्होंने अपनी मोह-प्राप्त आंखें तो नहीं फोड़ीं, पर अपने आदि-पुरुष कंडु की भांति जिस से अपने चित्त में जाने अनजाने विकार उत्पन्न हो गया हो ऐसी प्रत्येक स्त्री को प्रकट में यह किसी भी अधम से अधम स्वरूप में भी चित्रित करना नहीं भूले कि जिस से लोकमत के कारण उनके हृदय में ऐसी निर्बलता उत्पन्न ही न होने पावे। और वैर-भाव से भी जैसे भगवान मिल गये हों, तदुपरांत हुई चित्त की निर्मल दशा में पवित्र आदि संस्कृति के उद्धार के लिये पैगंबरी वाणी भी व्यक्त कर सकते हैं।"

"पर उसमें बेचारी स्त्री का क्या दोष?" इस वाग-जाल में उलझ जाने पर पद्म ने पूछा।

"शास्त्रकारों ने कहा नहीं कि नारी नरक की खान है। नहीं तो ऐसे महापुरुषों को इतनी बार धोखा खा चुकने पर भी जीवन में इतने अधिक पाप करने का प्रसंग क्यों आता? यह तो उनके बड़े-बूढ़ों के पुण्य ही आड़े आ गये कि उन स्त्रियों को ऐसे महापुरुष से मोह उत्पन्न नहीं हुआ नहीं तो

बेचारियों की क्या दशा होती ?"

निरंजना के बोलने में विनोद था या गंभीरता इस विषय में तो अब पद्म को भी संशय होने लगा। उसकी कुछ समझ में नहीं आया कि वह क्या जवाब दे। निरंजना उस की स्थिति को समझ गई, "तुम अब बातों से ऊबने लगे हो। सब की ब्यौरेवार बात तुम से फिर की जायेगी, अब तो एक दो नाम और रह गये हैं उनके विषय में बतला दूं कि बस ?"

"नहीं नहीं, तुम्हारी बात मुझे समझ में नहीं आ रही, पर आनंद तो खूब आ रहा है, मैं बिल्कुल भी थका नहीं।" पद्म की आतुरता ऊपर से देखने में तो बिल्कुल वास्तविक-सी ही थी।

"उस दिन जितने यहां थे उनमें से तो अब ब्रिजमोहन और प्रवीणचन्द्र ही रह गये हैं।" पता नहीं क्यों पर निरंजना अब स्वयं ही बातों से ऊबने लगी थी, "ब्रजमोहन इस नगर के करोड़पति हैं। हिन्दुस्तान भर में इनकी दस-बारह मिलें चलती होंगी। शहर की बहुत सी प्रगतियों में प्रमुख भाग लेने लगे हैं। आज कल विधवा-विवाह-उत्तेजक-मण्डली के प्रमुख का पद स्वीकार कर लेने से सुधारक के रूप में भी इनकी गिनती होने लगी है। इनकी पत्नी गत वर्ष दो बालकों को छोड़ कर परलोक-वासिनी हो गई, तब से संसार के प्रति इनके चित्त में निर्वेद उत्पन्न हो गया है। इसीलिये मन बहलाने के लिये कभी-कभी इनकी उदारता भी सराहनीय है।" पद्म को टीका टिप्पणी करने का समय न देने के लिये उसने पूछा, "और चाय लोगे ?"

"नहीं, Thanks ! शुक्रिया।"

"प्रवीणचन्द्र भारतवर्ष की उद्योग-कलाओं के विशेषज्ञ हैं और उनके विकास की रीतियों का अध्ययन करने के लिये इन्होंने पांचेक वर्ष पश्चिम में भिन्न-भिन्न स्थानों पर व्यतीत किये हैं। आजकल ये सेठ लक्ष्मीदास के चमड़े के बड़े कारखाने में मैनेजर हैं। उद्योगों के विषय में इनका मत विशेष रूप से प्रमाण समझा जाता है। अभी कुंवारे हैं, शायद अगले वर्ष विवाह हो जायेगा।"

यह बात समाप्त करने पर निरंजना को ऐसा लगा कि जैसे एक बड़ा

भारी बोझ उसके सिर पर से उतर गया हो। इस बात-चीत के परिणामस्वरूप या किसी और कारण से दोनों के बीच का अंतर जैसे और बढ़ गया हो, इस प्रकार बहुत देर तक दोनों चुप रहे !

पद्म ने साहस कर मौन भंग किया, "निरंजना, तुम बड़े भारी खतरे में हो !"

"किस बात के ?" चकित होकर उसने पूछा।

"इन आदमियों के जंगल में फंस जाने के !"

"इसके सिवाय मुझे और कोई रास्ता ही दिखाई नहीं देता।"

"एक है !"

"कौन सा ?"

"मेरे साथ विवाह कर लेने का !"

"क्या ?" विस्मय में निरंजना के मुंह से जोर की आवाज निकली।

"विचारकर देखना," पद्म ने शांति से कहा, "यह वैभव छोड़ देना पड़ेगा, और हो सकता है प्रख्यात मित्र भी न रहें पर तुम्हारी आत्मा का उद्धार हो जायेगा।"

"और तुम्हारी ?" पद्म के बात करने के ढंग से उसका मिजाज बिल्कुल बिगड़ गया था।

"मेरे लिये तो केवल इतना ही उद्धार है। पर अपनी बात पूरा करने के लिये मैं भीख नहीं मांग रहा, नहीं तो तुम अपने मस्तिष्क को झूठे प्रभाव से आकर्षित करने का आरोप मुझ पर लगाओगी।" दरवाजे में हेमराज को देखकर खड़े होते हुए उसने कहा। "अच्छा अब मैं विदा लेता हूं। तुम बुलाओगी तो मैं फिर आऊंगा।" और वह दरवाजे की ओर मुड़ गया।

"ओहो मि. पद्म ! तुम अभी यहीं हो ? ड्यूटी पर नहीं गये ?" एक शंकाशील दृष्टि नीचे से ऊपर तक डालते हुए हेमराज ने मीठी आवाज में बात शुरू की।

"नहीं, मुझे अगले 'वीक' (सप्ताह) में जाना है। अच्छा साहब नमस्ते !"

हेमराज मुड़-मुड़ कर उसे एक-दो बार देखता रहा, "निरंजना बहिन ! यह लड़का बड़ी पहुंची हुई बूटी मालूम होता है । विश्वसनीय व्यक्ति नहीं है।" उसने थोड़ी देर रह कर कहा, "कौन जाने इतने-वर्ष परदेश में रहकर क्या-क्या किया होगा !" बिना बोले हुए पद्म के विरुद्ध जितना कहा जा सकता था वे सारे भाव उसकी आंख में आये और विलीन हो गये। वह पद्म की खाली की हुई कुर्सी पर बैठ गया।

निरंजना के क्षोभ की सीमा नहीं थी। पद्म के साथ बातचीत करने के उपरांत उसका मन विचित्र विचार-लहरियों में इतना अधिक घूम रहा था कि उसे इस समय किसी के साथ भी बातचीत करने की इच्छा नहीं थी। "किसलिये तुम ऐसी बात कह रहे हो ?" उसने कड़क कर पूछा।

"अरे! तुम इन लड़कों की बात जाने दो न ! विलायत जा कर ये सब क्या करते हैं, तुम्हें मालूम है ?" और उसने विलायत गये हुए लड़कों की, तदुपरांत पद्म की, और तदुपरांत गांव की छोटी-छोटी बातों की छान-बीन कर जितने परिचित निरंजना के यहां आते थे उन सब की बातें बता कर उसके ज्ञान में बड़ी भारी वृद्धि कर दी।

निरंजना के लिये इस प्रकार का अनुभव कुछ नवीन नहीं था। साधारणतया उसके साथ संपर्क में आने वाला प्रत्येक महापुरुष दूसरे को हीन सिद्ध किये बिना कदाचित् ही रहता था। प्रत्येक अपने-अपने दृष्टिकोण तथा अपने अतिरिक्त दूसरे सबों की चर्चा करते। प्रत्येक का कुछ न कुछ खोट-खपच, स्वभाव की, शक्ति की या शरीर का विकार निकाल कर अपनी संपूर्णता सिद्ध करते और उनके जैसे निष्पक्ष दृष्टिकोणों को कोई समझ नहीं सकता था, इसलिये सब की अज्ञानता पर शोक करते।

अब तक निरंजना को नवीन अनुभव के रूप में खूब मजा आता था। पर अब अंत में तो इस प्रकार की बातों का रस कम होने लगा था। और आज प्रत्येक के गुण-दोषों की चर्चा के बाद जैसे सब की माप हो चुकी हो इस प्रकार वह उस से ऊबने लगी थी। आज उस का सब से मिलने का दिन था और बारी-बारी से अलग-अलग तरह से सब की एक ही एक

बात सुनते हुए अंत में तो उसके जी पर ही आ बनी थी। विधाता ने भी जैसे उसे थकाने का ही निश्चय कर लिया हो इस प्रकार आज उसके यहां आये हुए समस्त बुद्धिशाली परस्पर प्रशंसा अथवा निंदा करने के उद्देश से ही इकट्ठे हुए लग रहे थे। बिल्कुल सन्ध्या हो जाने पर सब अपने-अपने घर गये और तब तक वह इस दुख को सहन करती रही।

बस्ती की सार्वजनिक 'एन्ड्रूज लायब्रेरी' सूरत शहर में संध्या के समय समस्त बुद्धिशालियों के मिलने का स्थान है। वहां बहुत प्रकार के लोग आते हैं। बुद्धिशाली अपनी बुद्धि का भंडार खाली करने के लिये, बुद्धिहीन वहां से थोड़े-बहुत बुद्धि के अभाव की पूर्ति करने के लिये, व्यापारी व्यापार के समाचार जानने के लिये और निठल्ले गप्पें मारने के लिये तथा सुनने के लिये वहां इकट्ठे होते हैं। सब वहां एक दूसरे का मुख देखकर प्रसन्न होते हैं और सब को एक दूसरे के कारण, जाने अनजाने, कुछ लाभ हो रहा हो ऐसा लगता है।

आज लायब्रेरी में बहुतसे लोग इकट्ठे हुए थे। सब के मुख पर इस प्रकार की आतुरता और चिंता दिखाई दे रही थी कि जैसे कोई असाधारण बात हो गई हो अथवा होने वाली हो। सब किसी एक ही बात के विषय में सोच रहे थे, पर जैसे कुछ संशय हो और बात करें या न करें, इस प्रकार ढुल-मुल हो रहे थे।

जैसे रास्ते में से दौड़ता-दौड़ता चला आ रहा हो इस प्रकार हांफते-हांफते एक आदमी जल्दी-जल्दी अंदर आया। चबूतरे पर श्वांस लेने के लिये भी न रुक कर और किसी की ओर भी देखे बिना संपूर्ण लायब्रेरी को जैसे संबोधित कर रहा हो, इस प्रकार उसने कहा "बात सच है। डुमस में नवरोजी के बंगले में संस्कार हो गया।"

जैसे एक बाम्ब गिर पड़ा हो इस प्रकार सब चौंके। नाम गांव कुछ भी लिये बिना जैसे वे ठीक-ठीक समझ गये हों इस प्रकार सब एक दूसरे की ओर देखने लगे। और थोड़ी देर में जैसे नींद में से जाग गए हों इस प्रकार

सब एक दूसरेसे बातें करने लगे !

इस समूह में निरंजना के यहां इकट्ठे होनेवाला समूह भी था । सहस्रमुखने चंद्रमुख की ओर देख कर कहा "बड़ी जबरदस्त निकली ! हम इतने दिनों से उसके यहां जाते थे पर हमको तो कुछ भी पता नहीं लगा । ऐसी अच्छी और भली दीखने वाली स्त्री ऐसा कर लेगी यह तो स्वप्न में भी आशा नहीं थी ।"

"स्त्री-चरित्र का किसीने पार पाया है ? यह तो इन्द्रवर्ण के फल जैसी बात है । मुझे तो पहले ही से इस पर कभी विश्वास नहीं हुआ । ऐसी स्वच्छंद स्त्री भला कभी सीधी तरह रह सकती है ? मनु महाराज ने ठीक ही कहा है कि 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति', क्यों शास्त्रीजी ? हमारा आर्यावर्त ऐसे शास्त्र-वचनों पर ही श्रद्धा न रखनेके कारण धर्म-भ्रष्ट हो गया है, यह बात तुम्हें नहीं लगती ?"

शास्त्रीजी की आंख में अत्यन्त दुख के चिह्न थे । इनके गले में से आर्त-स्वर निकला, "सचमुच, कलियुग ही आ गया है, नहीं तो ऐसे उच्च-कुल की वैभवशाली प्रतिष्ठित स्त्री ऐसी चमार-भंगियों जैसी बात करती ! अरे प्रभु ! इस हमारी दुनिया का क्या होनेवाला है ?"

"पर इसमें उसने क्या बुरा किया ? तुम सब तो चिता में जाते जाते सात बार विवाह करो और स्त्री के मरने से पहले टीका करने के अधिकार में तथा एक स्त्री फिर विवाह कर ले तो तुम्हें उसमें क्या बुराई दिखाई देती है ।" अखबार में से मुंह ऊपर उठाते हुए कैलाशनाथ नें कहा ।

"अरे मिस्टर ! That is not the point (यह बात नहीं ।)" पंकज मजाक से चमकती हुई आंखों पर गंभीरता का पर्दा डाल कर बोला, "स्त्री और पुरुष की समानता ऐसी बातों में नहीं हो सकती । मान लो उसने ठीक भी किया, पर सूरत शहर में और भी बहुत से थे । उसके मंडल के भी हम कितने आदमी थे ? उदाहरण के रूप में, व्रिजमोहन सेठ या महाकवि और या मैं ।"

जैसे चौंक पड़ा हो इस प्रकार महाकवि एक छलांग मार कर अपनी

कुरसी पर से कूद पड़ा, "पंकज ! तुमने—तूने मेरा नाम लिया ? मुंह संभाल कर बोल। ऐसी अधम, हलकी और नीच स्त्री के साथ मेरा नाम जोड़ते हुए तुम्हें शरम नहीं आती ? आर्य-संस्कृति को कुचल डालने वाली, पवित्र आदर्शों को भ्रष्ट कर देने वाली ऐसी कुलटा..."शब्द न मिलने से एक पल वह रुका। जैसे सिर में खून चढ़ गया हो इस प्रकार उसकी आंखें लाल-हो गईं।

"अर र र ! मुझे पता नहीं था कि तुम्हें इतना बुरा लग जायेगा।" पंकज की मजाक करती हुई आवाज सुनाई दी, "बर्फ मंगाऊं ? नहीं तो सिर पर थोड़ा सा ठंडा पानी डाल लो, ठीक हो जायेगा।"

"तू...चोर कहीं के !" महाकवि का झगड़ैला स्वर फूट पड़ा, "तू मुझे जानता है मैं कौन हूं ? अभी इसी समय अपने शब्द वापिस ले ले नहीं तो··· नहीं तो।" इसके नथुने और फूल गये, और उसके श्वांस की धौंकनी धमाधम चलने लगी।

"बेचारे को बहुत बुरा लग गया मालूम होता है।" पंकज ने तरस खाते हुए पीठ फेर ली। "जब-जब ऐसा होता है तब-तब बेचारे की यही दशा होती है। उस सरस्वती के समय भी याद है न ?" उसने श्रोताओं की ओर उद्देशपूर्वक गर्दन हिलायी, और पीछे गाली देते हुए महाकवि की पर्वाह न कर सीढ़ियां उतर कर भाड़े की गाड़ी तै की और चल दिया। जैसे पागल हो गया हो इस प्रकार महाकवि और जोर से चिल्लाया पर उसकी वह दशा देख कर दो आदमियों ने उसे कस कर पकड़ लिया। हेमराज की सांत्वना देती हुई आवाज उसे ठंडा करने का प्रयत्न करने लगी।

"मैं तुम्हारे साथ बिल्कुल सहमत हूं। मुझे इस स्त्री पर पहले से ही वहम था। उसने हमको तो क्या, सारे शहर को इस प्रकार ठग लिया है। हमारे साथ मीठी-मीठी बातें की। निर्दोषिता का आडम्बर किया और वह भी अन्त में ऐसा कुटिल कार्य करने के लिये। मुझे तो लगता है कि मूल रूप से ही यह ऐसी मलिन होगी।"

"पर तुम—हेमराज, पुनर्लग्न में तो तुम्हारा विश्वास है न ?" कैलाशनाथ

से बोले बिना नहीं रहा गया।

जैसे जला कर भस्म किये डाल रहा हो, ऐसी एक दृष्टि हेमराज ने उसकी ओर फेंकी, "वह तुम्हें कह कर बताने की जरूरत नहीं। मैं मानता हूं यह बात सही है पर ऐसी ठगिनी स्त्रियों के लिये नहीं।"

"बेचारे ब्रिजमोहन सेठ का विधवा-विवाह-मंडली का प्रमुख होना भी बेकार चला गया।" सहस्रमुख ने फुलझड़ी छोड़ी।

"और वह चोर प्रवीणचन्द्र! वह तो वहां से रात दिन हिलता ही न था। This serves him right." चन्द्रमोहन ने कहा।

अब निरंजना का नाम जैसे चाहे जिसके साथ और चाहे जिस तरह जोड़ने की स्वतन्त्रता हो इस प्रकार इन सभ्य-सुसंस्कृत लोगों की मंडली में नये-नये नाम खोजे जाने लगे।

धीरे-धीरे जैसे कोई अभूतपूर्व बात हो गई हो, इस प्रकार लायब्रेरी में लोग बढ़ने लगे। उसमें निरंजना के आतिथ्य से परिचित तथा उसे प्राप्त करने में असफल, ऐसे दोनों प्रकार के लोग थे। बूढ़े और जवान, विद्यार्थी और नागरिक, विद्वान और मूर्ख सभी वहां पर उपस्थित थे। उनमें बहुत से जानने के लिये, बहुत से जानी हुई बात कहने के लिये और बहुत से तमाशा ही देखने को मिलेगा, यह सोच कर आये थे।

बड़ी-बड़ी मूंछों तथा मूंछों से मिले हुए गाल पर उगाये हुए बड़े-बड़े बालों के गुच्छों में जड़े हुए मुख को भरावदार दिखाने वाले एक वृद्ध सज्जन आगे आये। भाषण देने के ऐसे अचानक मिले हुए अवसर का लाभ उठाने के लिये वे एक छलांग मार कर कुरसी पर चढ़ गये, और घपला करने वाले लोगों को जैसे अपनी बुलंद आवाज से बस में कर रहे हों, इस प्रकार जोर से चिल्ला कर प्रत्येक शब्द को अलग-अलग करते हुए बोले।

"सज्जनो!"

अभी घपलेबाजी चल ही रही थी। इसलिये लगभग गला फट ही पड़े इतने जोर से चिल्ला करके फिर बोले, "सज्जनों!"

सब का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ और वे क्या कहने वाले थे

यह सुनने की कुतुहल-वृत्ति के कारण सब शांत पड़ने लगे।

"तुम्हें पता है कि हम सब इस समय क्यों इकट्ठे हुए हैं ? हमारे शहर में आज एक महा-अनाचार हो गया है। एक जल्दबाज और धांधलेबाज सरकारी अफसर हमारे शहर की नाक ले बैठा। इस प्रकार कदम उठाने का प्रभाव हमारी स्त्रियों पर बड़ा बुरा पड़ेगा। हमारी स्त्रियों का सतीत्व आज से अब भरे बाजार बिका करेगा। पति मन-पसन्द नहीं होगा तो अब स्त्रियां उसे मार डालना भी सीख जायेंगी, और अपने मन-पसन्द लोगों के साथ पुनर्लग्न के नाम पर अनाचार होने लगेंगे।"

"पर मिस्टर! जब तुम्हारी स्त्री मर गई थी तब तुम ने विधवा से विवाह करने का विज्ञापन जो छपवाया था उसका क्या?" कोई धूर्त बीच में बोल उठा।

यह बात सुनकर भाषण-कर्ता की भंवें चढ़ गईं, उसकी आंखें फटी-फटी-सी हो गईं।

"ऐसी बात कहने वाले दोजखी कुत्तों की जिह्वा निंदक है।"

"क्या मुझे दोजखी कुत्ता कहा?" उस बोलने वाले ने बांह चढ़ा ली।

"अरे जाने दो न। चिढ़ा हुआ है, देखते नहीं!" दूसरे एक आदमी ने उसे रोका।

इन शब्दों से भाषण-कार और भी चिढ़ गया और कुरसी पर से कूद कर बोलने वाले की ओर धंस पड़ा। पर गुस्से की गरमी के कारण या पता नहीं किस कारण से उसके अस्थिर पैरों ने उसे ठीक प्रकार से संभाला नहीं और जैसे आंखों में अंधेरा आ गया हो इस प्रकार वहीं का वहीं बैठ गया।

"पर निर्बल रामभाई! पिछले सप्ताह तो तुम वनिता-विश्राम के सम्मेलन में प्रमुख-पद से निरंजना बहिन की बड़ी प्रशंसा कर रहे थे, और बातों से तुमने उनके गाढ़े संपर्क में आने की बड़ी आतुरता भी प्रदर्शित की थी। कोई समझे कि जैसे तुम्हें जीवन में इनसे परिचय प्राप्त करने का ही एक काम बाकी रह गया है!" कैलाशनाथ ने अवरुद्ध स्वरों में बैठे हुए भाषण-कार की ओर टेढ़ा मुड़ते हुए कहा।

पर भाषण-कार को जवाब देने की होश ही नहीं थी। उसके क्रोध ने

उसके होश-हवाश सब बिगाड़ डाले थे।

इस छोटी-सी घटना के कारण लोगों का मन दूसरी ओर मुड़ गया। लायब्रेरी के चपरासी ने एक घड़े में से ठंडा पानी लाकर दिया और वह कैलाशनाथ ने निर्बल राम के माथे पर छिड़का। धीरे-धीरे लोग भी नई जानने योग्य कोई बात नहीं यह समझ कर अपने-अपने घर जाने लगे।

प्रभु की लीला का पार कौन पा सका है ? अच्छे के लिये ही बुरा होता है, और अंधकार में से ही प्रकाश का जन्म होता है, ये कहावतें हो सकता है कोई भूल जाये।

उपर्युक्त घटना के कारण सूरत शहर में बहुत से व्यक्तियों की आत्मा का उद्धार हो गया। नवीन संस्कृति के मोह में फसे हुए बहुत से अभागों की आंखों का अंधकार दूर हो गया और नये आने वाले पश्चिम के पवन के विरुद्ध सब ने अपने खिड़की-दरवाज़े बंद कर लिये।

और विशेष रूप से अधिक लाभ तो इन बुद्धिशालियों की मंडली का हुआ।

महाकवि अनिल आर्य-संस्कृति के पैगंबर बन कर, देश-देश घूम कर अधम जनों का तिरस्कार करने वाली गालियों से अब अपनी आत्मा की पुनीतावस्था को और अधिक उज्ज्वल करने वाली कवितायें गाने लगा।

उपन्यासकार पंकज तब से भूतकाल में से खोद-खोद कर खोज निकाली हुई आर्य संस्कृति की प्राण-रूप वार्ताओं का अपूर्व लेखक बना।

नाट्यकार हेमराज पाश्चात्य संस्कृति की अपने में आयी हुई मलिनता को धोकर उसकी रज से आंखें मींच कर रंगभूमि की प्राचीन महत्ता का पुनर्विधान करने लगा।

वक्ता शिरोमणि चन्द्रमोहन अपने वक्तृत्व से अग्नि सदृश जाज्वल्यमान-वाणी में आर्य-धन को दूषित करने वाले कुटिल जनों से सावधान रहने की उद्घोषणा करने लगा।

विवेचक सहस्रमुख निष्पक्ष दृष्टि से आर्यत्व के उद्धार के विषय में

प्रवचन देने लगे।

करोड़पति ब्रिजमोहन विधवा-विवाह की लालसा में फंस गये थे, प्रभु ने वक्त सिर उनका इस पतितोन्मुख मार्ग से उद्धार कर दिया, और एक दस वर्ष की कुलीन कन्या के साथ आर्य-धर्मानुसार 'विधिपुर सर लग्न' को पुण्यग्रंथि से जुड़ गये और इस प्रकार इस लोक तथा परलोक को बिगाड़ने वाले महापातक से बच गये।

उद्योग पारंगत प्रवीणचन्द्र ने सौराष्ट्र की किसी स्वच्छन्द कन्या के साथ विवाह कर सुप्रजनन शास्त्र का सरस उदाहरण इस निर्बल और कंगाल लोगों के देश में उपस्थित करने का महापुण्य उपार्जन किया।

आचार्य अवनीन्द्रनाथ ने सरस इतिहास लिखा।

कैलाशनाथ की देश-भक्ति और भी अधिक तीव्र बन गई।

और तदुपरांत कितने ही पत्र आर्य-संस्कृति के उद्घोष से गरज उठे और नये ग्राहक प्राप्त करने में सफल हुए। प्राचीन-मतवादी नींद में से जागकर नवीन प्रकृति को अपनाने लगे; नवीन-मतवादी अपनी प्रगति का विचार करने लगे। उदीयमान लेखकों को लिखना आ गया, प्राचीन लेखकों के खाली मस्तिष्क को नई खुराक मिल गई, कवितायें रची गईं, तुकों की नई बाढ़ आ गई और इस प्रकार सर्वत्र आर्य-संस्कृति की जय-जय-कार होने लगी।

प्रभु! तेरी गति गहन है। थोड़ी-सी निराशा दे कर तू छोटी-सी घटना में से कितने शुभ परिणामों को जन्म देता है और कितने महान् व्यक्तित्वों का सृजन करता है!